साहित्यस्रष्टा श्री विद्याधर शास्त्री

डॉ० परमानन्द सारस्वत

गनु प्रकाशन, बीकानेर

साहित्यस्रष्टा श्री विद्याधर शास्त्री

श्री विद्याधर शास्त्री की कृतियों का आलोचनात्मक अध्ययन-शोध प्रबंध से समन्वित

प्राक्कथन :
डॉ० सत्यव्रत शास्त्री
कुलपति
श्री जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय
पुरी (उड़ीसा)

भूमिका :
डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा
भूतपूर्व निदेशक
राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर (राजस्थान)

लेखक :
डॉ० परमानन्द सारस्वत

साहित्यस्रष्टा श्री विद्याधर शास्त्री

(राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर द्वारा पीएच. डी. की उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबंध)

प्रकाशक . मनु प्रकाशन
V-D/211, व्यास नगर, बीकानेर
प्रथम संस्करण 1984
मूल्य 100/- (सौ रुपये)
आवरण शान्तिचन्द्र
मुद्रक भावना प्रिंटर्स, बीकानेर
वितरक . चयन प्रकाशन, हनुमान हत्था, बीकानेर
SAHITYASRASTA
SRI VIDHYADHAR SHASTRI
(Shodh Prabhandh)
by Dr. Parmanand Sarswat
Price : Rs 100/-

इदं न मम
इदं स्वर्गीय गुरूवर्य
श्री विद्याधराय.........

प्राक्कथन

डॉ. परमानन्द सारस्वत विरचित 'साहित्यस्रष्टा श्री विद्याधर शास्त्री' शीर्षक ग्रन्थ का परिचय विद्वत्समाज को देते समय मुझे आनन्द का अनुभव हो रहा है। सहस्राब्दियों पूर्व संस्कृत वाङ्मय की जो भागीरथी प्रवाहित हुई थी वह सौभाग्यवश आज बहती चली आ रही है। सैंकड़ों कवियों और मनीषियों ने इसे समृद्ध किया है। उन्हीं में से एक पण्डित विद्याधर शास्त्री जी भी है।

शोध की दिशा में प्राचीन संस्कृत वाङ्मय पर जितना काम हुआ है उतना अर्वाचीन पर नहीं। स्वयं संस्कृतज्ञों में इस बारे में अपेक्षित जानकारी का अभाव है। कुछेक में तो इसके प्रति विशेष उदासीनता है कदाचित् इसका कारण उनकी यह धारणा है कि जो गरिमा प्राचीन में है वह नवीन में कहां ? कालिदास ने सम्भवतः इसी वर्ग को परिलक्षित कर कहा होगा—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरत् भजन्ते
मूढः पर प्रत्ययनेय बुद्धिः॥

पुराना है इतने मात्र से ही सब कुछ अच्छा नहीं हो जाता। काव्य नया होने से दोषमुक्त नहीं हो जाता। विद्वान लोग जांच कर पुराने एवं नये में से किसी एक को अपना लेते हैं। मूढ़ व्यक्ति की बुद्धि दूसरे के कहने पर चलती है।

इससे पहले कि अभिनव संस्कृत वाङ्मय की महत्ता को नकारा जाय इसकी परीक्षा, जांच आवश्यक है। प्रतिभा किसी काल-विशेष का गुण

नहीं होती। प्रतिभाशाली पहले भी रहे हैं, अब भी हैं, और भविष्य में भी रहेंगे। कवित्व शक्ति ईश्वरीय देन है एवं देश और काल की परिधि के बाहर है।

श्री विद्याधर शास्त्री उन्हीं प्रतिभाशालियों में से एक हैं। संस्कृत साहित्य को उनकी देन अपूर्व है। अपनी कृतियों में उन्होंने सुर सरस्वती के भण्डार को भरा है। उनकी कविता में एक आकर्षण है जो पाठक को बरबस अपनी ओर खींच लेता है। उनकी वाणी में एक सहज प्रवाह है, गंगा के तरंगों का सङ्गीत है, वह सङ्गीत है जिसकी उन्होंने अपनी एक कृति में चर्चा भी की है—

गङ्गातरङ्गसङ्गीते वेद ध्वनि निनादिते
पुण्ये कनखले भव्ये भव्ये गुरुकुले मया ॥

निम्न श्लोक में भाषा का प्रवाह देखते ही बनता है—

स्थापयन् श्रौतसिद्धान्तं पन्थानं दर्शयन् सताम् ।
चूर्णयन् कैतवीं नीतिं भ्रान्तिमुत्सारयन् नृणाम् ॥

रस, भाव, अलङ्कार, गुण, रीति आदि की योजना में भी शास्त्रीजी का कौशल अद्वितीय है। उन्होंने दो चार ग्रन्थ ही नहीं लिखे हैं, पूरा एक वाङ्मय का वाङ्मय रच डाला है। अनेक विधाओं में उनकी लेखनी चली है। उनके बहुमुखी व्यक्तित्व और कृतित्व का आलोचनात्मक सर्वेक्षण अपेक्षित था। डॉ० परमानन्द सारस्वत ने अपने बहुमूल्य शोध-ग्रन्थ द्वारा उस अपेक्षा को पूर्ण किया है। गहन परिश्रम से उन्होंने शोध ग्रन्थ लिखा है। उनका वैदुष्य इसमें पदे पदे परिलक्षित होता है। आधुनिक युग के एक महान् साहित्यस्रष्टा के समस्त वाङ्मय की सर्वाङ्गीण समालोचना कर उन्होंने जो श्रेष्ठ काम किया है उसके लिये संस्कृत जगत् चिरकाल तक उनका ऋणी रहेगा।

रक्षाबन्धन
दिनाङ्क ११-८-८४

सत्यव्रत शास्त्री
कुलपति
श्री जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय
पुरी (उड़ीसा)

भूमिका

संस्कृत भाषा की यह विशेषता रही है कि इसमें आरम्भ से अब तक साहित्य रचना होती रही है। इस भाषा को अमरवाणी की जो संज्ञा दी गई है उसमें यह भी एक कारण है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से जब संस्कृत लोक व्यवहार की भाषा थी तब तो इसमें साहित्य रचना होती ही थी। इसके बाद जब पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि संस्कृत प्रसूत भाषाओं का लोक-भाषा के रूप में प्रचलन हो गया और उनमें साहित्य-रचना होने लगी तब भी संस्कृत मे साहित्य रचना साथ-साथ चलती रही। इसके मुख्यतः दो कारण कहे जा सकते है, प्रथम तो यह कि संस्कृत विश्व की अत्यन्त समृद्ध भाषा है तथा द्वितीय यह कि पाणिनि मुनि ने अपने व्याकरण के द्वारा इसे एक वैज्ञानिक एवं व्यवस्थित रूप दे दिया। इसके अतिरिक्त यह भी कारण हो सकता है कि भारतीय संस्कृति की जितनी सफल और सुन्दर अभिव्यक्ति संस्कृत मे हुई है उतनी अन्य भाषाओं में नही। अतः सांस्कृतिक प्रवाह को अक्षुण्ण रखने तथा अपने स्वरूप की रक्षा के लिये बार-बार इसकी ओर देखना पड़ना है। इसके अतिरिक्त कालक्रम से संस्कृत से जिन भाषाओं का विकास हुआ उनमे संस्कृत के तत्सम शब्द तो हैं ही, अन्य शब्दो के निर्माण के लिए भी उन्हें संस्कृत के समृद्ध साहित्य और इसके शब्दनिर्माणोपयोगी व्याकरण की ओर देखना पड़ता है। इससे संस्कृत की स्थिति बनी रहती है। कारण वस्तुतः कुछ ही हो, यह एक तथ्य है कि एक दीर्घकालीन परम्परा का निर्वाह करते हुए आज भी संस्कृत मे साहित्य रचना हो रही है।

संस्कृत में जो साहित्यरचना हुई है उसे मोटे रूप से हम दो भागों में बांट सकते हैं शास्त्र और काव्य। यद्यपि साहित्य शास्त्र में काव्य और साहित्य पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त हुए है परन्तु यहां हमने साहित्य का

प्रयोग उसके व्यापक अर्थ मे किया है तथा इसी दृष्टि से इसके उपर्युक्त भेदो का उल्लेख किया है ।

शास्त्र तथा काव्य दोनों में दृष्टिपक्ष होता है, परन्तु काव्य मे दृष्टि-पक्ष के अतिरिक्त सृष्टि पक्ष भी होता है । यह सृष्टि पक्ष काव्य में वर्णन के रूप मे होता है । यह बात नही कि शास्त्र में वर्णन न हो और केवल काव्य मे ही वह हो अपितु इसका तात्पर्य यह है कि काव्य में दृष्टिरूप वर्ण्य के साथ सृष्टिरूप वर्णन की स्फुट प्रतीति होती है । शास्त्र मे ऐसी बात नही । वहा प्रधानता दृष्टि अथवा वर्ण्य विषय की है । इसीलिए सृष्टि पक्ष अथवा वर्णन काव्य का शास्त्र से विभेदक कहा गया है । कवि का दृष्टि पक्ष अनुभूति के रूप मे होता है तथा सृष्टिपक्ष अभिव्यक्ति के रूप मे । पाठक अथवा सहृदय की दृष्टि से हम इन दो पक्षों को अर्थतत्त्व तथा शब्दतत्त्व कह सकते हैं । अर्थतत्त्व मे विचारपक्ष तथा भाव पक्ष आ जाते है तथा शब्द पक्ष में कला आता है । काव्य मे ये दोनों पक्ष सामान्यतः तुल्यबल होते हैं । यहा हम अपने विवेचन के लिए प्रमुखतः काव्य रचना को लेते हैं ।

काव्य के प्रमुखतः दो भेद हैं-दृश्य तथा श्रव्य । दृष्टि पक्ष और सृष्टि पक्ष के माध्यम से लोक सत्य का सूक्ष्म चित्रण दोनो में समान रूप से होता है । परन्तु इस चित्रण मे सजीवता और मूर्तिमत्ता अधिक लाने के लिये दृश्य काव्य मे अभिनय का आश्रय भी लिया जाता है । श्रव्य काव्य में जिस लोक सत्य का चित्रण किया जाता है उसके भेद के आधार पर श्रव्य काव्य के पुन. भेद सम्भव है । लोक सत्य के चित्रण मे जहां जीवन की समग्रता हो वहा महाकाव्य होता है तथा जहा उस चित्रण में जीवन का एक पक्ष हो वहां खण्ड काव्य होता है । लोक सत्य के वर्णन मे जहा अन्विति अथवा क्रम का अभाव हो वहा मुक्तक काव्य आदि होते है ।

सस्कृत में इन समग्र विधाओ मे काव्य रचना के दर्शन होते है । इस काव्य रचना की अविरल धारा मे कालक्रम से अर्थतत्त्व और शब्दतत्त्व की तुल्यबलता से शब्दतत्त्व की ओर विशेष प्रवृत्ति का क्रम दिखाई देता है । इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि आरम्भ मे सस्कृत काव्य मे सुकुमार मार्ग का प्रयोग हुआ । परन्तु शनैः शनैः अलंकृत शैली की प्रवृत्ति बढती गई । रामायण और महाभारत मे यद्यपि भाषा का परिष्कार विशेषतः दिखाई देता है तथापि उसके साथ-साथ अर्थ तत्व का भी उतना

ही ध्यान रखा गया है और यह बात 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' कहकर कालिदास ने स्वयं स्पष्ट कर दी है। भारवि, माघ आदि में अलंकृत शैली का आरम्भ माना जाता है। परन्तु इन कवियों ने अर्थतत्व की उपेक्षा की हो ऐसी बात नहीं। भारवि तो अपने अर्थगौरव के लिए प्रसिद्ध है ही, माघ भी 'माघेसन्ति त्रयो गुणा.'' उक्ति के द्वारा समस्त काव्योपयोगी तत्वों को अपनी एकमात्र कृति शिशुपालवध में संजोए हुए है। यद्यपि आधुनिक समीक्षक 'नवसर्गगते माघे नव शब्दो न विद्यते' के द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि माघ की शैली पाण्डित्यपूर्ण है तथा इसी पाण्डित्य के प्रदर्शन की दृष्टि से उन्होंने संस्कृत के विशाल एवं कठिन शब्दाभण्डार के प्रयोग का प्रयत्न किया है, परन्तु यहा यह ध्यातव्य है कि उनके शब्द प्रयोग पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए नहीं अपितु सार्थक हैं। यदि शब्द विशेष के स्थान पर उसके तथा कथित पर्याय के रूप में सरल शब्द रख दिया जाये तो अर्थ की हानि हो जाती है। उदाहरणात' 'विपक्षमखिलीकृत्य प्रतिष्ठा खलु दुर्लभा। अनीत्वा पङ्कतां धूलिमुदक नावतिष्ठते' में प्रतिष्ठा शब्द केवल सम्मान का ही द्योतक नहीं है अपितु स्था धातु में 'प्र' उपसर्ग के योग से निष्पन्न होने के कारण इस बात का भी द्योतक है कि द्वितीय पंक्ति में प्रयुक्त अवतिष्ठते शब्द से इसका साम्य और उत्कर्ष भी है। यह ठीक है कि व्याकरण पर माघ का असाधारण अधिकार था, परन्तु उसका प्रयोग उसके द्वारा सामान्यतः अर्थ में वैशिष्ट्य लाने के लिये ही हुआ है। हा, यह हम मान सकते हैं कि इस काल में अलंकृत शैली का आरम्भ हो गया था और माघ ने भी यत्र तत्र उसका प्रयोग किया है। कालान्तर में इस शैली में अतिरेक आने पर शब्दतत्त्व का प्राधान्य हो गया और अर्थतत्त्व की प्रायः उपेक्षा होने लगी। इसके परिणामस्वरूप श्लिष्ट काव्यों की रचना हुई।

संस्कृत में काव्यनिर्माण की यह परम्परा मुस्लिम काल में भी चलती रही। पाश्चात्य जगत् से सम्पर्क में आने के बाद तथा पुनर्जागरण के आन्दोलन के बाद संस्कृत काव्यरचना ने नया मोड़ ले लिया। इसी समय से हम आधुनिक काल का सूत्रपात मान सकते हैं। आधुनिक समय विश्व के लिए विज्ञान और भौतिकता का युग है तथा भारत के लिए वह इसके अतिरिक्त दो संस्कृतियों के संगम का भी युग है। विज्ञान के फलस्वरूप तर्कबुद्धि का उदय होता है। इससे आस्थाओं का उन्मूलन होता है तथा भावशक्ति का ह्रास होता है। साहित्य पर इसका प्रभाव पड़ना

स्वाभाविक है। अतः आधुनिक साहित्य मे बौद्धिकता और तज्जन्य समस्या प्रधानता का स्वर प्रबल हुआ। कला पक्ष की दृष्टि से इस समय क्लिष्टता और आलंकारिता से सरलता की ओर प्रवृत्ति हुई। भारत में आधुनिक संस्कृत साहित्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा और फलतः संस्कृत काव्य रचना में दो प्रकार की प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर हुई-प्राचीनता के व्यामोह से युक्त प्रवृत्ति तथा समन्वयवादी एवं उदार प्रवृत्ति। महाकवि श्री विद्याधर इसी काल मे हुए। इनके अतिरिक्त मेधाव्रताचार्य, अखिलानंद शर्मा, हरीद्विज, मथुरानाथ भट्ट, डा० सत्यव्रत, डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी आदि अनेक कवि इसी काल मे आते है। श्री विद्याधर शास्त्री इस काल के प्रमुख कवि कहे जा सकते हैं।

महाकवि श्री विद्याधर शास्त्री की प्रमुख विशेषता यह है कि ये बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न है तथा उन्होंने काव्य की प्रायः सभी विधाओं पर लेखनी परिचालित करके सर्वत्र सफलता प्राप्त की है। महाकाव्यो के क्षेत्र मे इन्होने हरनामामृतम् तथा विश्वमानवीयम् की, खण्ड काव्यों मे विक्रमाभिनन्दनम्, वैचित्र्यलहरी, मत्तलहरी, आनन्द मन्दाकिनी, हिमाद्रिमाहात्म्यम्, अलिदुर्गदर्शनम्, शाकुन्तलविज्ञानम् की, स्तवन तथा नीतिकाव्यो के क्षेत्र मे पुष्पाञ्जलि, लीलालहरी तथा विद्याधर नीतिरत्नम् की, तथा चम्पू के क्षेत्र मे विक्रमाभ्युदयम् की रचना की। इसके अतिरिक्त शास्त्रीय साहित्य के अन्तर्गत श्री शास्त्रीजी ने नवभारत स्मृति एवं सूत्र साहित्य की रचना की। श्री शास्त्रीजी की गद्य रचनाएं भी उल्लेखनीय है।

श्री शास्त्रीजी की यह विशेषता है कि उनकी रचनाओं का दृष्टि पक्ष अत्यन्त सबल है। श्री शास्त्री जी कवि के साथ दार्शनिक भी हैं। अतः इनके काव्यो मे विचारो का गाम्भीर्य, उनकी बहुविधता, समस्याओ की प्रस्तुति एव उनका समाधान देखने को मिलेगा। यह आधुनिक युग के सर्वथा अनुरूप हुआ है। इससे इनके काव्यों द्वारा युगबोध के साथ युगदिशा का निर्धारण भी होता है। युग एवं जीवन को मूर्त रूप देते समय श्री शास्त्री जी ने उदार एवं समन्वयवादी विचारधारा अपनाई है। इनकी रचनाओं मे न तो प्राचीनता के प्रति अनावश्यक मोह है और न ही आधुनिकता के प्रति अनावश्यक उत्सुकता है। एक प्रकार से इन्होने प्राचीनता और नवीनता का मञ्जुल सामञ्जस्य प्रस्तुत किया है तथा भारतीय संस्कृति के सनातन मूल्यों के संरक्षण के साथ परिवर्तन के अनुरोध से नवीन मूल्यो का अभिनन्दन किया है।

श्री शास्त्री जी ने युग के अनुरूप सरल शैली को अपनाया है, जो प्रसाद गुण से युक्त एवं हृद्य है। इससे काव्य का गूढ़ तत्त्व शीघ्र अवभासित हो जाता है। प्रत्येक पद्य में और प्रत्येक वाक्य मे अर्थोत्कर्ष का अविरत प्रवाह है। इससे शब्दचयन में कवि की असाधारण शक्ति प्रकट होती है।

कुछ समय से मेरी यह प्रबल इच्छा थी कि श्री विद्याधर शास्त्री की कृतियो के समीक्षात्मक अध्ययन का कार्य कोई सुयोग्य छात्र अपने हाथ में ले जिससे शास्त्रीजी के कार्य का मूल्यांकन हो सके। सौभाग्य से श्री परमानन्द सारस्वत ने जो श्री शास्त्री जी के निकट सम्पर्क में रहे है यह कार्य मेरे निर्देशन में अपनी पी एच. डी उपाधि के लिए चुन लिया। श्री सारस्वत ने सतत परिश्रम करके अपनी समीक्षा बुद्धि का परिचय देते हुए यह कार्य सम्पन्न किया और राजस्थान विश्वविद्यालय से इसके लिये पी एच. डी. की उपाधि प्राप्त की। यह प्रसन्नता का विषय है कि श्री सारस्वत का यह शोध प्रबन्ध अब प्रकाशित होने जा रहा है।

यह शोध प्रबन्ध सप्त सोपानों में विभक्त है तथा सभी सोपानो का विवेचन युक्तियुक्त है। लेखक का कवि के जीवन और उसकी कृतियों से निकट का सम्पर्क है। अतः वह उनके स्वरूप को पाठको के सम्मुख रखने मे पूर्णतः सफल हुआ है। यह विवेचन निस्सन्देह कवि की कृतियों के रसास्वादन मे तथा उसकी जीवन दृष्टि को समझने मे परम सहायक होगा।

श्री परमानन्द सारस्वत के शोध प्रबन्ध की परीक्षकों ने बहुत प्रशंसा की है। डा. रामजी उपाध्याय इसके विषय में लिखते हैं.—

"Shri Vidyadhar Shastri is not only a poet and dramatist, but also a reputed Pandit of Dharmasastra. His poetic works, Smrti and Sutra literature have been critically analysed, assessed and evaluated by the researcher. As the researcher has scientifically shown, Shri Vidya Dhar Shastri is a real poet and his authorship makes a Sighnificant chapter in the realm of Sanskrit."

डॉ. सत्यव्रत शास्त्री इसके विषय मे लिखते है:—

"श्री शास्त्री जी आज के युग के प्रमुख संस्कृत साहित्यकारो में हैं।

न केवल कलेवर अपितु विविधता की दृष्टि से भी उनकी कृतियां अर्वाचीन संस्कृत साहित्य मे विशिष्ट स्थान रखती हैं। शोधकर्त्ता ने इनकी एक-एक कृति को पढकर हर सम्भव दृष्टि से उसकी समीक्षा की है। ऐसा करते समय उसकी प्रखर आलोचना दृष्टि पदे-पदे अवभासित होती है।

ब्रह्मानन्द शर्मा
भू पू. निदेशक
राज. प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर

□ □ □

प्रस्तुति

इस शताब्दी में संस्कृत भाषा के प्राचीन वाङ्मय की प्रायः सभी विधाओं के समीक्षात्मक अध्ययन तथा प्रकाशन की दिशा में किये गये प्रयास स्तुत्य हैं। साथ ही यह भी हर्ष का विषय है कि इसके अभिनव सृजन में साहित्य की सभी विधाओं मे पर्याप्त रचनायें हो रही है। इस नवीन रचना का वर्ण्य तथा शिल्प प्राचीन और नवीन रचना प्रकरणों से सयुक्त है। इस शताब्दी मे रचित संस्कृत साहित्य का विपुल वाङ्मय भारतीय जीवन मूल्यों को युगानुरूप परिवेश मे प्रस्तुत करते हुए अपनी भाषा के जीवन्त रूप को प्रमाणित कर रहा है। यह बहुआयामी सृजन मात्रा और गुणात्मकता दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण होने के कारण अब अपने सम्यक् मूल्यांकन की अपेक्षा रखता है।

स्व० श्री विद्याधरजी शास्त्री इस युग के मूर्धन्य संस्कृत मनीषी तथा महान् साहित्य-सर्जक थे। आपकी मनीषा प्राचीन और नवीन दोनो ही चिन्तन धाराओ से समान रूप से सम्पृक्त थी अतः आपने संस्कृत भाषा की जीवन्तता को रूपायित करने के लिये अपनी समग्र संसृति के वर्ण्य व शिल्प का अधिकांश स्वरूप अभिनव ही रखा। शास्त्रीजी ने अपने जीवन में छः दशकों से भी अधिक समय तक साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में बहुसंख्या में जो रचनायें की वे विविधता तथा गुणवत्ता दोनो ही दृष्टियों से अति मूल्यवान हैं।

आलोच्य रचनाकार के दो महाकाव्य "हरनामामृतम्" तथा "विश्वमानवीयम्" अभिनव साहित्य की विशिष्ट और प्रतिनिधि रचनायें हैं। "हरनामामृतम्" मे एक सात्विक मनीषी के जीवन-वृत्त को बड़े ही प्रभावोत्पादक ढंग से कवि ने उभारा व चित्रित किया है। नायक के जीवन की घटनाओ के माध्यम से देश की तत्कालीन सामाजिक तथा

सांस्कृतिक अवस्था की विकास-कथा का आदर्श निरूपण इस कृति में आकर्षक रूप में अंकित हुआ है। इसमें नायक के समकालीन अन्य संस्कृत मनीषियों का गौरवमय स्मरण भी अपने आप में अपूर्व है। इस प्रकार यह काव्य एक प्रकार से इस युग की सांस्कृतिक यशोगाथा है।

शास्त्रीजी का अपर महाकाव्य "विश्वमानवीयम्" काव्यशास्त्रीय परम्परा से सर्वथा विमुक्त रचना है। इस कृति को स्वयं रचनाकार ने एक स्वतन्त्र ,,चिति काव्य" मानते हुए "हृदय गीत" की संज्ञा दी है।

नवे संस्कृतसाहित्ये नवैषानुपमा विधा।
कथानेयं नवा काव्यं हृद्गीतं परं नवम्॥

इसमें न तो किसी एक नायक के जीवन का कथावृत्त है और न ही कोई अन्य कथा-प्रसंग। अपितु इस नव सर्गात्मक रचना में मानव के व्यापक स्वरूप और उसकी विधायका शक्ति का प्रबल प्रतिपादन करते हुए जीवन और जगत् की विभिन्न समस्याओं का सात्विक विवेचन किया गया है। यह "महाकाव्य" शास्त्रीजी की एक प्रौढ़-कृति है जिसकी रचना उनकी सुदीर्घ जीवन की गम्भीर अनुभूतियों की भावभूमि पर हुई है।

महाकाव्यों के समान ही आपकी आठ "लघु काव्य कृतियाँ" भी अपने मौलिक चिन्तन और शिल्प की दृष्टि से अति उत्तम है। इन काव्यों में "मत्तलहरी" "आनन्दमंदाकिनी" और "वैचित्र्यलहरी" आदि में काव्यकार की दार्शनिक विचारधारा का उन्मेष स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसी प्रकार "शाकुन्तलविज्ञानम्" में लाक्षणिक अन्योक्तियों के द्वारा दुष्यन्त और शकुन्तला के अलौकिक प्रेम को आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक आशय से रचयिता ने वर्णित किया है। स्तवन काव्यों में "लीलालहरी" आपकी बहुप्रशंसित रचना है। इस कृति में कवि की समन्वयवादी दार्शनिक दृष्टि का आदर्श रूप द्रष्टव्य है। शास्त्रीजी मूलतः अद्वैतवादी है किन्तु अपने उदार दृष्टिकोण से वे वैष्णवी भक्ति के उपासना मार्ग का भी पूर्ण सम्मान करते है तथा परम तत्व के परिज्ञान में इस मार्ग को एक श्रेष्ठ मार्ग मानते हैं। "लीलालहरी" के भक्ति विषयक विचार वैष्णवी भक्ति से पूर्णतया प्रभावित है। इसी प्रकार अद्वैतवादी शास्त्रीजी ने "ब्रह्म-सत्य जगत् मिथ्या" के स्थान पर संसार को मिथ्या न मानते हुए उसे सत्य और यथार्थ रूप में स्वीकारा हैं। किन्तु भौतिक जड़वादियों के समान

सुख सुविधाओं का भोग्य स्थान न मानकर इसे परमेश्वर प्राप्ति का माध्यम व स्थान माना है।

"विद्याधरनीतिरत्नम्" शास्त्रीजी की नीतिविषयक श्रेष्ठ रचना है। इस कृति में सरलतम संस्कृत भाषा में सत्ताईस शीर्षकों में व्यष्टि तथा समष्टि के उत्थान के लिए कवि ने अपने जीवन के अनुभवों को कसौटी पर कसकर जो चिन्तन सूत्र प्रस्तुत किये हैं वे अति मूल्यवान हैं। शास्त्रीजी द्वारा रचित तीन नाटक "पूर्णानन्दम्" "कलिदैन्यम्" तथा "दुर्बलबलम्" अभिनव संस्कृत नाट्य साहित्य की विशिष्ट रचनायें हैं। इन नाटकों के इतिवृत्त का विकास सर्वथा नये परिवेश में है। "पूर्णानन्दम्" के कथानक का आधार प्रसिद्ध भक्त पूर्णमल की लोककथा है। तथा "कलिदैन्यम्" पौराणिक वृत्त राजा परीक्षित और कलि से सम्बधित है। "दुर्बलबलम्" तिब्बत मुक्ति से संबंधित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटनाक्रम पर आधारित है।

"नवभारतस्मृति" में स्मृतिकार ने आज के भारत की समाजव्यवस्था, राज्य-व्यवस्था तथा धर्म-व्यवस्था को सु-सम्पादित करने के लिये प्राचीन स्मृतियों द्वारा निर्देशित व्यवस्था-विधानों को युगसापेक्ष रूप में प्रस्तुत किया है। इस मान्य मनीषी की सर्वाधिक प्रौढ़ रचना उनका 'सूत्र-साहित्य' है जिनमें साहित्य, दर्शन, धर्मशास्त्र, स्वास्थ्य तथा जीवन के अन्यान्य विषयों पर प्राचीन सूत्र शैली में अपने विचारों के नवनीत को प्रस्तुत किया है। ये सूत्र अपने अन्दर निहित गूढ़ चिन्तन की व्याख्या हेतु विद्वान्-भाष्यकारों की प्रतीक्षारत हैं। इस प्रकार आपकी समस्त कृतियों में भारतीय चिन्तन के शाश्वत सिद्धान्त युगानुकूल परिवेश में अंकित है।

श्रद्धेय शास्त्रीजी का सानिध्य मुझे अपने विद्यार्थी जीवन से ही मिलता रहा। इस कारण इनके व्यक्तित्व और कृतित्व के प्रति मेरी गहरी श्रद्धा और अभिरुचि प्रारम्भ से ही रही, किन्तु आपकी समस्त रचनाओं का "आलोचनात्मक अध्ययन" करने का अवसर मुझे अपनी पी० एच० डी० उपाधि के विषय के रूप में मेरे निर्देशक गुरुवर्य डॉ० ब्रह्मानन्दजी की आज्ञा से प्राप्त हुआ। मुझे इसका गर्व है कि इस अभिनव साहित्यसर्जक की रचनाओं का आकलन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अपनी अल्प-आलोचन-क्षमता की सीमा में जो कुछ भी आलोचित कर सका वह प्रस्तुत है। यह कृति शास्त्रीजी के जीवनकाल में ही प्रकाशित करने के लिए मैं प्रयत्नशील रहा किन्तु परिस्थितिवश यह सम्भव न हो पाया अब उनकी

दिवंगत स्थिति में इसका प्रकाशन हो रहा है। अतः उनकी कुछ अन्य अप्रकाशित कृतियों का आलोचन तथा व्यक्तित्व विषयक विवरणों सहित अपने शोध प्रबन्ध को "साहित्यस्रष्टा श्री विद्याधर शास्त्री" इस व्यापक नाम से उनकी पावन-स्मृति में प्रस्तावित कर रहा हूं।

इस सारस्वत अनुष्ठान के समापन पर सर्वप्रथम आदरणीय गुरुवर्य डॉ० ब्रह्मानन्द जी के प्रति अपनी अपार श्रद्धा-भावना अर्पित करता हूं जिनके निर्देशन में पहले शोध प्रबन्ध लिखा गया तत्पश्चात् आपने वैदुष्य-पूर्ण भूमिका लिखकर इस ग्रन्थ का गौरववर्द्धन किया। इसी प्रकार परम श्रद्धेय डॉ० सत्यव्रतजी शास्त्री के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं जिन्होंने अपने व्यस्ततम समय में भी इसका प्राक्कथन लिखकर मुझे उपकृत किया।

इस पुनीत कार्य में सतत प्रेरणा और मार्गदर्शन डॉ० मनोहरजी शर्मा, शास्त्रीजी के प्रमुख शिष्य गुरुवर्य डॉ० पुष्करदत्तजी शर्मा तथा श्रद्धेय कात्यायनीदत्तजी शाण्डिल्य से निरन्तर प्राप्त होता रहा एवं अन्य अपेक्षित सहयोग श्री सुबोधकुमारजी अग्रवाल, डॉ० दिवाकरजी, डॉ० शिवजी जोशी तथा गोपालदासजी शर्मा से प्राप्त हुआ एतदर्थ सभी के प्रति मेरा श्रद्धायुक्त नमन तथा विनय भाव समर्पित हैं।

ग्रन्थ के मुद्रण हेतु वित्तीय सहायता के रूप में चार हजार रुपयों की धनराशि राजमाता बाघेला तथा रायसिंह ट्रस्ट, बीकानेर से तथा एक हजार रुपये डॉ० गिरिजाशंकरजी से प्राप्त हुई एतदर्थ इनका आभारी हूं।

मेरे ज्येष्ठ पुत्र चि० योगेश सारस्वत ने ग्रंथ की प्रेस कॉपी तैयार की, सांखला प्रेस के मालिक श्री दीपचंद ने इसका कम समय में सुन्दर मुद्रण तथा गनु प्रकाशन के श्री विवेक ने प्रकाशन व्यवस्था अतः सभी को आशीर्वाद। साथ ही आकर्षक-आवरण के लिए भाई श्री क्रान्तिजी के प्रति भी आभार प्रकट करता हूं। मैं राजकीय सेवा-सीमा की विवशता के कारण प्रूफ स्वयं नहीं देख सका अतः मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियों के लिये क्षमायाचना करता हूं।

गणेश चतुर्थी
२६ अगस्त १९८४

—परमानन्द सारस्वत



अनुक्रमणिका

श्री विद्याधर शास्त्री : व्यक्तित्व

वंश परम्परा :

मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की इस पावन भूमि भारत में हरियाणा प्रदेश अनेक दृष्टियों से अपना विशेष महत्त्व रखता है। यह प्रदेश जहां शौर्य-पराक्रम और शक्तिमत्ता के लिए प्रसिद्ध है, वहां अपनी ज्ञान-गरिमा की गंभीरता के लिए भी विश्व-विश्रुत है। इस प्रदेश का "जगाधरी" नगर यमुना नदी के पश्चिमी तट पर स्थित है, जो लगभग २०० वर्षों पूर्व एक छोटा-सा ग्राम था। उस समय जगाधरी मात्र ८-१० परिवारों की आबादी वाला अति लघु-काय ग्राम था। यमुना नदी इसके पूर्व की ओर ५ कि.मी दूर बहती है। इसके उत्तर में वह मार्ग है जो सुन्दर वन और आदि-बद्री की ओर जाता है तथा पूर्व में सरस्वती और दृषद्वती नदियां प्रवहमान हैं। अनेक नदियों और वन-वाटिकाओं से इस नगर की पूर्व और उत्तर की सीमाएं अपूर्व पर्वतीय सुषमा से युक्त हैं।

"जगाधरी" सदा से ही नैष्ठिक एवं कर्मकाण्डी ब्राह्मणों की निवास-भूमि रहा है। दर्शन एवं मीमांसा के अनेक दिग्गज पण्डित यहां हुए हैं, जिनके पास दूर-दूर के विद्वान् अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए आते रहते थे। इन मनीषियों में श्री सहीराम जी गौड़ का परिवार भी एक था, जो यमुना तटवर्ती "सोकरी" ग्राम से आकर यहां बस गया था। श्री सहीरामजी के पौत्र श्रीमुरारीलालजी अपने समय के एक श्रेष्ठ रसायन शास्त्री वैद्य व नैष्ठिक ब्राह्मण थे। कृषि और कर्मकाण्ड उनकी आजीविका रहे। भारत विख्यात व्याकरण शास्त्र के महापण्डित भाष्याचार्य श्री हरनामदत्त जी इन्हीं के सुपुत्र थे।

श्री भाष्याचार्यजी का जन्म भगवान् शंकर की कृपा से होने के कारण आपका नाम हरनामदत्त रखा गया। भाष्याचार्य महोदय ने अपने जीवन के दिव्य विकास द्वारा यह प्रमाणित भी कर दिया कि वास्तव में वे शिव के शिव-संकल्प के सफल पुरोधा थे। आपने अपने जीवन को अमर गिरा संस्कृत तथा अपनी सनातन संस्कृति के समुन्नयन हेतु समर्पित कर दिया। एक आदर्श संस्कृत मनीषी के रूप में जीवन यात्रा पूर्ण कर ब्रह्म-लीन होते समय अपने शिष्यों एवं परिवार के सदस्यों को सनातन संस्कृति के समुत्थान तथा प्राचीन ऋषियों द्वारा प्रवर्तित पथ पर चलने का उप-देश दिया। फलत. आज भी उनके शिष्य-प्रशिष्य तथा वंशज उस पवित्र पुरुष द्वारा निर्देशित आलोक पथ के पथिक हैं।

भाष्याचार्यजी का अध्ययन-क्रम भगवान् विश्वनाथ की नगरी "वाराणसी" में सम्पन्न हुआ। वाराणसी की विद्वत्- मण्डली इस युवा-छात्र की प्रचण्ड तेजस्विता तथा अद्भुत प्रतिभा-प्रज्ञा एवं गहन सूक्ष्म चिन्तनशीलता से बड़ी प्रभावित रही। अतः अध्ययन समाप्ति के पश्चात् आपकी मनीषा का लाभ काशी के छात्र-वृन्द को ही मिले एतदर्थ अनेक गुरुजनों एवं विद्वानों की प्रेरणा-प्रार्थना से आप वहीं शिक्षण कार्य करने लगे। पाणिनि व्याकरण के इस महापण्डित के पाण्डित्य की चर्चा शीघ्र ही चतुर्दिक् फैलने लगी और सुदूर क्षेत्रों से आपका शिष्यत्व प्राप्त करने हेतु संस्कृत-छात्र आने लगे। संस्कृत छात्र वर्ग में आपका शिष्यत्व पाना एक गौरव माना जाने लगा। अगाध पाण्डित्य की आपकी विश्रुति से प्रभावित होकर राजस्थान के "चूरू" नगर के अपने समय के अत्यधिक धनी सेठ श्री भगवानदास बागला ने आपकी सेवा में उपस्थित होकर अपने नगर में संस्कृत-संस्कृति की ज्ञान गरिमा के पुण्य प्रवाह हेतु प्रार्थना की। प्रथम तो आपका मानस वाराणसी के उस शैक्षिक वातावरण के परित्याग के लिए तैयार ही नहीं हुआ किन्तु श्रेष्ठिवर्य श्रीबागला जी के पुन पुन विनययुक्त आग्रह-अनुरोध पर 'मरुस्थल' में अमर भारती के पुण्य प्रवाह के पुनीत कार्य सम्पादन के लिए सहमत हुए और "चूरू" में श्री बागलाजी द्वारा संस्थापित संस्कृत विद्यालय का प्राचार्य पद स्वीकार किया। "चूरू" की जनता ने इस मनीषी का अपूर्व सत्कार सम्मान बड़ी श्रद्धा और निष्ठा के साथ किया। इस नगर के श्रद्धालु और सु-

संस्कृत नागरिकों के श्रद्धा समन्वित प्रेम से भाष्याचार्य जी भावाभिभूत होकर इसी नगर के स्थायी निवासी बन गये।

यह नगर राजस्थान के उत्तरी भाग में अक्षांश २७.२५° से २८ ४२° उत्तर देशांतर ७४.२८ से ७५.३०° के मध्य स्थित है। इस उज्ज्वल वालुकामय प्रदेश का तापमान अति ऊष्म है। यह प्राचीन बीकानेर राज्य का वृहद् और महत्त्वपूर्ण कस्बा रहा तथा अब राजस्थान के प्रमुख जिलों में एक है। बीकानेर से देहली, रेल मार्ग पर बीकानेर से १८१ किलोमीटर दूरी पर स्थित इस नगर की अपनी अनेक प्राचीन विशेषताएं हैं। राजस्थान का यह एक मात्र ऐसा बड़ा कस्बा है जिसका अपना वृहद् इतिहास[1] प्रकाशित है। इस क्षेत्र के इस शताब्दी के संस्कृत विद्वानों की सेवाएं भी संस्कृत जगत् में महत्त्वपूर्ण है। बीकानेर संभाग में आधुनिक संस्कृत साहित्य में गद्य-लेखन का श्री गणेश करने वाले स्व० पं० मल्लिनाथजी चौमाल यहीं के निवासी थे। आपकी हिन्दी भाषा में लिखित "मानव संस्कृति विज्ञान" एक विशिष्ट कृति है, जो राज्य सरकार द्वारा समादृत है। श्री चौमालजी भाष्याचार्यजी के शिष्य थे। "चूरू अंचल के विद्वानों ने काव्य, व्याकरण, धर्म-शास्त्र, ज्योतिष तथा आयुर्वेद विषयक अनेकानेक रचनाओं से संस्कृत साहित्य के भण्डार को भरने का जो सत्प्रयास किया वह स्तुत्य है। यहां के अनेक ग्रन्थागारों में प्राचीन साहित्य भी विपुल मात्रा में उपलब्ध है।

भाष्याचार्य जी ने अपने समय में यहां धार्मिक व सांस्कृतिक जागरण के लिए जो प्रयत्न किए, वे सदा स्मरणीय रहेंगे। उस समय "चूरू" नगर को शेखावाटी अंचल का 'काशी' कहा जाना इस महापण्डित के प्रभामण्डल का ही प्रभाव था। सनातन धर्म की परम्परानुसार आपने जीवन की उत्तरावस्था में एक वानप्रस्थी के रूप में अपना शेष जीवन हरिद्वार में गंगा तट पर यापित किया किन्तु पाणिनि की शब्द साधना अक्षुण्ण रूप से करते रहे। अपनी इस साधना हेतु आपने ज्वालापुर महाविद्यालय में आचार्य रह कर भी अपनी सेवाएं दी थी तथा इस महाविद्यालय के संस्थापक सदस्यों में आप प्रमुख रहे। उस समय महाकुंभ के अवसर पर आपकी संस्कृत सेवाओं के अभिनन्दनार्थ देश के मूर्धन्य विद्वानों द्वारा निकाली गई शोभा सम्मान यात्रा सदा स्मरणीय रहेगी।

स्व० भाष्याचार्य जी की शिष्य परम्परा में अनेक विशिष्ट विद्वान् हुए है जिन पर सम्पूर्ण संस्कृत जगत् को गर्व है। विश्वविख्यात मूर्धन्य

महामहोपाध्याय पण्डित श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी आपके प्रमुख शिष्यों में एक थे। राजस्थान के चूरू अंचल में आपकी शिष्य परम्परा में पं० बेगराजजी शर्मा, विद्यावाचस्पति पं० बालचन्द्रजी, पं० रामानन्दजी महाराज (प्रज्ञाचक्षु), पं० पूर्णानन्दजी आहिताग्नि, प० जयदेवजी मिश्र तथा प० बिलासरायजी आदि तेजस्वी विद्वान् पुरुष थे। उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त अन्य भी ऐसे संस्कृत पण्डितों की एक दीर्घ-सूची है जो कर्मकांड तथा संस्कृत पाठशालाओं का सफल संचालन करते रहे।

पिता श्री की संस्कृत-संस्कृति सेवा

भाष्याचार्य जी के पश्चात् आपके पुत्र विद्या-वाचस्पति पण्डित श्री देवीप्रसाद जी शास्त्री ने अपने पिताश्री द्वारा निर्देशित संस्कृत भाषा और संस्कृति के "प्रचार-प्रसार अनुष्ठान" को अध्ययन अध्यापन के रूप में गतिमान रखने के लिये भाष्याचार्य जी की पावन स्मृति में श्री हरनाम दत्त संस्कृत पाठशाला की स्थापना की। इस शिक्षण संस्थान में व्याकरण, साहित्य तथा वेदांगों की शिक्षण व्यवस्था के साथ २ कर्मकाण्ड शिक्षा का सैद्धान्तिक और प्रायोगिक ज्ञान भी कराया जाता था। इस विद्याशाला में शेखावाटी अंचल के अतिरिक्त हरियाणा एवं पंजाब के छात्र भी ज्ञानार्जन हेतु आते रहते थे। इस शिक्षण - प्रक्रिया के साथ ही श्री विद्यावाचस्पति जी ने अपने इस प्रदेश में प्रामाणिक संस्कृत विद्वानों के निर्माण हेतु "मरुदेशीय विद्वत्-समिति" नाम से एक परीक्षा संस्थान भी स्थापित किया, जिसके द्वारा व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष और कर्मकाण्ड आदि विषयों की परीक्षाएं भी संचालित होती रहीं। इसके परीक्षा केन्द्र प्रदेश के कई नगरों में स्थित संस्कृत विद्यालयों में थे। "चूरू" नगर के परीक्षा केन्द्र पर तो शताधिक संख्या में विद्यार्थी परीक्षा हेतु आते रहे। इसी कारण यह नगर उस समय इस अंचल की 'दूसरी काशी' कहा जाता था, जिसका सम्पूर्ण श्रेय इस मनीषी परिवार को है। शिक्षण और परीक्षण के गुरुतर भार को वहन करते हुए भी श्री देवी प्रसाद जी ने स्वयं भी विभिन्न शास्त्रीय ग्रन्थों के पारायण में निरन्तर लगे रहकर अनेकानेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की, जिनमें "शतचण्डी यज्ञ विधान, मण्डप बोधिनी" तथा "संस्कार बोधिनी" प्रमुख और प्रकाशित हैं। ये तीनों ही रचनाएं विद्वत्-गण द्वारा बहुमान्य हैं। ज्योतिष, कर्मकाण्ड तथा धर्मशास्त्र विषयक आपकी अनेक रचनाएं अप्रकाशित रूप में अब भी विद्यमान हैं।

आपके प्रकाण्ड पाण्डित्य तथा धर्मशास्त्रीय गहन अध्ययन से प्रभावित होकर तत्कालीन बीकानेर राज्य के महाराजा श्री गंगासिंह जी ने आपको "राज पण्डित"की उपाधिसे सम्मानित किया और अपने राज्यारोहण-के स्वर्ण महोत्सव के अवसर पर आपको प्रमुख पण्डित के रूप में चयनितकर समस्त अनुष्ठान आप द्वारा निर्देशित शास्त्रीय व्यवस्था से ही सम्पन्न कराया। इस प्रकार श्री विद्या-वाचस्पतिजी अपने पिता श्री भाष्याचार्य जी के समान ही अपने समय में संस्कृत जगत् के एक मूर्धन्य शास्त्रवेत्ता तथा सर्वमान्य महापण्डित थे।

शास्त्री जी का जन्म, शैशव एवं बाल्यकाल

संस्कृत-समुन्नयन के व्रती इस परिवार मे श्री भाष्याचार्य जी के विद्वान् पुत्र विद्यावाचस्पति श्री देवीप्रसाद जी के यहां हमारे श्रद्धेय श्री विद्याधर जी शास्त्री का जन्म मिति विक्रम सम्वत् १९५८ द्वितीय श्रावण कृष्णा नवमी तदनुसार दि० २ अगस्त १९०१ ई० को चूरू नगर में हुआ। आपकी पूजनीया माताजी का नाम श्रीमती द्रौपदी देवी था। पितामह तथा पिता के समान ही आपके नानाजी श्रीगणेशी लाल जी भी मान्य संस्कृत पण्डित तथा न्याय शास्त्र के बड़े विद्वान् थे। विद्वत् वंशीय परम्परानुसार जन्म के समय ही सद्यजात बालक विद्याधर की जिह्वा पर आपके पितामह भाष्याचार्य जी ने मधुशलाका से प्रज्ञा-प्रतिभा के बीजांकुर प्रतीकार्थ वीणापाणि का सिद्ध मंत्र लिखा, जिसे प्राचीन संस्कृतज्ञ अपनी आनुवंशिक विद्वत् परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए लिखा करते थे। तदुपरान्त अन्यान्य संस्कारो का सम्पादन भी पूर्ण शास्त्रीय विधि से सम्पन्न हुआ। शास्त्री जी के नामकरण संस्कार के समय श्री भाष्याचार्य जी ने अपने पौत्र का जो नामकरण किया, वह आज सार्थक है।

बालक विद्याधर की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा अपने परिवार के सुसंस्कृत वातावरण में सम्पन्न हुई। आपने अपनी धर्मपरायणा माता श्रीमती द्रौपदी देवी से ही अक्षर-बोध एवं हिन्दी की प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त की। माता द्रौपदी देवी अपने गृहकार्यों से बचे समय में प्रतिदिन अनेक धर्मग्रन्थों यथा-महाभारत, रामायण तथा अन्य पुराणों के वाचन-पारायण मे रत रहा करती थी। इस अवसर पर पड़ौस की धर्मपरायण महिलाओं के साथ बालक विद्याधर भी एक नियमित श्रोता रहता था। यदाकदा माता जी की

अनुपस्थिति में विद्याधर वाचक भी बनता। श्रवण,वाचन, पारायण के इस नियमित कार्यक्रम के फलस्वरूप पुराण कथाओं में अन्तर्निहित उच्च मानवीय तत्त्वों एवं विचारों से विद्याधर का बाल मन सुसंस्कारित हुआ। भारतीय वाङ्मय के पौराणिक स्वरूप के प्रति शास्त्री जी की जो अपूर्व श्रद्धा-निष्ठा जीवन पर्यन्त बनी रही, उसका मूल उत्स इस समय पड़े स्थायी संस्कार ही थे। माताजी के सान्निध्य में प्राप्त हिन्दी ज्ञान का एक अन्य लाभ भी इस समय आपने प्राप्त किया वह था गृह-पुस्तकालय में उपलब्ध सम्पूर्ण बोध कथाओं का अध्ययन। आप प्रातः सायं की अपनी बाल क्रीडाओं के बचे समय में घर में रखी सरल हिन्दी भाषा में लिखी कथा-पुस्तिकाओं को पढ़ा करते थे। अपने गृह पुस्तकालय में उपलब्ध एक भी पुस्तक को बिना वाचन के नहीं छोड़ा। निरन्तर स्वाध्याय-प्रवृत्ति के प्रारम्भ का यह श्री गणेश था। घर के पुस्तकालय के महत्त्व की उपयोगिता को बताने के लिए आपने अपने परिवार के लिए लिखी गई "बही" में लिखा है "प्रत्येक घर में उपयोगी व शिक्षा-प्रद पुस्तकों का एक बाल पुस्तकालय अवश्य होना चाहिए, जिससे बालकों "में पुस्तक पठन की प्रवृत्ति सहज ही उदित हो सके" स्वयं का उदाहरण देकर आपने यह बताया है कि बचपन में मैंने और अनुज दशरथ ने घर में रखी हुई पुस्तकों से बड़ा लाभ उठाया है।

माता की स्नेहमयी गोद के वात्सल्य के साथ-साथ शास्त्री जी को अपने पितामह भाष्याचार्य जी का वात्सल्य भी प्रथम और ज्येष्ठ पौत्र होने के कारण प्राप्त हुआ। अपने पितामह के अन्तेवासी छात्रों के अध्ययन के समय बालक विद्याधर उनके पास रहकर शिक्षण क्रम को उत्सुक दृष्टि से सुना और देखा करता था। व्याकरण शास्त्र के प्रति आपकी वृद्धावस्था तक बनी अभिरुचि के मूल में संभवतः यह वातावरण ही प्रमुख हेतु रहा। व्याकरण के अध्ययन के प्रति आपका कितना अपूर्व आत्मिक लगाव था,इस विषय में अपनी सेवा निवृत्ति के पश्चात् इस लेखक से अपने समय के महावैयाकरण विद्वानों की चर्चा करते हुए आपने कहा था कि मेरी अब भी यह प्रबल आकांक्षा है कि किसी वैयाकरण विद्वान् के चरणों में बैठकर इस विषय का गम्भीर अध्ययन करूं।

नियमित अध्ययन

लगभग १२ वर्ष की आयु तक शास्त्री जी के अध्ययन की यही प्रक्रिया बनी

रही। कभी पितामह के साथ तीर्थयात्रा पर जाते तो कभी घर पर अथवा पाठशाला में पिता श्री अथवा पितामह द्वारा पढ़ाये जाते पाठों का श्रवण चिन्तन करते रहे, किन्तु १२ वर्ष की आयु से आपका विधिवत अध्ययन आरम्भ हो गया।

आपने अपने पिता श्री से पाणिनि के व्याकरण का प्रारम्भिक अध्ययन किया। पाठशाला के अन्तेवासी अध्ययनशील छात्रों के सम्पर्क के कारण अल्पावस्था में ही संस्कृत-संभाषण एवं वार्तालाप में दक्षता प्राप्त करली थी। संस्कृत भाषा के सामान्य ज्ञानोपरान्त आपने अपने पिताजी की प्रेरणा से पाठशाला के अन्तेवासी छात्र रामधन से अनुष्टुप श्लोक रचना का अभ्यास आरम्भ किया। पाठशाला में साप्ताहिक रूप से होने वाली "वाक् वर्द्धिनी" सभा में भी आप भाग लेने लगे और शीघ्र ही छात्र समुदाय में एक अच्छे बाल-वक्ता बन गये। शास्त्रीजी की आकर्षक व सम्मोहक वक्तृत्व शक्ति का श्रेय इसी सभा को है। दो वर्ष तक अपने पिताश्री के पास अध्ययन कर १४ वर्ष की आयु में आप "चूरू" नगर से १५ किलोमीटर दूर सेठो के रामगढ़ (जिला सीकर) में विद्यावाचस्पति प. श्रीदत्त जी शास्त्री के अन्तेवासी बने और उन्ही के श्री चरणों में बैठकर "सिद्धान्तकौमुदी" का अध्ययन समाप्त किया। तत्पश्चात् विद्यामार्तण्ड पण्डित सीताराम जी शास्त्री के पास "हरियाणा शेखावाटी ब्रह्मचर्याश्रम भिवानी में प्रवेश लेकर पंजाब विश्वविद्यालय लाहौर की "विशारद" परीक्षा के पाठ्यग्रन्थों एवं अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन किया। श्री सीताराम जी शास्त्री अपने समय के महान्वैयाकरण तथा दिग्गज विद्वान् थे आपके द्वारा "निरुक्त" पर लिखा गया भाष्य विद्वत्-समाज में एक समादृत कृति है।

तत्पश्चात् जून १९१६ ई. में आप अध्ययन के लिए अपने पितामह के पास हरिद्वार चले गये और वहीं पर उनके विद्वान् शिष्यों से विभिन्न शास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन कर एक वर्ष की अल्पावधि में १६ वर्ष की अवस्था में पंजाब की "शास्त्री" परीक्षा सन् १९१७ ई० में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। शास्त्री जी का यह अध्ययन-वर्ष ज्ञानपिपासु छात्रों के लिए एक आदर्श रूप है। इस शिक्षणावधि में शास्त्री जी को जिस किसी विद्वान् की शास्त्र-विशेषज्ञता की सूचना या जानकरी मिलती, आप तत्काल दूरी तथा अन्य कठिनाइयों की बिना परवाह किये उनकी सेवा में उपस्थित हो जाते अपनी जिज्ञासा शान्त करने और तत्तद विषय में विशेष गति हेतु उनसे मार्ग दर्शन प्राप्तकरते। उसके पश्चात् आपने अपने पिताश्री

की आज्ञा से उनके द्वारा स्थापित एवं संचालित "मरुदेशीय विद्वत् समिति" के गुरुतर मंत्रित्व पद का भार ग्रहण किया। आपके कार्यकाल में इस समिति की उपलब्धियां अभूतपूर्व रही।

शिक्षण कार्य

अपने राज्य के इस होनहार युवा संस्कृत पण्डित को तत्कालीन बीकानेर राज्य के शिक्षा विभाग ने अपने स्टेट की सर्वोत्तम विद्याशाला "नोबल्स स्कूल' (वर्तमान सादुल पब्लिक स्कूल) में सन् १९१९ ई० में "संस्कृत शिक्षक" के पद पर नियोजित कर आपके वैदुष्य का सम्मान किया। अपने बौद्धिक धरातल को अधिकाधिक विकासोन्मुख करने हेतु शास्त्री जी शिक्षक-जीवन के आरम्भ के साथ ही संस्कृत के गंभीर अध्ययनान्वेषण तथा हिन्दी,अंग्रेजी और दर्शन शास्त्र के विशेष अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। इस अध्ययन-क्रम के फलस्वरूप आपने १९२७ ई० में आगरा विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम० ए० परीक्षा प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त कर उत्तीर्ण की।

इस परीक्षा के उपर्युक्त उन्नत परिणाम के पीछे एक दैवी घटना का विचित्र सम्बन्ध है,जो शास्त्री जी के स्वभाव की एक विशेषता का जनक रहा।शास्त्री जी अपने प्रत्येक कार्य के आरम्भ के पूर्व भगवती वीणापाणि सरस्वती की आज्ञा हेतु "हां" और "ना" का पत्रक निकाला करते थे। कार्यारम्भ का होना अथवा नहीं होना इस पत्रादेश पर निर्भर था। कार्य महत्त्वपूर्ण हो अथवा सामान्य, उसका प्रेरक कोई बड़ा व्यक्ति हो अथवा साधारण, यदि शास्त्री जी को लाटरी में "हां" आ गया तो वे सहमत हो कार्य-तत्पर होते, तथा "ना" की स्थिति में पूरी दृढ़ता के साथ निषेध कर देते। इसे वे "मातुराज्ञा"भी कहा करते थे, आप अनेक बार अपनी रचना प्रक्रिया के शब्द चयन में भी यह आज्ञा पाते रहे। शास्त्री जी के इस विलक्षण व्यवहार के आरम्भिक वृत्त की जानकारी प्राप्त करने हेतु इस लेखक के एक बार निवेदन करने पर "आपने बताया कि सन् १९२७ ई० में मैंने आगरा विश्वविद्यालय से साहित्य वर्ग विषय में एम० ए० परीक्षा देने हेतु आवेदन पत्र भेजा था, किन्तु परीक्षारम्भ के डेढ मास पूर्व विश्वविद्यालय की ओर से मुझे यह सूचना मिली कि इस वर्ग में आप ही एक मात्र छात्र होने के कारण विश्वविद्यालय परीक्षा व्यवस्था करने में असमर्थ है। अतः यदि आप चाहें तो दर्शन (वर्ग) में परीक्षा दे सकते है। इस पर मैं बड़े

धर्म संकट में पड़ गया "किंकर्त्तव्यविमूढता" की "मन स्थिति" में एक सप्ताह तक कुछ भी निर्णय नही कर पाया कि परीक्षा दूं अथवा नही ? अन्त में इस विषय में नागरी भण्डार बीकानेर मे स्थापित मां सरस्वती की प्रतिमा के समक्ष उनके आदेश को "हां" या "ना" के माध्यम से प्राप्त करके तदनुकूल कार्य करने का निर्णय किया और मा के मन्दिर में सर्व प्रथम "आदेश-पत्रक" निकाला। पत्रक में "हां" के रूप मे मां की आज्ञा निकलने पर एकाग्रमन से परीक्षा की तैयारी मे जुट गया और उत्तम परिणाम प्राप्त करने में सफल रहा। श्री रामकृष्ण परमहंस जिस प्रकार मां काली के आदेशानुसार कार्य करते रहे, उसी प्रकार शास्त्री जी ने जीवन पर्यन्त इस मातुराज्ञा का अक्षरशः पालन किया।

सन् १६२८ ई० में आप बीकानेर के डूंगर महाविद्यालय में संस्कृत विभाग मे प्रवक्ता पद पर पदोन्नत होकर १६३६ ई० में विभागाध्यक्ष बने और १६५६ ई० में इसी पद से राज्य सेवा से निवृत्त हुए। राज्य सेवा के निवृत्त होने पर कुछ समय तक अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश) के बारह-सैनी कालेज में संस्कृत विभागाध्यक्ष बने रहे किन्तु भारतीय वाङ्मय तथा संस्कृति के व्यापक प्रचार के अपने महान् जीवन उद्देश्य की सम्पूर्ति हेतु तथा अपने संकल्पों को साकार रूप देने के लिए अलीगढ़ में अधिक समय नही रहे और वापिस बीकानेर आकर सन् १६५८ ई० में भारतीय साहित्य के गम्भीर गवेषणा कार्य हेतु "हिन्दी-विश्व-भारती" की स्थापना की। इस प्रतिष्ठान के आप जीवन पर्यन्त उपकुलपति रहकर विभिन्न साहित्यक सास्कृतिक एवं अन्वेषण विषयक प्रवृत्तियों का सचालन और दिशा निदेशन करते रहे।

"हिन्दी-विश्व-भारती" शास्त्री जी की सारस्वत साधना की यशो-गाथा है। यह संस्था राजस्थान प्रदेश की उन प्रमुख साहित्य सेवी शोध संस्थानों में एक है जो अपनी नियमित विभिन्न सर्जन-सम्मान प्रवृत्तियों के माध्यम से संस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी साहित्य के प्राचीन और अर्वाचीन वाङ्मय के व्यापक प्रचार एवं प्रकाशनार्थ अपनी विविध प्रवृत्तियां-यथा विद्वत् भाषण माला, विचार गोष्ठियां, साहित्यिक और सांस्कृतिक महापुरुषों की जयन्तिया तथा आधुनिक साहित्यकारों का सम्मान-समारोह आदि का आयोजन करती है। इस संस्थान की ओर से अनेक गवेषणा पूर्ण कार्य निष्पन्न हुए हैं, उनमें "चन्द्र विषयक वैदिक शोध

महत्त्वपूर्ण है, जिसकी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की संस्थाओं द्वारा भी प्रशंसा की गई है। "विश्वंभरा" नामक शोध त्रैमासिकी इसकी मुख पत्रिका है जिसके आप प्रधान सम्पादक रहे। विश्वंभरा का सम्पादकीय लघु किन्तु सूक्ष्म चिन्तन रूप शोध सामग्री से समन्वित रहा है।

परिवार एवं शिष्य वर्ग

श्रद्धेय शास्त्री जी अपने पितामह तथा पिता के समान ही सुसंस्कृत तथा विद्वत् परिवार के प्रमुख रहे। आपके प्रथम अनुज स्व० डा० दशरथ शर्मा भारत प्रसिद्ध इतिहास वेत्ता थे। उनसे छोटे श्री भानु प्रकाश शर्मा सेवा निवृत्त जज हैं। आपके बड़े पुत्र डा० दिवाकर शर्मा अपने पिता श्री के समान संस्कृत के शोध अध्येता तथा डूंगर महाविद्यालय बीकानेर में संस्कृत विभाग में प्राध्यापक हैं। उनसे छोटे डा० गिरिजाशंकर शर्मा अपने चाचा स्व० डा० दशरथ शर्मा के समान इतिहास के क्षेत्र में अपनी विशेष पहिचान रखने वाले इतिहास वेत्ता विद्वान् हैं। डा० शर्मा राजस्थान राज्य पुरालेखागार के केन्द्रीय कार्यालय बीकानेर में सहायक निदेशक के पद पर कार्यरत हैं।

पूज्य शास्त्रीजी के महान् कार्यों के निष्पादन में आपकी स्व० धर्मपत्नी धनदेवी की तपस्या भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। भरे-पूरे परिवार के नानाविध गुरुतर दायित्वों को स्वयं सभाल कर इस पुण्य स्मरणीयादेवी ने शास्त्रीजी के जीवन को यशस्वी बनाने में अपना जो अपूर्व सहयोग दिया, एतदर्थ माता धनदेवी हमारी परम वन्दनीया है।

इसी प्रकार पूज्य शास्त्री जी के विद्वान् शिष्य-प्रशिष्य परम्परा भी बड़ी लम्बी है। बीकानेर, चूरू तथा गंगानगर अचलों के प्राय सभी मान्य साहित्य सेवी शिक्षाविद् तथा समाज सेवकों से आपका सम्बन्ध परम मित्र, शिष्य अथवा मार्गदर्शक के रूप में रहा है। जहा एक ओर बीकानेर के राजपरिवार के आप परम वन्दनीय गुरुजी रहे, वहां दूसरी ओर इस अचल के सामान्य जन भी आपके प्रति अगाध श्रद्धा भाव रखते थे। अनुसंधान तथा साहित्य के क्षेत्र के अतिरिक्त भी देश के विभिन्न भागों के विभिन्न क्षेत्रों में आपके अनेक शिष्य शीर्षस्थ पदों पर कार्यशील हैं।

हिन्दी, संस्कृत तथा राजस्थानी साहित्य के महान् मनीषी स्व०

नरोत्तमदास जी स्वामी आपके ही शिष्य व सहयोगी थे। राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के भूतपूर्व निदेशक तथा अभिनव संस्कृत जगत् मे अलंकार एवं रसमीमासा के अप्रतिम विद्वान् डा० ब्रह्मानन्द जी शर्मा संस्कृत जगत् को शास्त्री जी की ही देन हैं। भाषा विज्ञान के प्रमुख वेत्ता श्री काशीराम शर्मा, श्रीमती कृष्णा मेहता तथा राजस्थानी के मूर्धन्य विद्वान् श्री रावत सारस्वत आदि शास्त्री जी के प्रमुख शिष्यो में है।

इस शिष्य परम्परा के समान ही शास्त्री जी के महान् व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रेरणा पाने वाले अनेक विशिष्ट विद्वान्, सन्त तथा शिक्षा-शास्त्री भी रहे हैं। ग्रामोत्थान विद्यापीठ संगरिया के संस्थापक श्रद्धेय स्वामी केशवानन्द जी महाराज शास्त्री जी के प्रति बहुत श्रद्धा रखते थे। श्री गौरीशंकर जी आचार्य तो शास्त्री जी के अभिन्न भक्त एवं आत्मीय रहे हैं। भारत विख्यात विद्वान् श्री अगरचन्द जी नाहटा तथा डा० मनोहर जी शर्मा, श्री लक्ष्मीलाल जी जोशी, श्री विष्णुदत्त जी शर्मा आदि विद्वज्जन आपके निकटतम सहयोगी स्वजन रहे है।

राजस्थान की प्रज्ञा प्रतिमा को संस्कृत जगत् में प्रतिष्ठित करने वाला यह यशस्वी सरस्वती पुत्र २४ फरवरी १९८३ को इस जीवन की अपनी सारस्वत साधना का सोपान समाप्त कर मां वीणापाणि के लोक मे समाहित हो गया।

साहित्य साधना

सुसंस्कृत परिवार के अध्ययन, चिन्तन और अनुशीलन के वातावरण में पले स्व० शास्त्री जी की साहित्य सर्जन यात्रा का प्रारम्भ हुआ, आपके पिताजी के एक अन्तेवासी छात्र "रामधन" की प्रेरणा, सान्निध्य व सहयोग से। उस समय आपकी आयु केवल १२ वर्ष की ही थी। अनुष्टुप छन्दों के अभ्यास के उपरान्त कवित्व प्रतिभा का स्फुरण प्रारम्भ ही हुआ था कि अपने दो परम मित्रों की इच्छापूर्ति हेतु उनके इष्टदेव क्रमशः शिव और सूर्य के स्तवन हेतु आपने कुछ श्लोक बनाये। यद्यपि ये दोनों स्तवन रचनाऐं अति लघु-काव्य हैं किन्तु इनके रचना शिल्प और भाव वैशिष्ट्य में इस बाल कवि के भावी महाकवित्व की छाया का स्पष्ट आभास परिलक्षित होता है। संस्कृत सर्जन की यह प्रक्रिया १९२७ तक कभी

सामान्य, कभी तीव्र तथा कभी मन्द गति के रूप में चलती रही किन्तु १९२७ ई० में भगवती सरस्वती के "आदेश पत्रक" विषयक घटना के पश्चात् शास्त्री जी ने सरस्वती की साधना के रूप में नियमित रूप से नागरी-भण्डार में उपस्थित होकर अथवा घर में कुछ संख्या में प्रतिदिन श्लोक रचना करने का सकल्प किया । आपने इस-संकल्प का आप सदैव पालन करते रहे, जिसका परिणाम विद्याधर ग्रन्थावली के रूप में हमारे समक्ष प्रकट हुआ। सन् १९१८-१९ ई० में हिन्दी भाषा में भी आपने कुछ निबन्ध तथा कथाओं का लेखन किया था, जो प्रयाग से प्रकाशित होने वाले "भारत", "चाँद और परिवर्तन" आदि पत्रों में प्रकाशित हुए। सन् १९१८ से १९२१ तक का काल खण्ड आपके जीवन में विशेष महत्त्वपूर्ण रहा। इस समयावधि में आपने 'श्री रामतीर्थ की' आध्यात्मिक भावना का गंभीरता में अवगाहन किया, तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट कुछ साधनाएँ भी की थी, जिनमें ओंकार उपासना प्रमुख है। ओंकार-उपासना विषयक-अनुभूतियों पर लिखे हुए कुछ लेख अनेक पत्रों में प्रकाशित भी हुए है। १९२८ ई० में इस गंभीर चिन्तन के फलस्वरूप 'यथार्थ दर्शन' नामक एक ग्रन्थ आपने हिन्दी में लिखा, जिसमें स्वामी राम के दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या की है। इसी समय छात्र जीवन से सम्बन्धित 'छात्र जीवन' छात्रोपदेश विषयक कृति का भी प्रकाशन हुआ।

सन् १९२८ ई० में आप श्री शार्दूल ब्रह्मचर्याश्रम बीकानेर के मुख्याधिष्ठाता मनोनीत हुए। आपके कार्यकाल में इस आश्रम के सम्यक् विकास हेतु अनेकश. प्रयत्न किये गये, जिसके परिणाम स्वरूप आज यह सस्थान श्री 'शार्दूल संस्कृत विद्यापीठ के रूप में प्रान्त का एक श्रेष्ठ उच्च सस्कृत शिक्षण संस्थान बन सका है। प्राध्यापक पद पर कार्यरत होने के पश्चात् शास्त्री जी शिक्षण कार्य से बचे समय में अध्ययन और लेखन कार्य में तल्लीन रहा करते थे। संस्कृत और हिन्दी भाषा में 'अद्भुत वक्तृत्व' शक्ति के धनी होने के कारण आपको देश के निकट एवं सुदूर भागों में समायोजित साहित्यिक समारोहों में सादर निमन्त्रित किया जाता था। अनेक विद्वत् सम्मेलनों में सभागी रूप में सम्मिलित होते रहने के फलस्वरूप समग्र सस्कृत और शैक्षिक जगत् में एक युवा संस्कृत मनीषी के रूप में आपकी पहचान हुई। प्राय. प्रत्येक ग्रीष्मावकाश में आप साहित्यिक यात्रायें किया करते थे। उस समय आपके भाषण आदि की सूचना विषयक प्रसारित विज्ञप्तियों से शास्त्री जी की बहुलोकप्रियता का सहज

अनुमान लगाया जा सकता है।

सन् १९३० ई० में वाराणसी में सम्पन्न 'अखिल ऐशियाटिक शिक्षा कान्फ्रेंस' में आपने 'शिक्षा-सदाचार' समालोचनात्मक वैदिक अध्ययन और 'पुस्तकालय' विषयक तीन महत्त्वपूर्ण निबन्धों का वाचन किया। जिसके गभीर विषय विवेचन को काशी के मूर्धन्य विद्वानों द्वारा सराहा गया। इसी वर्ष बीकानेर में आयोजित 'अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन' के स्वागताध्यक्ष पद से आपका भाषण केवल परम्परित स्वागत भाषण न होकर एक दिशा बोधक उद्बोधन था। सस्कृत और संस्कृति के क्षेत्र में आप द्वारा निरन्तर किये जा रहे प्रेरक प्रयासों एवं उनकी सफल क्रियान्विति से प्रभावित होकर १९३३ ई० मे वाराणसी के 'अखिल धर्म महामण्डल' ने आपको 'विद्यारत्न' की उपाधि देकर अभिनन्दित किया। उसी वर्ष आप नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) के भी प्रबन्ध समिति के मानद सदस्य मनोनीत हुए, जो पूरे राजस्थान की प्रतिभा का सम्मान था।

सन् १९३५ ई० मे देहली मे आयोजित 'अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन' मे प्राचीन और अर्वाचीन जीवन दृष्टि से समन्वित स्वरूप पर जो विद्वता पूर्ण तथा तर्कयुक्त विस्तृत वक्तव्य दिया, वह सस्कृत जगत् मे एक अभूतपूर्व चिन्तन का आरम्भ माना गया। इसी वर्ष अखिल भारतीय सस्कृत सम्मेलन के आप महामन्त्री चयनित हुए, और अपने पूरे मन्त्रित्व काल में व्यापक स्तर पर संस्कृत प्रसार हेतु तत्पर रहकर सम्मेलन के कार्य को आगे बढाया। इस समयावधि मे बीकानेर सभाग में इस प्रकार के साहित्य समारोहों का तेज प्रवाह ही प्रवाहित हो चला था, जिसके भी प्रेरक श्री शास्त्री जी थे।

सन् १९३७ ई० मे चूरू नगर में 'सनातन-धर्म सभा की रजत जयन्ती आपके संयोजकत्व में मनाई गई। इस अवसर पर आपने 'सनातन-धर्म दर्शन' नामक जिस निबन्ध संग्रह का सम्पादन एवं लेखन किया वह सनातन धर्म विषयक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो को प्रतिपादन करने वाली एक श्रेष्ठ कृति है।

मन् १९४३ ई० में आप आगरा विश्वविद्यालय के सीनेट के सदस्य तथा संस्कृत अध्ययन बोर्ड के अध्यक्ष चुने गये। इसी वर्ष बीकानेर राज्य के विभिन्न नगरों एवं कस्बों मे स्थापित अनेकानेक साहित्यिक संगठनों को

एक सूत्र में बांधने के लिए बीकानेर राज्य साहित्य सम्मेलन की स्थापना की, जिसने इस प्रदेश के साहित्यकारों को एक मंच पर लाने में तथा जन साधारण में साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न करने में बड़ा योगदान दिया।

सन् १९४७ ई० में भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में हुए "विश्व शांति सम्मेलन" वर्धा में "शिक्षा व विश्व शान्ति" विषय पर आपके भाषण की स्वयं राष्ट्रपति ने प्रशंसा की। देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् विभिन्न स्थानों और संस्थाओं में दिये गये आपके भाषणों की सूची बड़ी है। इसी वर्ष आपने राजस्थान संस्कृत साहित्य सम्मेलन की स्थापना की और जयपुर में समायोजित इस सम्मेलन की अध्यक्षता भी। सन् १९५३ में कोटा में आयोजित "राजस्थान संस्कृत सम्मेलन" के अवसर पर दिये गये आपके भाषण से प्रभावित होकर तत्कालीन केन्द्रीय अर्थ मन्त्री श्रीमान् माननीय सी० डी० देशमुख की संस्कृत प्रशस्ति द्रष्टव्य है:-

मन्ये हि भाग्यैः सुर भारतीयाः
कृताः कृतार्था परमार्थ याचा।

अभिनन्दन सम्मान

"विश्व संस्कृत परिषद्" वाराणसी में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद द्वारा देश के जिन महान् संस्कृत विद्वानों का स्वागत-सम्मान किया गया, उनमें आप भी एक थे। 'कुरुक्षेत्र विश्व विद्यालय' की स्थापना की प्रेरणा गीता विश्व विद्यालय के रूप में आपने ही सर्वप्रथम पंजाब के तत्कालीन मुख्य मन्त्री श्री भीमसेन सच्चर को दी थी, जिस पर माननीय श्री सच्चर ने आपके प्रति गहरी कृतज्ञता ज्ञापित की थी। "राजस्थान साहित्य अकादमी" के आप स्थापना काल से सरस्वती सभा के सदस्य २० वर्षों तक रहे तथा अकादमी की ओर से प्रान्त की उच्च विद्वद् मनीषा को "मनीषी" के रूप में दिये जाने वाले सम्मान से भी आप अभिनन्दित हुए।

२ अक्तूबर १९६० ई० में तत्कालीन डा. राधाकृष्णन् ने दिल्ली के 'विज्ञान भवन' में विश्व के मूर्धन्य विद्वानों की उपस्थिति में "विद्या-वाचस्पति" की सर्वोच्च सम्माननीय उपाधि से आपको अभिनन्दित किया, जो सम्पूर्ण राजस्थान का गौरव था। इसी प्रकार भारतीय गणतंत्र की रजत जयन्ती के पावन पर्व पर देववाणी के जिन ६ विशिष्ट उपासकों का

राष्ट्रीय सम्मान किया गया, उसमें आप भी एक राष्ट्रीय संस्कृत मनीषी के रूप में सम्मानित हुए। इस प्रकार शास्त्री जी सम्पूर्ण संस्कृत जगत् के शीर्षस्थ एवं अभिवन्दनीय महापण्डित माने गये।

अगस्त १९८० ई० में बीकानेर के प्रबुद्ध नागरिकों तथा संस्थाओं द्वारा भारतीय विद्या मन्दिर के संयोजकत्व एवं तत्वावधान में सार्वजनिक अभिनन्दन तथा १९८२ ई० में महाराणा मेवाड़ फाउण्डेसन उदयपुर की ओर से संस्कृति के क्षेत्र में अभूतपूर्व सेवा एवं योगदान के उपलक्ष में "हरित ऋषि" की स्मृति में दिये जाने वाले सम्मान से आप सम्मानित हुए। ऋषि कल्प श्री शास्त्री जी की अभिनन्दन शृंखला का यह अंतिम आयोजन रहा।

कृति सम्मान

अनेकानेक साहित्यिक गतिविधियों में व्यस्त रहते हुए भी श्री शास्त्री जी अपनी रचना प्रक्रिया को निरन्तर गतिमान रखते थे। यही कारण है वार्धक्य तथा अतिव्यस्तता के बावजूद भी आपने संस्कृत साहित्य के अभिनव स्वरूप को अनेक विधाओं से समृद्ध किया है। महाकाव्य, खण्ड-काव्य, नाटक, स्तवन काव्य, चम्पू काव्य तथा स्मृति, नीति साहित्य के अतिरिक्त सूत्र साहित्य भी विपुल मात्रा में आपने सर्जित किया है। आपके समस्त संस्कृत ग्रन्थों का एक संकलन 'विद्याधर ग्रन्थावली' के नाम से १९७७ ई० में राजस्थान साहित्य अकादमी उदयपुर की ओर से प्रकाशित हो चुका है। आधुनिक संस्कृत के आप प्रथम अभिनव रचनाकार हैं, जिनके जीवन काल में ही उनकी कृतियों के आलोचन को शोध प्रबंध के रूप में स्वीकारा गया।

संस्कृत साहित्य के साथ ही साथ मरुभूमि की प्रकृति, संस्कृति एवं जीवन से सम्बन्धित आपकी हिन्दी एवं राजस्थानी की रचनाएं भी महत्त्वपूर्ण हैं। धोरे, फोग, मतीरा, कंकर, डूंगरी, रोहिड़ो, रोही जाळ, ऊंट और आंधी जैसे विषयों पर लघु किन्तु भावपूर्ण तथा सौन्दर्य समन्वित आपके निबन्धों का एक संग्रह 'मरु माधुरी' नाम से सन् १९४० ई० में प्रकाशित हुआ था। इस रचना में शास्त्री जी के मरुभूमि प्रेम तथा उसकी संस्कृति व भाषा में गहरी पैठ के दर्शन होते हैं। राजस्थानी भाषा की अनेक मौलिक रचनाएं भी कई प्राचीन पत्र पत्रिकाओं में

प्रकाशित है, जिन पर राजस्थानी को एक संस्कृत मनीषी की रचना होने पर सदा गर्व रहेगा।

व्यक्ति दर्शन

स्व० शास्त्री जी का समस्त जीवन भारतीय प्रज्ञा का ज्योतिर्मय रूप-रहा है। आप पुरातन चिन्तन को पूर्ण रूप से स्वीकारते हुए स्वतंत्र मौलिक और आधुनिक चिंतन के सशक्त समर्थक एवं स्वागत कर्त्ता थे। आधुनातन वैज्ञानिक उपलब्धियों के प्रति आपका जिज्ञासा-भाव सर्व विदित है। साहित्य और दर्शन के अध्ययन, अनुशीलन के साथ विज्ञान विषयक मनन, चिन्तन एवं एतद् विषयक पत्र-पत्रिकाओं का अवलोकन शास्त्री जी के दैनिक अध्ययन-क्रम का एक अंग रहा है। नवीन वैज्ञानिक जानकारी विषयक प्रत्येक अवसर का लाभ उठाने में सदैव तत्परता आपका सहज स्वभाव था। ऐसे अनेक प्रसंग सुनने में आते है, जिनसे शास्त्री जी के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का गहन ज्ञान का पता चलता है। इसकी पुष्टि में एक घटना विशेष उल्लेखनीय है। यह घटना सभवतः दस वर्ष पूर्व की है। एक दिन प्रातः एक सेनाधिकारी की कार शास्त्रीजी के मकान के आगे रुकी, और अधिकारी ने यह जानकारी चाही कि यह मकान किसका है? और इसमें रहने वाला वृद्ध पुरुष कौन है? जब उनको यह पता चला कि एक रिटायर्ड संस्कृत प्रोफेसर का मकान है और वे ही वृद्ध पुरुष हैं तो वे गद्-गद् होकर भीतर आये और बड़ी श्रद्धा-भावना से शास्त्री जी की चरण वंदना की तथा काफी समय तक विभिन्न विषयों पर चर्चा करते रहे। विदा होते समय अपके पुत्र डा० गिरिजाशंकर शर्मा को शास्त्री जी के वैदुष्य से प्रभावित होने के विषय में उन्होंने बताया कि कलसायं 'रतन बिहारी पार्क' में लगी सोवियत साहित्य प्रदर्शनी देखते समय मैंने देखा कि विज्ञान विषयक स्टॉल पर पूर्णत: देशी एवं सादी वेश-भूषा में एक वयोवृद्ध सज्जन बड़ी तन्मयता से एक-एक पुस्तक का अवलोकन कर रहे हैं, और इसके बाद 'स्पेस' विज्ञान पर एक पुस्तक क्रय कर धीरे-धीरे वहां से विदा होते है। सादे और देशी वेश-भूषा किन्तु अंग्रेजी मे लिखित विज्ञान विषयक इस कृति को क्रय करने वाला कौन व्यक्ति है? मेरी जिज्ञासा हुई और आपके पीछे-२ चलकर यहां तक आया। प्रोफेसर साहब के इस भवन में प्रविष्ट हो जाने पर कल इस विषय पर पूरी जानकारी प्राप्त करूंगा, यह तय करके वापिस चला गया। यह उच्च अधिकारी स्वयं विज्ञान विषय के

अधिस्नातक थे। शास्त्री जी से वैज्ञानिक चर्चा के फलस्वरूप उनसे प्राप्त नवीन जानकारी के प्रति गहरी कृतज्ञता प्रकट कर विदा हुए।

स्व० शास्त्री जी की अति सादी वेश-भूषा की अपनी अलग ही पहचान थी। आपकी दैनिक जीवन यापन प्रक्रिया पूर्णतः नियमित रही। आपने 'युक्ताहार-विहार' के सिद्धान्तानुसार खान-पान का निश्चित समय तथा निश्चित अनुपात का पालन जीवन-पर्यन्त किया। नियम पालन में आप बड़े कठोर थे। समय की पाबन्दी और उसके सही सदुपयोग के प्रति भी आप पूरे सजग तथा पूर्ण प्रतिबद्ध थे। अध्ययन, लेखन और विश्राम की समयावधि में अपवाद स्वरुप ही विशेष आगन्तुक से चर्चा करते थे।

भारतीय ज्ञान-विज्ञान की समस्त शाखाओं की जानकारी के साथ आवश्यकतानुसार उनका प्रायोगिक अनुभव करते रहना भी आपकी अभिरुचि का एक अंग था। ज्योतिष, आयुर्वेद, भूगोल आदि के आपके विशिष्ट ज्ञान का परिचय आपकी कृतियों में प्रसंगानुकूल प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त स्वर विज्ञान के भी आप अच्छे ज्ञाता और प्रयोक्ता रहे हैं। आपके शिष्य पं० रामेश्वर लाल शर्मा (सरदारशहर) ने स्वर विज्ञान पर एक प्रमाणिक रचना आपकी प्रेरणा से तैयार की है।

श्री शास्त्री जी शब्दों एवं भावों के अमर शिल्पी रहे है। किसी भी विषय पर आपको वक्तृता देनी हो, आपकी वाणी से तदनुरुप ही भाव एवं शब्द-संरचनाओं की सुसंस्कृत अवतरणिका सुनने को मिला करती थी। आपकी वाणी के ओज एवं भावों के उदात्त स्वरूप की अपनी अलग ही पहचान थी। एक तपोपूत व्यक्ति के जीवन के समान ही शास्त्री जी की संस्कृत शब्दावली का आकर्षण एवं प्रभाव श्रोता के मानस पटल पर लम्बे समय तक बना रहता था।

सामान्य और विशिष्ट सभी प्रकार के लोगों को समुचित सम्मान देना आपका सहज स्वभाव था। नागरी भण्डार के चोकीदार श्री सोहन-सिंह जी के प्रति भी आपकी उतनी ही आत्मीयता थी जितनी अपने अति अंतरंग विद्वान् साथी के साथ हो सकती थी। अच्छे वक्ता होने के साथ-साथ आप गम्भीर श्रोता भी थे। विभिन्न समारोहों में अनेक विद्वानों द्वारा व्यक्त विचारों के सम्बन्ध में आप समारोह समाप्ति के पश्चात् विद्वान् से चर्चा किया करते थे। इस प्रकार उनके चिन्तन का सम्मान और प्रोत्साहन

प्राप्त करने का अनेक विद्वानों को अनुभव है। चिन्तन की मौलिकता, तथा पूर्वाग्रह मुक्ति के आप विशेष आग्रही थे। आप सदैव स्वतंत्र चेता रहे। आपके एक छात्र ने एक बार पूछा कि गुरुजी आप तो पूर्णप्राचीन मान्यताओं को स्वीकार करने वाले ईश्वरवादी हैं, फिर इन साम्यवादी दृष्टि रखने वाले अपने छात्रों को इतना सम्मान और निकटता का अवसर क्यों देते है? इस पर उनका उत्तर बड़ा सटीक था तथा उनके पावन अन्तस् के स्पष्टवादिता का द्योतक था। आपने कहा कि बेटे! हम ईश्वर के अस्तित्व को नैतिक और सच्चे जीवन यापन के लिए स्वीकारते हैं हमारे समस्त धर्माचरण इसी श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति हेतु ही है जबकि मैं देखता हूं कि मेरे साम्यवादी शिष्य और साथी अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में उतने ही निःस्वार्थ और सच्चे है तो ये भी मेरे लिए उतने ही आत्मीय और समादरयोग्य है जितने मेरे-अपने।

आपका महान् व्यक्तित्व एक कल्पवृक्ष के समान रहा जिसकी गहर छाया में सभी को शान्ति और उपलब्धि मिला करती थी। सभी के प्रतिश्रेयस् कामना आपका सहज स्वभाव रहा। यही कारण है कि आपके शिष्यों में कट्टर भारतीय दृष्टि वाले भी हैं और साम्यवादी भी। शास्त्रीजी सभी के लिए सम्मान्य, श्रद्धेय और पूज्य रहे। शास्त्री जी ने जहा स्वय की मान्यता और श्रद्धानुरूप संस्कृतिवादी शिष्यों की प्रार्थना पर 'नागरी भण्डार' में 'वेद-मन्दिर' की स्थापना में अपना योग और आशीर्वाद दिया, वहा उसी भवन के पुस्तकालय कक्ष में आप 'वियत-नामी-साहित्य की प्रदर्शनी का उद्‌घाटन अपने साम्यवादी शिष्यो के आग्रह पर स्वय करते हुए भी नही झिझके। 'हिन्दी विश्व भारती' के मंत्री श्री गिरधारी लाल व्यास ने जो स्वय एक मान्य साम्यवादी चिंतक और गुरुजी के शिष्य हैं, बताया कि गुरुजी ने उस समय वियतनामी साहित्य के विषय में जिस आधिकारिक रूप से अपने विचार प्रकट किये, उसे सुनकर हमें बड़ा आश्चर्य हुआ कि गुरुजी को इस पक्ष की इतनी जानकारी है!

बीकानेर संभाग के प्राथमिक विद्यालय के शिक्षक से लेकर स्नातकोत्तर महाविद्यालयो, मेडीकल कॉलेज तथा अन्य टेकनिकल कालेजों के अध्यापकों तक को इस संभाग के छात्र "गुरुजी" इसी अभिधेय से सम्बोधित करते हैं, जबकि जोधपुर संभाग मे 'माटसाव' तथा जयपुर आदि मे 'सर' आदि के सम्बोधन हैं। इस संभाग (चूरू, गगानगर व बीकानेर)

में अध्यापकों के लिए इस प्राचीन सम्बोधन के आरम्भ का श्रेय पूज्य शास्त्रीजी को है। डूंगर महाविद्यालय में सर्वप्रथम इन्हीं को छात्र गुरुजी कहा करते थे फिर सभी प्राध्यापकों के लिए यह शब्द रूढ हो गया इस प्रसंग की एक घटना का उल्लेख करते हुए डा० ब्रह्मानन्द जी शर्मा ने बताया कि गुरुजी के कार्यकाल में एक बंगाली सज्जन नये ही प्राध्यापक बन कर आये और उनको छात्रों ने जब 'गुरुजी' कह कर सम्बोधित किया तो उनको बड़ा अटपटा और हेय लगा उन्होंने इसकी चर्चा डा० ब्रह्मानन्द जी से की तो डाक्टर सा० ने इस शब्द की गरिमा बताई, इस पर उन्हें संतोष मिला। आज भी बीकानेर के प्रौढ, बुद्धिजीवी एवं विद्वानों के लिए गुरुजी शब्द स्व० शास्त्रीजी का ही सूचक है।

स्व. शास्त्री जी केवल मात्र दर्शनशास्त्र के ज्ञाता और प्रखर वक्ता ही नहीं थे अपितु उन्होंने दार्शनिक जीवन को व्यवहार-गत भी किया। 'गीतोक्त' सम्यक् वृत्ति के भी अनेक अवसर आये। अपने जामाता के असामयिक निधन की सूचना अपने कनिष्ठ पुत्र डा. गिरिजा शंकर शर्मा को ऐसे सहज भाव से दी मानो कोई सामान्य बात हो। इसीप्रकार आपने प्रिय अनुज डा. दशरथ शर्मा के स्वर्गवास की सूचना भी आकाशवाणी से प्रथम बार सुनी तो एक क्षण शिव शिव कहकर पास बैठे अपने परिजनों से दिवंगत अनुज की चर्चा करने लगे। इतने निकट के भीषण आघातों को सहज भाव से सहन करने की क्षमता स्व० शास्त्री जी की ऊंची आध्यात्मिक स्थिति की सूचक रही है।

उपर्युक्त उच्च मानसिक चेतना के अभ्यासी तथा गम्भीर अध्यवसायी होने पर भी आपका मन एक बाल-मन के समान निश्छल, निष्कपट और सहज विनोदी था। 'हिन्दी विश्व भारती' की विभिन्न विचार गोष्ठियो तथा अन्य समारोहों में आपका अट्टहस और हर-हर महादेव का तकिया कलाम सभी श्रोताओं के मन को आह्लादित कर देता था। उस मनो-रंजक मन: स्थिति में गुरुजी का व्यक्तित्व सभी को ऐसा लगता था मानो यह व्यक्ति अपना मित्र है, किन्तु जब चिन्तन प्रक्रिया प्रारम्भ होती और उनकी वाणी पर मा सरस्वती का अवतरण होता तब उपस्थित विद्वानों को ऐसा लगता कि हम एक गुरु गौरव मण्डल के पास बैठे है। श्री शास्त्री जी का यह स्वरूप और व्यवहार अब स्मृति शेष ही है।

स्व० शास्त्रीजी अपनी स्वस्थावस्था तक वर्ष में एक दो बार अपनी

जन्मभूमि चूरू कुछ समय के लिए अवश्य जाते थे । सभी को अपनी जन्मभूमि के प्रति आकर्षण होता है किन्तु शास्त्री जी का दृष्टिकोण इस विषय में बड़ा मर्मस्पर्शी व स्मरणीय है । "चूरू" के प्रति उनके इतने तीव्र आकर्षण के विषय में पूछने पर आपने जन्मभूमि के प्रति आत्मीय भाव को तो स्वीकार किया ही किन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह कही कि जब-जब मैं वहां जाता हूं तो मैं ऐसा अनुभव करता हूं कि मैं १०-१२ वर्ष का विद्याधर बन गया हूं और दिन में ऐसा लगता है कि मैं अपनी मा के पास पुराण कथा सुन रहा हूं तथा प्रातः सायं पितामह तथा पिताजी के द्वारा पढ़ाये जा रहे छात्रों के बीच पढ रहा हूं और रात्रि में पाठशाला के छात्रों के साथ गप्पें मार रहा हूं । अपने इसी जीवन को साल में कुछ समय तक जीने के लिए मैं सदा चूरू के लिए लालायित रहता हूं । जन्मभूमि के प्रति इस अनुराग के समान ही आपका मातृभाषा राजस्थानी के प्रति भी गहरा लगाव था । हिन्दी और संस्कृत के विद्वान् होने के नाते भी घर पर तथा अपने संगी-साथियों में राजस्थानी के शेखावाटी रूप का ही सदैव प्रयोग किया करते थे ।

सरस्वती के इस वरद् पुत्र का पूर्ण जीवन मां के निर्देशानुसार संचालित होकर उसके प्रति समर्पित रहा । प्रत्येक कार्य मा की आज्ञा प्रतीक 'हा' या 'ना' के आदेश पत्रकों द्वारा किया करते थे । आपकी यह समर्पण भावना अनेक लोगों के लिए हास्य का विषय हो सकती है इसकी आपको जरा भी शंका अथवा चिन्ता नहीं थी । शास्त्री जी इस भगवती-इच्छा को ही जीवन पर्यन्त मार्ग दर्शिका मानते रहे ।

श्री शास्त्री जी के महाकाव्य

महाकाव्यों का स्वरूप :-

महाकाव्य महत् और काव्य इन दो शब्दों से बना है। इस सामासिक शब्द का प्रयोग सर्व प्रथम वाल्मीकि रामायण के उत्तर काण्ड में हुआ है:-

किं प्रमाणमिदं काव्यं का प्रतिष्ठा महात्मनः
कर्त्ता काव्यस्य महतः क्व चासौ मुनि पुंगव.[1]

महाभारत में भी यत्र तत्र ऐसे अनेक विशेषण प्रयुक्त है, जिनसे महाकाव्य की कल्पना की जा सकती है। सर्व प्रथम व्यास जी ने ब्रह्मदेव से निवेदन किया कि मैंने श्रेष्ठ काव्य की रचना की है :-

कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परम पूजितम्[2]

लक्षण ग्रन्थो में सर्व प्रथम महाकाव्य की परिभाषा देते हुए भामह ने काव्य के पांच भेद बताये हैं:-

सर्ग बन्धो महाकाव्यं महता च महच्चयत्
अग्राम शब्द मर्थंच सालंकार सदाश्रयम्
मंत्र दूत प्रमाणोनि नायकाभ्युदये च यत्

१. वाल्मिकि रामायण उत्तर काण्ड–१४/२३
२. महाभारत आदिपर्व अनुक्रमणिका का प्रथम अध्याय-६१

(१) सर्ग बन्ध, (२) अभिनेयार्थ, (३) आख्यायिका, (४) कथा तथा (५) अनिरुद्ध इन पांच भेदों में भामह ने सर्ग बद्ध काव्य को ही महाकाव्य की संज्ञा दी हैं।[3]

भामह के पश्चात् दण्डी ने पूर्व शास्त्रों की सहायता से अपने काव्यादर्श मे महाकाव्य का समन्वयात्मक एव विश्लेषणात्मक रूप प्रस्तुत किया है।[4]

दण्डी ने अपने काव्यादर्श में महाकाव्य के स्वरूप सम्बन्धी जिन विचारो को बीज रूप में रख दिया है वे ही कालान्तर मे अग्नि पुराण, रुद्रट तथा हेमचन्द्र आदि आचार्यों के ग्रन्थों में काव्य-लक्षणों में प्रस्फुटित हुए हैं।[5]

विकास परम्परा

संस्कृत महाकाव्य का इतिहास वाल्मीकि रामायण से प्रारम्भ होता है परम्परानुसार वाल्मीकि आदि कवि और रामायण आदि काव्य हैं। महाभारत की भांति रामायण ने भी अनेक संस्कृत काव्यो और नाटको को जन्म दिया है। रामायण और महाभारत से चली काव्य परम्परा निरन्तर आधुनिक संस्कृत काल तक चलती रही है जिसका उल्लेख यहां आवश्यक नहीं।

आधुनिक युग मे शताधिक महाकाव्य लिखे गये हैं, जिनके वर्ण्य-विषयो प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही है तथा जिनका विशेष परिचय भूमिका भाग के महाकाव्य शीर्षक के अन्तर्गत दिया जा चुका है।

शास्त्री जी के महाकाव्य :-

आलोचित विद्वान् के दो महाकाव्य-प्रथम 'हरनामामृतम्' तथा द्वितीय 'विश्व मानवीयम्', इस युग की प्रमुख काव्य कृतियां हैं। इनमें 'हरनामामृतम् की समीक्षा तो महाकाव्यात्मक दृष्टि सेसम्पन्न होनी सम्भव है, किन्तु 'विश्वमानवीयम्' शुद्ध रूपेण एक ऐसा विचार प्रधान चिति काव्य है

---

३. डा० केशव राय मुसलगावकर-संस्कृत महाकाव्य की परम्परा पृ० १२८

४ दण्डी-काव्यादर्श-१४

५. केशव राय मुसलगावकर-संस्कृत महाकाव्य की परम्परा पृ० १३२

जिसका पर्यवेक्षण प्राचीन परम्परा की अपेक्षा नवीन युगीन दृष्टि से ही संभव है यह काव्य संस्कृत महाकाव्य परम्परा को एक नई दिशा व नव बोध देने वाला महाकाव्य है।

(क) हरनामामृतम् :-

आलोच्य महाकाव्य की सर्जन प्रेरणा :-

"महाकाव्य के स्थाई तत्त्वों मे सर्व प्रमुख स्थान महान् उद्देश्य और महती प्रेरणा का है।"[1] प्रत्येक महाकाव्य के मूल में कोई न कोई महत् प्रेरणा ही कार्य करती है जो सम्पूर्ण महाकाव्य के कलेवर में प्राणशक्ति के समान आदि से अन्त तक परिव्याप्त रहती है।[2]

भारतीय संस्कृत एवं उसकी उच्च संस्कृति के समस्त अंगों व स्वरूपों को विभासित करने वाले इस महाकाव्य में कवि ने १६ सर्गों में अपने पितामह के जीवन वृत्त को चित्रित किया है। भारतीय संस्कृति के शाश्वत गौरव के स्थायित्व में,संस्कृत के महान् मनीषियों के त्यागमय जीवन का जो अविस्मरणीय योगदान रहा है, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन में श्रद्धा-सुमन समर्पित करना प्रत्येक भारतीय का कर्त्तव्य है। (वि. प्र. १ लो० ३६)' कवि ने ऐसे तपस्वी एवं जीवन दानियों में अग्रगण्य एक सात्विक ब्राह्मण की जीवन गाथा को अपने इस काव्य का इतिवृत्त बनाया है, चूंकि चरित नायक कवि के पितामह थे। कोई इसे अपनी कुल की प्रशस्ति न समझे अतः उनका स्पष्टीकरण भी द्रष्टव्य है—

नेयं प्रशंसा हि कुलस्य काचित्सत्य प्रकाशाय निमित्तमेतत्
शिरॅयॅयॅण शान्ति सदैव सर्वे गेयं हि नित्यं गुरु गौरवञ्च
(वि. प्र. ३१-३५)

इस प्रकार इस काव्य के द्वारा कवि उन उदारचेता, प्रशान्तस्वभाव वाले विद्वानों का चरित चिन्तन करना चाहता है जिनका प्रकाश सर्वत्र आलोकित है। इसके अतिरिक्त अभिनव संस्कृत साहित्य के काव्य सर्जन को प्रोत्साहन देना भी श्री शास्त्रीजी ने अपना एक उद्देश्य माना है।

---

१. डा० शम्भुनाथ सिंह 'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास" पृ० २८४
२. डा० देवीप्रसाद गुप्त "हिन्दी महाकाव्य..सिद्धांत और मूल्यांकन" पृ० १६१

क्योंकि अब भी संस्कृत के प्राचीन पण्डित वर्ग नवीन रचना को प्राचीन के समक्ष तुच्छ एवं उपेक्षणीय मानते हैं। किन्तु हमारे कवि के चिन्तन में प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों ही मनीषा प्रतिभा का अपना अपना महत्व है। वैचारिक उन्मेष की दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं।

> नव पुराणं न च वेद्मिकिञ्चित् सदानवं यस्यकृते पुराणम्
> हृासो विकासश्च मिथः सह्यं ममेतो भेदोऽस्ति हरे हरौ वा॥
> (वि०अ० २-१५)

इस प्रकार प्रस्तुत महाकाव्य की रचना की प्रेरणा व पृष्ठ भूमि भारतीय संस्कृति के प्राचीन उज्ज्वल रूप को और भी अधिकतम उज्ज्वल रूप में देववाणी के अभिनव स्वरूप में विभासित करना है। जिसमे उसकी दिव्यता सदा बनी रहे।

'हरनामामृतम्' महाकाव्य पर शास्त्रीय दृष्टिः—

प्राचीन व नवीन शैली से समन्वित प्रस्तुत महाकाव्य संस्कृत साहित्य के अभिनव महाकाव्यों में अपनी अनेक नवीन शिल्प कौशल से अपना विशेष स्थान रखता है। शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार [1] महाकाव्य सर्ग बद्ध रचना हो इसमें आठ या इससे अधिक सर्ग हों। नायक देवता,क्षत्रिय अथवा धीरोदात्त हो। शृंगार, वीर और शान्त इन तीन रसो में से कोई एक प्रधान तथा अन्य रसों का अंग रूप से परिपाक हो। इतिहासोद्भव अथवा सज्जनों का वृत्त हो। आदि में नमस्क्रिया और आशीर्वचन हो। प्रत्येक सर्ग एक वृत्त तथा सर्गान्त में भिन्न वृत्त हो अथवा भिन्न भिन्न वृत्तों वाले में भी सर्ग हो सकते हैं। सर्गान्त में अगले सर्ग का कथा संकेत हो। सर्ग न अधिक बड़े और न अधिक छोटे हों। प्रसगवशात् सूर्योदय, सन्ध्या, चन्द्रोदय, रात्रि, वन, पर्वत, नगर, सागर, वन, तपोवन तथा यज्ञ प्रभृति के वर्णन हों। महाकाव्य के नायक अथवा घटना के नाम पर काव्य का नाम तथा सर्गगत कथा के आधार पर सर्ग का नाम हो।

महाकाव्य के लिए निर्धारित उपर्युक्त परम्परित मान बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में आलोच्य कृति का अवलोकन करने पर यह पाते हैं कि यद्यपि

---

१ विश्वनाथ-साहित्य दर्पण (३१५-३२४)

'हरनामामृतम्' एक सफल महाकाव्य है किन्तु फिर भी इसमें सर्वथा प्राचीन महाकाव्यों की अलंकृत शैली व मान्यताओं की सीमाओं में ही कवि बधा हुआ नहीं रहा है अपितु युग की नवीन दृष्टि व आवश्यकताओं को भी स्वीकार किया है। इस दृष्टि विशेष के कारण इसमें प्राचीन महाकाव्यों के लिए निर्धारित आवश्यक तत्त्वों के अस्तित्व की स्थिति में कुछ अन्तर पाते हैं तथा इसके नायक के चयन में अन्तर है। इसका नायक शास्त्रोक्त देवता, अवतार पुरुष अथवा क्षत्रिय राजा नहीं है अपितु व्याकरण शास्त्र का एक महापण्डित है, भाष्य का दिग्गज विद्वान् है, जिसे हम यदि शब्दार्थी के नाम से अभिहित करें तो इस नायक के लिए यह उपयुक्ततम होगा। यह ऋषि-कल्प विद्वान् भारतीयता की एकान्त भावना से उपासनारत एक ऐसा सात्विक एवं सद्-गृहस्थ है जिसके हृदय में धर्म, संस्कृति तथा समाज की दयनीय दशा के प्रति अति दयार्द्र भाव है और जो अपनी सम्पूर्ण सामर्थ्य के साथ इन सब के समुद्धार एवं विकास के लिए सर्वात्मना कृत् संकल्प है। इस प्रकार शास्त्रानुसार इसका नायक धीरोदात्त है।

अविकत्थन क्षमावानति गंभी रोमहातत्व
स्थेया निगूढ़ मानो धीरोदात्तो दृढ़ व्रतः
(सा० द०-३१-३२)

यह विनयी व क्षमावान, गंभीर बलशाली तथा अध्यात्मशक्ति सम्पन्न विशिष्ट व्यक्तित्व का धनी है। वह प्रकृति से निरहंकारी है, उसके शरीर बल, मनोबल तथा बुद्धि बल सामान्य पुरुषों से विशिष्ट है।

इसके अतिरिक्त इस महाकाव्य में परम्परित प्राचीन महाकाव्यों के समान शृंगार, वीर और करुण आदि में से किसी भी एक रस की प्रधानता नहीं है। अपितु इसका प्रधान रस शान्त है, जो अपनी पूर्ण परिपक्व व उदात्त स्थिति में संस्कृत प्रेम के रूप में उद्भासित है। किन्तु अन्य रसों का पूर्णतया अभाव हो ऐसी स्थिति भी नहीं है। करुण, वीर और शृंगार आदि भी यथावसर उन्मेषित हुए हैं किन्तु उन सबका स्वरूप सात्विक ही है। हां, करुण रस की परिपक्वता के अनेक ऐसे स्थल अवश्य उपस्थित हैं जिनका अपना मनोवैज्ञानिक महत्त्व है। इस प्रकार शान्त, वीर, करुण और शृंगार इन सभी रसों की उद्रेक स्थिति उस काव्य में उपलब्ध है। आगे हम एक-एक उदाहरण इन में से कुछ रसों के प्रस्तुत कर रहे हैं:-

हमारे कवि व नायक दोनों ही संस्कृत भारती के उपासक हैं

अतः शान्त रस का उदाहरण सर्वप्रथम द्रष्टव्य है:—

तेषामेवं सुधीनां सुकृतपथजुषां शास्त्रचिन्तारतानाम्
लोकेऽस्मिन् प्रार्थनीयं यमनियमवतां सात्विकं जीवनं तत् ।
शान्तं सौम्यं पवित्रं जगति विजयते संस्कृतात् संस्कृतानाम्
यस्मिन् धर्मस्य नित्यं भवदुरितहरी भासते पुण्यधारा ॥
(वि० प्र० ३४ - ५६)

अंगरूप में आये अन्य रस भी द्रष्टव्य एवं आस्वादनीय हैं:—

विधाय नाम स्मरणं गुरोश्च ध्यायंस्तथा भारति वीरमूर्तिम्
आस्फालयन् बाहुतटं विशालं पूर्णो स रंगस्य दधार मूर्ध्नि ॥
(वि० प्र० १३ - १०)

☐ ☐ ☐करुण रस

श्रुत्वा यथा यद् घटितं तदातङ्-पत्येदयै बन्धुगणे प्रवृत्ते
स्वयं प्रयत्ने व्यथितान्तरात्मा क्षणाय शान्तिं जनको न लेभे ॥
(वि० प्र० १९ - ३०)

☐ ☐ ☐श्रृंगार रस

स्फीत-स्तनीनां घटधारिणीनाम् संदर्शनीये गजकुम्भमर्दे
दृष्टिर्यदृच्छापतितापि दूरात् जनं विदीर्णं कुरुतेऽम दीनम् ॥
(वि० प्र० ३३ - ४३)

इसी प्रकार अन्य रसों की संयोजना भी यथावसर मिलती है ।

वस्तु की दृष्टि से यह काव्य एक चरित काव्य है । इसमें अन्य चरित-महाकाव्यों के समान नायक के जीवन के विविध प्रसंगों पर अधिक बल न देकर उसके व्यक्तित्व विकासक पक्षों यथा–भारतीय संस्कृति के संरक्षक, संतोषपूर्ण भगवत् कृपाधीन जीवन वृत्ति, सत्य संरक्षक, परहिताय जीवन अर्पण तथा उसके विद्या व्यसनी स्वभाव आदि गुणों को विशेष रूप से प्रकाशित किया है । इसके साथ ही नायक के समकालीन संस्कृत के महान् मनीषियों के व्यक्तित्व का भी गौरवपूर्ण स्मरण है । संस्कृत सम्मेलनों और यज्ञादि के अवसरों पर शास्त्रार्थादि का यथा अवसर वर्णन अति-सुन्दर है । इस प्रकार यह काव्य अपने युग की एक प्रकार से सांस्कृतिक

यशोगाथा है। चरित नायक के जीवन की सभी घटनाएं जो इस महाकाव्य, मे चित्रित है, वास्तविक हैं, काल्पनिक अथवा अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं। हां इनमें काव्य सुलभ विस्तार अवश्य है। कवि ने जीवन वृत्त के उन्ही प्रसंगों को विशेषरूप से चित्रित किया है जो उसके काव्योद्देश्य के लिए आवश्यक रहे।

सर्ग-योजना व नामकरण भी उचित हैं। इसमे १६ सर्ग है तथा श्लोकों की कुल संख्या ८७० है। प्रति सर्ग श्लोक संख्या ५५ है। महाकाव्य के प्रारम्भ में कवि ने अपनी इष्ट देवी सरस्वती माता[1], नागरी भण्डार की वन्दना कर शास्त्रोक्त नमस्क्रिया की परम्परा का पालन किया है।

सर्गों मे एकवृत्तीय तथा विभिन्न वृत्तों का नियम कवि ने यथा शक्य निभाया है। प्रत्येक सर्गान्त में सर्गगत छन्द से भिन्न छन्द है। सर्ग न अधिक छोटे हैं और न अधिक बड़े। आवश्यकतानुसार सर्गान्त मे आगामी कथा व प्रसंग का भी संकेत है। किन्तु सर्ग का नाम किसी सर्गगत घटना विशेष से अभिहित नही है।

प्रातः काल, सन्ध्या, सूर्योदय, रात्रि, वन, पर्वत तथा नगरादि के वर्णन एव प्रसंग आये हैं किन्तु इन सब के चित्रण में दृष्टि नवीन है यथा काशी वर्णन मे कवि ने उसके भौतिक रूप का ही वर्णन न करके उसके सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक स्वरूप का आलंकारिक निरूपण किया :–

> विद्यालयानां विबुधालयानां कलालयानां च कुलैक भूमिः
> अलौकिकी कापि पुरी त्रिलोक्यां वाराणसी विश्वपते विभूतिः
> (वि० ग्रं० १७-१)

इसी प्रकार गया वर्णन भी अति मनोहर एवं महत्त्वपूर्ण है :–

> शैलकूटादधो वेतात् स्त्रवन्ती गुञ्जिताचला
> न चित्तं हरते केषां कलैः कल कल स्वरैः
> (वि. ग्र. ६२-११)

---

१. श्री नागरी भण्डार भवन (बीकानेर) के भव्य भवन में विराजमान मां सरस्वती की धवल शुभ्र दिव्य प्रतिमा की वन्दना है। जहां सन् १९३७ से कवि निरत साधना रत रहे।

इस काव्य मे चित्रित यह वर्णन तो अपने आप मे अद्वितीय है।

इसके अतिरिक्त काव्य का कला पक्ष भी पूर्ण सशक्त है। कही पर भी कल्पना व चमत्कारों का अभाव हो यह बात नही है किन्तु उस चमत्कार प्रदर्शन के लिए कष्ट साध्य प्रयास कुमापि दृष्टिगत नही होता। सर्वत्र ही सरलता एवं स्वाभाविकता है। भाषा और शैली की दृष्टि से यह काव्य उन प्राचीन महाकाव्यों के अतिनिकट है जो अपनी प्रासादिकता के लिए संस्कृत साहित्य में मान्य व प्रसिद्ध हैं यथा-कालीदास के काव्य। चिन्तन पक्ष तो इसमें विशिष्ट रूप से उभरा है। भारतीयता की दिव्यता इसके शब्द-शब्द से द्योतित होती है। भारतीय दर्शनों का समन्वित रूप इसमें दृष्टिगत होता है। इस प्रकार यह काव्य प्राचीन महाकाव्यों की शास्त्रीय परम्परा से आबद्ध होता हुआ भी अपनी स्वतन्त्र गति और स्वतंत्र मति से विकसित हो कर अपने विशिष्ट सात्विक रूप रचना के निर्माण में पूर्ण सफल हुआ है। सम्प्रति इसके कथावस्तु, पात्रों के चरित्र विकास, भाव पक्ष, शिल्प विधान तथा चिन्तन पक्ष आदि पर पृथक्-पृथक् रूप में कुछ विशेष विस्तार से विचार कर रहे है।

प्रस्तुत महाकाव्य का सर्गानुसार कथा वृत्तः-

□ □ □ प्रथम सर्ग

इस सर्ग मे सर्व प्रथम उस परा विभूति का स्मरण व नमन किया है जो इस विश्व को विभासित करती है। तत् पश्चात् सत्काव्य की शक्ति तथा उसकी प्रवृति के हेतु को बता कर अभिनव संस्कृत काव्य के सर्जन की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है। अपनी संस्कृति की महत्ता का निर्देशन करते हुए उसके व्यापक प्रसार व प्रचार के औचित्य को बताया गया है, और अन्त मे संस्कृत के मनीषियों के उदात्त चरित्र विकास को इसका ही एक स्वरूप मानते हुए प्रस्तुत काव्य की रचना को उसी दिशा मे किया गया एक प्रयास माना है।

□ □ □ द्वितीय सर्ग

भूमिकात्मक प्रथम सर्ग की समाप्ति के पश्चात् द्वितीय सर्ग के प्रारंभ मे कवि ने अपने इस ब्रह्मर्षि देश भारत और उसमें निवास करने वाले मनस्वी

पुरुषों का स्मरण किया है, तदनन्तर चरितनायक के पिता मुरारीदत्त की ऋषि तथा पितृ ऋण की मुक्ति के लिए पुत्र अभाव-जन्य मनोव्यथा तथा उनकी शिव साधना के फलस्वरूप पुत्र प्राप्ति के वरदान का उल्लेख है। इस सर्ग के अन्तिम आठ श्लोकों में कुल परम्परा के पालनार्थ मुरारिदत्त को दिया गया परामर्श व उपदेश विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रसंग में भक्ति के जिस अवन्ध्यारूप का कवि ने निरूपण किया है वह अति श्लाघ्य है।

□ □ □ तृतीय सर्ग

प्रभु कृपा फलवती होती है। नायक का घर और गाव उसके जन्मोत्सव से प्रफुल्लित हो उठता है। किन्तु समय की अविगत गति को कोई नही जानता यह आनन्द का वातावरण कुछ समय के पश्चात् ही शोक के रूप में परिवर्तित हो जाता है। नवजात शिशु को असहाय छोड़कर उसकी माता वहीं चली जाती है जहा से कोई वापिस नही लौटता। मातृ विहीन बालक का लालन-पालन उसकी पितृव्या हरदेई करती है। तत्पश्चात् नायक की बाल सुलभ क्रीड़ाओं और फिर उसकी उद्दण्ड बाल वृत्ति, पठन में अरुचि और मल्ल विद्या के प्रति उसका आकर्षण तथा पिता मुरारि दत्त को उसके इस व्यवहार से मानसिक असन्तोष, और उद्दण्ड बालक को सही मार्ग पर लाने के लिए उसे विवाह बन्धन में बांधने आदि का काव्यात्मक शैली में वर्णन किया है।

□ □ □ चतुर्थ सर्ग

इस सर्ग में पुत्र के उद्दण्ड स्वभाव को नियन्त्रित करने में असमर्थ नायक के पिता की अति व्यग्र मनःस्थिति का प्रारम्भिक श्लोकों में वर्णन है। पिता की अन्तर्व्यथा का कुछ आभास होने पर नायक अपने अन्दर सुधार का प्रयास करता है किन्तु एकाएक वामन पर्व पर एक ऐसा अवसर आता है कि वह पिता की इच्छा के विपरीत किसी आगत मल्ल से मल्ल-युद्ध कर बैठता है और विजयी होता है। जगाधरी के सारे लोग इस विजय पर प्रसन्न हैं किन्तु नायक के पिता द्वारा नायक की सभी के समक्ष भर्त्सना से हरनाम को बड़ी आत्मग्लानि होती है और वह घर से निकल जाता है। फिर दिल्ली में किसी अन्य मल्ल से पराजित होने पर वह किसी वृद्धजन से अभिप्रेरित होकर अध्ययन हेतु आगरा को प्रस्थान करता है।

□ □ □ पंचम सर्ग

इसके प्रथम १० श्लोकों में काशी नगरी के आध्यात्मिक स्वरूप का वर्णन है। दृढ निश्चयी व सशक्त शरीर वाले शिष्य को पाकर नायक के गुरुजन धन्य हो जाते हैं। नायक के अध्ययन प्रसंग में कवि ने उस समय के छात्रावासों तथा उसके अन्य योग्य सहयोगी छात्र जो अपने समय के अति प्रसिद्ध विद्वान हुए हैं आदि का वर्णन है। विद्याध्ययन के पश्चात् नायक वाराणसी में ही अध्यापक बन जाता है। इसी प्रसग में उसकी सरल शिक्षण शैली तथा उसकी ख्याति को सुनकर दूर-दूर से आने वाले छात्र आदि का प्रसग हमें पढने को मिलता है। उधर पिता के पास उसके प्रवास के पश्चात् किसी प्रकार का कोई वृत्त न मिलने के कारण पुत्र के वियोग में वृद्ध पिता की अन्तर्व्यथा तथा नायक की पत्नी के व्रतादि द्वारा भारत की आदर्श गृहिणी के भव्य स्वरूप की आज की भारतीय नारी से तुलना की गई है। किसी तीर्थ यात्री के द्वारा मुरारिदत्त को हरदत्त के काशीनिवास की सूचना मिलती है और वह पुत्र-वधु को लेकर वहीं पहुँचता है। पुत्र के उस महिमामय स्वरूप अर्थात् उसे एक आदर्श अध्यापक के रूप में देखकर नायक का पिता अत्यन्त प्रसन्न होता है और कुछ समय तक वहीं निवास कर वापिस जगाधरी लौट जाता है।

□ □ □ षष्ठ सर्ग

पिता श्री के घर लौट जाने पर चरित नायक एक आदर्श गृहस्थ के रूप में अपना समय व्यतीत करता है। भगवत् कृपा से शीघ्र ही उसे पुत्र-रत्न की प्राप्ति होती है और पुत्र की बाल केलि से नायक और उसकी पत्नी अति आनन्दित होते हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश वह शिशु एकाएक काल-कवलित हो जाता है। इस समय नायक का मन संसार से फट जाता है, उसे सब कुछ शून्य और अस्थिर आभासित होता है। किन्तु शीघ्र ही काशी के विद्वज्जनों के उपदेश से वह अपनी मनः स्थिति को नियंत्रित कर लेता है किन्तु इस घटना से उसके जीवन की दिशा ही बदल जाती है। और अब चरित नायक का प्रायः सारा समय देवार्चन तथा स्वाध्याय मनन में ही व्यतीत होता है और वह एक निर्लिप्त योगी के समान ससार के कर्त्तव्यों का पालन करता है। इसी जीवन क्रम में एक रात्रि में ब्राह्ममुहूर्त में उसकी एक ब्रह्म- राक्षस से भेंट होती है और उसके अनुनय विनय पर वह उसकी मुक्ति की व्यवस्था करता है।

□ □ □सप्तम सर्ग

चरित नायक की ख्याति सुनकर राजस्थान के 'चूरू' नगर के सेठ भगवानदास बागला उनके पास जाता है और उनसे चूरू निवास का प्रस्ताव करता है। पहले तो काशी के पवित्र वातावरण को छोड़कर जाने मे वे असमर्थता प्रगट करते हैं किन्तु पुनः श्रेष्ठिवर्य की युक्तिपूर्ण अनुनय विनय के पश्चात् वे राजस्थान प्रवास हेतु प्रस्तुत हो जाते हैं। इसी प्रसंग में मरुप्रदेश की प्राकृतिक सुषमा का अतीव मनोमुग्ध कारी चित्रण किया गया है जो कि संस्कृत साहित्य मे अनुपम है।

□ □ □अष्टम सर्ग

इसके प्रारम्भ मे भाष्याचार्य महोदय के चूरू आगमन पर चूरू के नागरिकों द्वारा किये गये नायक के अभूतपूर्व स्वागत का वर्णन है। तत्पश्चात् संस्कृत पाठशाला में अध्यापन, उनकी सरल सुबोध शैली तथा दूर-दूर के छात्रों का उनके पास आकर अन्तेवासी होना और इन सबके फलस्वरूप चूरू की प्रसिद्धि शेखावाटी मे नव वाराणसी के रूप में होने का निरूपण है। इस विद्यालय वर्णन मे प्राचीन और अर्वाचीन छात्र-जीवन का तुलनात्मक चित्रण कर कवि ने प्राचीन छात्रावासीय आदर्श जीवन की श्रेष्ठता का बड़ा प्रभावी प्रतिपादन किया है।

□ □ □नवम् सर्ग

विक्रम सं. १९५६ मे पड़े राजस्थान के भयंकर दुर्भिक्ष का बड़ा ही करुणापूर्ण चित्रण इसके १५ श्लकों मे किया गया है। प्राणी मात्र अन्न और जल के अभाव में क्लान्त हो उठते हैं चरित नायक जीव जगत् की इस दैन्य दशा को देखकर करुणा से द्रवित हो उठता है। इस प्राकृतिक प्रकोप के निवारण हेतु उसका ब्राह्मणत्व जाग उठता है। वह नगर के सभी द्विज श्रेष्ठों से इस विपत् निवारण के लिए शिव के रुद्राभिषेक करने का आह्वान करता है। आशुतोष शिव की विधिवत् पूजार्चना होती है और फलस्वरूप शीघ्र ही इन्द्र की कृपा से नगर में अभूत पूर्व वर्षा होती है इन सबका बड़ा सुन्दर निरूपण इस सर्ग की विशेषता है।

□ □ □दशम सर्ग

इस सर्ग में नायक अपने भक्तों एवं शिष्यो के साथ तीर्थयात्रा के

लिए प्रस्थान करते हैं। मारवी यात्रा में दिन और रात्रि में कैसा अनुभव होता है, वह कितनी कष्टकर तथा कितनी मधुर एवं आनन्दमयी हुआ करती है, इसका वर्णन इसके प्रथम १२ श्लोकों में पाठकों को मिलता है। मार्ग में ग्रामीणजनों में नायक का सम्मान व प्रश्नोत्तर भी अपने आप में महत्वपूर्ण है। दस्युदल द्वारा उनके यात्री मण्डल को घेर लेने पर नायक का उनके साथ निर्भीकता पूर्वक वार्तालाप फिर उन्हें सच्चे क्षत्रिय बनने का उपदेश आदि का वर्णन है, जो इस सर्ग की अपनी विशेषता है। अन्त में अनेक तीर्थस्थानों की प्रशस्ति वर्णन है।

☐ ☐ ☐ एकादश सर्ग

यह सर्ग इस महाकाव्य की आत्मा है क्योंकि कवि ने अपने उच्च व उदात्त विचारों को इसी में निबद्ध किया है। सर्व प्रथम वानप्रस्थ जीवन के प्रति नायक का आकर्षण दिखाते हुए उसका अपने पुत्रों को गृहस्थाश्रम धर्म की पालना का उपदेश वर्णित है, फिर नायक हरिद्वार चला जाता है और वहां सिद्धाश्रम में वानप्रस्थी के रूप में रहते हुए निरन्तर स्वाध्याय, चिन्तन व तपस्या में अपना समय यापित करता है और अन्त में कवि ने पर्वतीय सुषमा का बड़ा ही मनोहारी निरूपण किया है।

☐ ☐ ☐ द्वादश सर्ग

इसमें नायक के सिद्धाश्रम वास के समय का वर्णन है। गुरुकुल कॉंगड़ी आदि के छात्रावासीय जीवन का वर्णन भी सोद्देश्य है। तथा उस समय के देश के विद्वानों व देशभक्तों के नामों की एक सूची भी है जो नायक के शिष्य अथवा सहयोगी श्रद्धालु रहे, जिनमें स्वामी श्रद्धानन्द, काका कालेलकर, नरदेव शास्त्री तथा पद्मसिंह शर्मा आदि प्रमुख हैं। तद् पश्चात् गीता की प्रादुर्भाव स्थली कुरुक्षेत्र का वर्णन है जहां चरित नायक ब्राह्मण सम्मेलन की अध्यक्षता हेतु जाता है।

☐ ☐ ☐ त्रयोदश: सर्ग

यह सर्ग उस महाकाव्य का एक प्रकार से संदेश सर्ग है। सम्पूर्ण सर्ग में माप्याचार्य महोदय का ब्राह्मण महासभा में सभापति पद से दिया गया अध्यक्षीय भाषण है। प्रथम १५ श्लोकों में ब्राह्मणोचित कर्तव्यों तथा उनके लिए विहित लोक सेवा का वर्णन है। तत्पश्चात् वर्णाश्रम व्यवस्था का औचित्य तथा ब्रह्मवेत्ता बनने के लिए ब्राह्मण जाति को

उद्बोधन और अन्त में विश्व कल्याण की कामना की गई है। इस सर्ग का प्रत्येक श्लोक अपना विशिष्ट मन्तव्य रखता है।

□ □ □ चतुर्दश सर्ग

प्रारम्भ में हरिद्वार के धार्मिक वातावरण का सुन्दर वर्णन है और फिर वहां किसी यज्ञ में आगत विद्वानों का 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' इस विषय पर शास्त्रार्थ का संकेत कर नायक द्वारा इस शास्त्रार्थ पर अपना निर्णय देते हुए यज्ञ मे पशुवध का निषेध कराया है और यज्ञ तत्व का विशद और विशिष्ट निरूपण किया गया है। यज्ञतत्वों की युगानुरूप व्याख्या इस सर्ग की अपनी विशिष्टता है।

□ □ □ पंचदश सर्ग

इसके प्रथम १५ श्लोको में भगवती गंगा का आकर्षण व सांस्कृतिक वर्णन है तत्पश्चात् कुंभ पर्व पर नायक की शोभा यात्रा और उसे फिर उसी अवसर पर हुए संस्कृत सम्मेलन मे उसके द्वारा सुर भारती की महत्ता व उपयोगिता बताई गयी है। सुरभाषा का सुरभाषा में यह महत्त्व इस काव्य की अनेक विशेषताओं में से एक है। अन्त मे संस्कृत के प्रचार व प्रसारार्थ आह्वान है।

□ □ □ षोडष सर्ग

इस अन्तिम सर्ग में कुल ७४ श्लोक है। प्रारम्भ में नायक की रुग्ण-वस्था पर तथा शिष्यों द्वारा उनकी परिचर्या का वर्णन है। जीवन की अन्तिम वेला में चरित नायक द्वारा दिया गया संदेश 'द्विजैर्द्विजत्वं हि सुरक्षितं चेत् सुरक्षितं तेन भवत्यशेषम्' के साथ उनके महाप्रयाण का संकेत है और उसके पश्चात् उनके विद्वान शिष्यों की एक लम्बी सूची है, जिन्होने उनके अमर संदेश को अपने जीवन मे चरितार्थ करते हुए भारत में वास्तविक भारतीयता का प्रचार किया। अन्त में अपनी यह सुसंस्कृति सदा अजर अमर रहे और अपने दिव्यत्व को सदा प्रभासित करती रहे इस शुभकामना के साथ इस महाकाव्य का समापन किया गया है।

कथानक समीक्षाः-

प्रस्तुत महाकाव्य की वस्तु इस शतक के संस्कृत के एक महापण्डित

के जीवन विकास पर आधारित है। इसकी संक्षिप्त कथा वस्तु का आस्वादन हम पूर्व पृष्ठों में कर चुके हैं, जिसमें हमने देखा कि एक श्रेष्ठ महाकाव्य में जिन कथा प्रसंगो की उद्‌भावना आवश्यक है, वे सभी प्रसग प्रस्तुत कथानक में आये हैं। इसमें एक सात्विक मनीषी के जीवन वृत को बड़े ही प्रभावोत्पादक ढग से कवि ने उभारा व चित्रित किया है। नायक के जीवन की घटनाओं के माध्यम से कवि ने देश की तत्कालीन ब्राह्मण संस्कृति का सही चित्र हमारे समक्ष रखा। पात्रों के चरित्र विकास के लिए उन्हीं प्रसगो को उद्‌भासित किया गया है, जिनका संबंध भारतीय सस्कृति के पुनीत स्वरूप से है। यद्यपि राजनैतिक दृष्टि से उस समय हमारा देश पराधीन रहा किन्तु अपने धर्म, अपनी सस्कृति और सभ्यता के प्रति अतीव अगाध श्रद्धा उस समय के जन मानस मे थी, इसका वास्तविक प्रकन इसमें है। इस प्रकार यह कथानक एक प्रकार से हमारी प्राचीन सस्कृति के तत्कालीन स्वरूप का मूर्तरूप ही है। उसका विषय विस्तार सन्तुलित बुद्धि से किया गया है। न तो अपेक्षित की उपेक्षा है और न ही अनावश्यक विस्तार। सूत्र व संक्षिप्त रूप में अपने विचार प्रस्तुत करने के अभ्यासी श्री शास्त्री के भीतर का कवि इस दृष्टि से पूर्ण सफल है। चरित नायक के जीवन की किसी भी घटना की उपेक्षा नहीं की गई है, किन्तु उन घटना प्रसगो को जानबूझ कर छोड़ दिया गया है जिनका वर्णन कवि की दृष्टि में आवश्यक है यथा नायक का विवाह प्रसग व शृंगार वर्णन आदि। किन्तु जिस उद्देश्य विशेष को लक्ष्य में रखकर इस काव्य का सर्जन हुआ है इस दृष्टि से उक्त अभाव अधिक नही खटकता। अपेक्षित सभी प्रसग यथा बाल्यावस्था का उद्दण्ड जीवन, नायक का पितृ श्री की प्रताड़ना के फलस्वरूप घर से पलायन, वाराणसी मे अध्ययन व अध्यापन और राजस्थान में आगमन, वर्षा के लिए रुद्राभिषेक, मरु-यात्रा, तीर्थ यात्रा तथा वान प्रस्थाश्रम में हरिद्वार निवास एवं विभिन्न सस्कृत व सस्कृति सम्मेलनों की अध्यक्षता तथा शास्त्रार्थों में निर्णायक पद आदि का समुचित वर्णन किया है। ऐसे प्रसगों में काव्य के सत्य को युगजीवन के अनुरूप ग्राह्य बनाने के लिए श्रीयुत् शास्त्री ने अपने स्वतन्त्र चिन्तन को भी मुखरित किया है। यथा वैदिकी 'हिंसा हिंसा न भवति' प्रभृति इसके प्रमाण हैं। इस प्रकार अपेक्षित एवं समुचित प्रकार की दृष्टि से कथावस्तु निर्दोष है।

संस्कृत व संस्कृति के उपासक एवं उन्नायक श्री शास्त्री ने कथानक

का चयन अपनी सांस्कृतिक गरिमा के अनुसार ही किया है। कथानक और उसके काव्य रचयिता दोनों का सम्बन्ध अति निकट का है। श्रेष्ठ व सात्विक कथानक को अपनी उच्च ऊहात्मक प्रतिभा शक्ति के द्वारा हमारा मेधावी कवि अपने चमत्कार चातुर्य से साहित्य रसिकों के मन मानस में अंकित करने मे पूर्ण सफल हुआ है। पाठकों को पठन करते समय किसी प्रकार की उकताहट नही होती। रागात्मक तत्व, बुद्धितत्व और कल्पना तीनों का अपूर्व संगम इस में उपलब्ध है। हो सकता है परम्परित शास्त्रीय दृष्टि से कुछ लोगों को इसकी कथावस्तु में परम्परित काव्योचित व्यापकता न मिले, जिसका कुछ संकेत ऊपर की पंक्तियों मे भी किया गया है, किन्तु इस विषय में इतना ही निवेदन है कि आजकल महाकाव्यों मे कथावस्तु का संक्षिप्त रूप उनकी विशिष्टता स्वीकार की जाने लगी है। वास्तव में महाकाव्य का प्राण तत्व उसके उद्देश्य की महानता और विचारों की उच्चता में है, जो 'हरनामामृतम्' में विद्यमान है। अतः यदि कोई इसका आलोचक इसके कथानक में महाकाव्यत्व का अभाव देखे तो यह उसकी वीतेकल की दृष्टि का ही लक्षण है, प्रगतिशील समीक्षक की दृष्टि से तो यह कथानक अपने आप में पूर्ण व समीचीन है।

चरित्र विधान :

हरनामामृतम् जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है, यह एक चरित्र-प्रधान महाकाव्य है। इसमें भारतीय संस्कृति और संस्कृत की पुनीत परम्परा के अजस्र प्रवाह में सतत योग देने वाले अनेक द्विजाग्रगण्यों के नैष्ठिक जीवन की झाकियां प्रस्तुत हैं। वैसे नामावली की दृष्टि से शताधिक विद्वानो के नाम उनकी विद्वद् गरिमा के साथ इसमे सकेतित है। किन्तु उनमें से ऐसे दो पात्र है जिनके जीवन के उदात्त स्वरूप की प्रस्तुति इस काव्य में हुई है। प्रथम है चरित नायक भाष्याचार्य प० हरनामदत्त और दूसरे हैं उनके पिता श्री पं० मुरारिदत्त। चरित विकास की दृष्टि से कवि का यह काव्य पूर्ण सफल है। नायक की पूर्व जन्म की स्थिति से लेकर जीवन के पूर्ण उत्कर्ष तथा उनके महाप्रयाण के पश्चात् उनके शिष्य समुदाय द्वारा जीवन संदेश के प्रसारार्थ एक सफल अनुष्ठान की सुंदर कल्पना कवि ने प्रस्तुत की है। महाकाव्य के विकास के आधार ये पात्र ही हैं। कवि के पात्रों का चरित्र विकास उसके स्वयं के व्यक्तित्व के समान ही महनीय है। आगे की पक्तियो में इसके दोनों पात्रों के चरित्र चित्रण का प्रयास है:—

पं० मुरारिदत्त

मुरारिदत्त हरनाम के पिता हैं। आप अपने समय में अपने जन पद के एक अच्छे सुप्रतिष्ठित वैद्य एवं नैष्ठिक द्विज के रूप में सम्मानित रहे। इनका प्रथम परिचय ही हमें एक कर्तव्य परायण स्थिर चित्त वृत्ति वाले उदार मना व्यक्ति के रूप में कवि कराता है:—

> मन्त्रक्रियायां रससाधने च व्यासक्तवृत्तिः स्थिरचित्तवृत्तिः।
> गोसेवया शंकरसेवया वा निनाय कृत्स्नं समयं सुखेन॥
> (वि. ग्रं. ५२-८)

यह सत्य और स्वाभाविक भी है कि स्थिर चित्त वृत्ति वाला व्यक्ति ही वास्तव में कर्त्तव्य परायण अनासक्त स्वभावी तथा परहिताय अपना जीवन धारन कर सकता है। प० मुरारिदत्त संतोषी स्वभाव के तथा शान्त रहने वाले थे। न तो उन्हे किसी प्रकार की अर्थ-कामना थी और न यश की ही, अपितु सदा यथा शक्ति परोपकार में निरत रहते थे। यद्यपि इनके जीवन मे सामान्यतः किसी प्रकार का अभाव नहीं था, किन्तु एक अभाव उन्हें सदा उद्विग्न बनाये रखता था, वह था उनके परिवार में संतति का न होना। पुत्र की कामना का हेतु भी उनका सामान्य जन-सुलभ तुच्छ मोह व सांसारिक लगाव न हो कर ऋषि और पितृ ऋण की मुक्ति ही था। इस प्रकार इनकी पुत्रैषणा में भी सांस्कृतिक सुरक्षा की भावना ही थी। पण्डित जी शंकर के भक्त थे। अतः आपने दुख का निवेदन भी अपने आशुतोष के समक्ष प्रकट किया। सरल और सात्विक हृदय की प्रार्थना कभी निष्फल नहीं होती। हरी कृपा से इन्हें शीघ्र ही पुत्र-प्राप्ति हुई। किन्तु गृहस्थ जीवन की अनुभव के अनुसार कुछ समय पश्चात् इनकी पत्नी अपने नवजात शिशु को छोड़कर इस संसार से विदा हो जाती है। पण्डितजी पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ता है। प्रौढ़ावस्था में पत्नी का वियोग और एक छोटे से मातृ विहीन बालक का लालन पालन का भार इन पर आ जाता है। मुरारिदत्त अपनी सहज गम्भीर वृत्ति के फलस्वरूप सब कुछ सहन करते हैं। नायक बड़ा होता है अक्षरारम्भ के पश्चात् गुरु-गृह मे उसकी शिक्षा प्रारम्भ होती है किन्तु मुरारिदत्त देखते हैं कि बालक हरदत्त का मन पठन पाठन में नहीं लग रहा है। उसका जीवन एक ब्राह्मण बालक के समान न हो कर एक उद्दण्ड बालक के समान है। पिता का

हृदय अपने एक मात्र बालक की स्थिति को देखकर दु:ख व पीड़ा से उद्विग्न हो उठता है। वे अपने इष्ट देव शंकर से बालक की सुमति के लिए प्रार्थना करते हैं और धैर्य पूर्वक उसमें स्वत: सुधार की प्रतीक्षा भी करते हैं। अंततः बालक को पिता की चिन्ताओं का आभास होता है और वह व्यवहार में परिवर्तन के लिए प्रयत्न करता है। नायक के इस स्वभाव परिवर्तन को देखकर मुरारिदत्त के हृदय में आशा की एक किरण प्रकट होती है किन्तु एक दिन वामन पर्व पर अपने मल्ल स्वभाव के कारण नायक अपने प्रतिद्वन्द्वी की चुनौती स्वीकार कर उससे मल्ल युद्ध करता है और विजयी होता है। जगाधरी का सारा जनसमुदाय नायक की इस विजय पर हर्ष मग्न है। किन्तु मुरारिदत्त को जब इसका पता चलता है तो उसके हृदय में आह्लाद के स्थान पर पुत्र द्वारा आज्ञोल्लंघन की आग धधकने लगती है और वे सभी के समक्ष अपने युवा पुत्र की भर्त्सना कर भावावेश में उसको घर से निष्कासन कर देते है, क्योकि वे नही चाहते कि एक ब्राह्मण पुत्र हो कर वह इस वृत्ति में संलग्न रहे। युवा पुत्र के घर से चले जाने पर उनका पितृ हृदय करूणा से रो उठता है, और वे उसके लिए बड़े चिन्तित व उद्विग्न रहते हैं, क्योकि उन्होने नायक को सही मार्ग पर लाने के लिए उसका विवाह भी कर दिया था।

दीनां परित्यज्य वधूं वराकीमहे खलोऽसौगतवान् क्व मूर्ख. ।
किन्नाम भाग्ये लिखितं मदीये कुलस्य का वा भविता दशेयम् ॥
(वि० ग्रं० १६-३६)

अन्त मे जब तक पुत्र की स्थिति का कही पता नही चलता तो उन्हें न तो रात्रि में नींद आती है और न ही दिन मे चैन पड़ती है। 'प्रिय प्रवास' के समान वे आने-जाने वाले तीर्थ-यात्रियों से अपने पुत्र के अन्वेषण के विषय में पूछते रहते हैं। कालान्तर में भगवान की कृपा से उनके विद्वान पुत्र का सुयश उनके पास पहुंचता है। वे आनन्द से विभोर हो उठते है तथा पुत्र-वधू को लेकर वाराणसी जाते हैं। जब पण्डित जी पुत्र के पास पहुंचते हैं और उसे चारों ओर से शिष्यो से घिरा हुआ पाते हैं तो उनकी आंखों से आनन्द के आसू प्रवाहित होने लगते हैं और वे अपने को धन्य मानते हैं —

धन्यं मेने स आत्मानं दृष्ट्वा तं शिष्यसंवृतम्।
(वि० ग्रं २०२-५२)

इस प्रकार एक आदर्श पिता का सही चरित्र विकास मुरारिदत्त के जीवन में चित्रित है।

पं० हरनामदत्त

शास्त्रोक्त लक्षणानुसार हमारे महाकाव्य का नायक धीरोक्त गुणों से समन्वित है। वे उच्च ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने के साथ ही उच्चकोटि के त्यागी-तपस्वी व तत्व द्रष्टा थे। हिन्दी कवि मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है:-

> राम तुम्हारा चरित्र स्वयं ही काव्य है।
> कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है॥
> (साकेत)

इसी प्रकार चरित नायक भाष्याचार्य को पाकर शास्त्रीजी धन्य हो गये। राम की गाथा तुलसी ही गा सके, बुद्ध को अश्वघोष ही समझ सके। भाष्याचार्य हरनामदत्त को महामनीषी विद्याधर ने ही उनकी दिव्य तेजस्विता से काव्य जगत् में विभासित किया है। कवि के हृदय में इस शब्द ऋषि के प्रति अगाध श्रद्धा है। अत: पावन चरित्र के धनी पाणिनि के इस अभिनव अवतार का जो उन्ही के पौत्र कवि विद्याधर ने चरितांकन किया है, वह पितृ-ऋण एवं ऋषि-ऋण मुक्ति का एक अभिनव अनुष्ठान तथा पूर्व पुरुषों के श्राद्ध की एक नव्य और भव्य परिकल्पना भी है।

नायक हरनाम के सम्पूर्ण जीवन के विविध प्रसंगों का चित्रण प्रस्तुत रचना में है। उनके बचपन की उद्दण्ड बाल वृत्तियों से लेकर यौवन की प्रचण्ड शक्ति-साधना और वह भी शरीर शक्ति और ज्ञान शक्ति दोनों की पराकाष्ठा है। इनके जीवन में एक आत्म शिल्पी का सा सम्यक-विकास है। किसी समय के अखाड़े के मल्ल को जब हम एक महापण्डित और शास्त्रार्थ महारथी के रूप में देखते हैं तो आश्चर्य होना स्वाभाविक है किन्तु यह सब होता है। नायक के जीवन गति प्रवाह के इस परिवर्तन कारी मोड़ से यह प्रमाणित हो जाता है कि मनुष्य के जीवन की दिशा कब, किस ओर अग्रसर हो जाय, इसे कोई नही जान सकता। जब हम अपने चरित नायक को एक वानप्रस्थी के रूप में परम पावन तीर्थ हरिद्वार के सिद्धाश्रम में एक तपस्वी व आचार्य के रूप में देखते हैं तो हमारा मन उनके समक्ष श्रद्धानत हो जाता है और हम ऐसा अनुभव करते हैं कि मानो हमारी वर्णाश्रम व्यवस्था

की शास्वत परम्परा अपने महिमा मयी विग्रह रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हो गई हो । अब हम अपने इस तेजस्वी नायक के जीवन प्रसंगों की पुनीत चिन्तना प्रस्तुत करते हैं:

सर्व प्रथम हरनाम के जन्मावतरण की पृष्ठ भूमि पर विचार करने पर प्रकट होता है कि इस महापुरुष का जन्म प्रकृति के नित्य नियमानुसार सामान्य जन की तरह नहीं हुआ, अपितु भगवान आशुतोष शिव की विशेष आराधना के फल स्वरूप उनकी अनुकम्पा से हुआ तथा नायक के पिता द्वारा पुत्र प्राप्ति के लिए की गई शिवार्चना भी अपने व्यक्तिगत सुख प्राप्ति विषयक न होकर पितृ ऋण एवं ऋषि ऋण की मुक्ति हेतु ही रही। अतः कारण की उच्चता कार्य की उच्चता की विधायिका के अनुसार इनका अवतरण भी सांस्कृतिक गौरव प्रतिपादनार्थ ही हुआ था।

प्राय: महापुरुषों के जीवन में यह देखा जाता है कि बचपन में ही उन्हें मातृ या पितृ वियोग सहन करना पड़ता है। हमारे चरित नायक के साथ भी नियति यही खेल खेलती है। उनके जन्म के कुछ समय पश्चात् ही उनकी ममतामयी माँ उन्हें छोड़ कर दिवंगत हो जाती है। मातृ विहीन हरनाम परिवार के सभी का स्नेह पात्र बनता है क्योंकि वही पूरे परिवार का एक मात्र कुल दीपक था । उसे किसी प्रकार का अभाव नहीं था। नायक बड़ा होता है। अपनी किशोरावस्था में पहुंचने पर विधिवत उसका अक्षरारम्भ संस्कार होता है। उसे गुरु गृह में प्रवेश दिलाया जाता है किन्तु बालक हरनाम का मन पढ़ने में नहीं लगता। वह गुरु-गृह से भाग कर इधर उधर बाग बगीचों में घूमता रहता है और वह भी अकेला ही नहीं अपितु अपने सहपाठियों सहित। हरनाम के इस आचरण व व्यवहार से पिता मुरारिदत्त व गुरुजन सभी असन्तुष्ट एव चिन्तित है उसे सही मार्ग पर लाने के लिए तथा उसमें एक ब्राह्मण पुत्र के समान अध्ययन वृत्ति जाग्रत करने के अनेक प्रयास किये जाते है किन्तु सफल नही होते। किशोर वय समाप्त होती है। शरीर में शक्ति का श्रोत फूटना प्रारंभ होता है। तरुणावस्था में प्रवेश के प्रारम्भ के समय हरनाम एक दिन वामन पर्व पर जगाधरी में मल्ल युद्ध देखता है। किसी भी प्रकार की विजय विजयी के प्रति अनेक जनों की स्पर्धा की जनक हुआ करती है। अतः मल्ल युद्ध मे दो पहलवानो को देखकर हरनाम के मन में भी सशक्त बनने की कामना उत्पन्न होती है। और वह अपने सतत प्रयास से शीघ्र ही शक्तिशाली युवक बन जाता है।

सशक्त युवा हरनाम शीघ्र ही एक अच्छे मल्ल के रूप में उस क्षेत्र में प्रसिद्ध हो जाता है। अनेक मल्ल युद्धों की विजय से उसमें एक विशिष्ट गर्व का उदय होता है। सभी लोग उसकी प्रशस्ति करते हैं किन्तु वह देखता है कि उसके पूज्य पिता उसके इस जीवन से सामान्यतः असन्तुष्ट ही नहीं अपितु अति दुःखित हैं। नायक पिता श्री की भावनाओं को भी शीघ्र ही जान जाता है तथा पिता की इच्छानुसार ही अपना जीवन बनाने हेतु अध्ययनार्थ प्रवृत्त होता है। पुत्र के इस प्रकार स्वतः स्वभाव परिवर्तन को देख कर मुरारिदत्त अति प्रसन्न होते हैं और भविष्य में मल्ल युद्ध में भाग न लेने का आदेश देकर उसे मूर्ख जनों की संगति से दूर रहने का उपदेश देते हैं:—

> निरीक्ष्य तस्मिन् परिवर्तनं तत् पितुर्मनश्चापि दधार धैर्यम्।
> स्वयं कदाचिल्लाभतो स्वलक्ष्यं गतिं गृहीत्वाभिनवां स मन्तौ॥
>
> प्रीतः स पुत्रं निजगाद भद्र! त्याज्यस्त्वया सम्प्रति मूर्ख संगहः
> मौनेन यत्नेन मतेन मूर्घ्ना श्रुतं वचस्तत् स बभूव हृष्टः॥
>
> (वि० च० १३-४,५)

फिर एक दिन वामन पर्व पर किसी मल्ल की ललकार को वह सहन नहीं कर पाया और पिताज्ञा का विस्मरण कर उससे मल्ल-युद्ध करता है और विजयी भी हो जाता है। सारा नगर हरनाम की इस विजय पर अति प्रसन्न है और उसे सिर पर चढ़ाये हुए उसकी जय घोष कर रहा है। पितृ श्री के पास भी यह वृत्त पहुंचता है। मुरारिदत्त अपने पुत्र की इस अभूतपूर्व विजय से आल्हादित होने के स्थान पर भयंकर क्रोध से आक्रांत हो जाते हैं और छेड़े गये काले विषधर के समान अपनी क्रोधाग्नि से फुंफकारते हुए उस जन समूह में पहुंचते हैं जहां हरनाम लोगों से घिरा हुआ उनसे बधाई ले रहा है। पिता के क्रोधाभिभूत मुख को देख कर नायक सहम जाता है और मुरारिदत्त सभी के समक्ष नायक की भर्त्सना ही नहीं करते अपितु उसे घर से निकल जाने और मुंह न दिखाने जैसे तिरस्कार पूर्ण वचनों से अपमानित करते हैं।

> पयः शरीरस्तीक्ष्णतरैस्ततैर्न विद्धं स चक्रे गुरुवो समक्षे।
> मुहुर्मुहुर्भर्त्सयते स्म चैनं "मुखन्पुरो मे नहि दर्शयेति॥
>
> (वि० च० १४-१४)

पिता के द्वारा इस प्रकार अपमानित होने पर नायक दिग्-भ्रमित व

व अन्तर्व्यथा युक्त मनः स्थिति से जगाधरी से निकल कर दिल्ली की ओर प्रस्थान कर जाता है। दिल्ली पहुंचने पर संयोग से एक पहलवान के साथ उसकी कुश्ती होती है और वह पराजित हो जाता है। नायक पर चोट पर चोट पड़ती है और वह विचलित हो उठता है। हरनाम के जीवन के ये प्रसंग हमे महाकवि सन्त तुलसी के जीवन परिवर्तन के प्रसंगो की याद दिलाते हैं और यह देखते है कि ये सब शुभ के लिए ही हुए है। नायक का मन एक बार वापिस घर लौटने का होता है किन्तु फिर उसके मनमें आता है कि इस प्रकार पराजित हो कर घर लौटना उचित नहीं क्योकि यशोविहीन जीवन, जीवन नही यश ही जीवन का मूल तत्व है।

यशो-विहीनं नरजीवनं किम् यज्जीवनं तद्यश एव लोके।
यत्र स्थितं मानवतत्व नित्यं तत्रैव हीनोऽपि कथं वसेयम्॥
(वि० ग्र० १५-३२)

इसी समय उसे एक वृद्ध-सज्जन मिलते हैं वे उसे इस स्थिति मे देखकर ब्राह्मणोचित यशस्वी जीवन प्राप्त करने के लिए वाराणसी में जाकर संस्कृत भाषा के अध्ययन हेतु प्रेरित करते हैं। पहले तो इसके लिए नायक का मल्ल-मानस तैयार नहीं होता किन्तु फिर दृढ़ आत्म-विश्वास व निश्चयात्मक बुद्धि के साथ वह काशी के लिए प्रस्थान् कर जाता है। इसी समय उसे यह अनुभव होता है कि जिस उद्देश्य विशेष के लिए विधाता ने उसका विधान किया है उसका उसे बोध हो गया है एतदर्थ अनेक कष्टों को सहते हुए नायक वाराणसी पहुंचता है।

विद्याध्ययन अपने आप में एक कठिन तप है फिर एक मल्ल युवक के लिए तो और भी क्लिस्टतर व कष्टदायी है किन्तु दृढ़ निश्चयी हरनाम एक बार जो तय कर लेता है उसकी प्राप्ति में चाहे कितनी ही कठिनाई क्यों न हो उसे वह प्राप्त कर के ही रहता है। अतः एक सच्चे छात्र के समान उसने विद्याध्ययन के समय आने वाले सम्पूर्ण कष्टो को बड़े सहज एवं मौन-भाव से स्वीकार किया और अपने लक्ष्य को अधिगत करके ही रहा:—

विद्यार्थिनः किन्तु कदा स्वकष्टं विद्याधिगत्यां गणयन्ति किंचित्।
लक्ष्यैकदृष्टि, मनुजो न विघ्नान् समीक्षते नापि बिभेति तेभ्यः॥
(वि० ग्र० १६-५०)

अध्ययन के बाद चरित-नायक अध्यापक हो जाता है और उसके पुत्र भी हो जाता है। संसार में दुःख और सुख का चक्र परिवर्तमान रहता है। जीवन के सभी क्षेत्रों में सफल हुए हरनाम के प्रथम पुत्र के कालकवलित हो जाने पर उसका शोकग्रस्त हो जाना स्वाभाविक ही था। किन्तु वृद्ध विद्वज्जनों के उपदेश तथा अपनी विवेक शक्ति की सहायता से इस वज्रपात-सम कष्ट को भी वह सह जाता है।

इस घटना के पश्चात् भाष्याचार्य अधिकतर निरन्तर शास्त्र चर्चारत तथा स्वाध्याय परायण हो गये। वे शास्त्र व्यसनी थे। उनकी आकृति सौम्य व प्रभावशाली थी। गुरु गम्भीर अध्ययन के होते हुए भी उनकी अध्यापनशैली इतनी सरल व सुगम थी कि साधारण बुद्धि वाले छात्र के लिए भी सब कुछ ग्राह्य था। इस लिए दूर-दूर तक एक सफल अध्यापक के रूप में उनकी कीर्ति व्याप्त हो जाती है। उनकी इस कीर्ति से राजस्थान के एक श्रेष्ठिवर उन्हें अपने नगर "चूरू" ले आते है परन्तु यहां आने पर जब उनके सामने वि० सं० १६५६ का प्रलयंकर अकाल पड़ा, तो उनकी अन्तरात्मा कारुण्य-भाव से विह्वल हो उठी। उस समय हजारों की संख्या में मरते हुए पशुओं की दुर्दशा अत्यन्त दयनीय थी वे आर्त-जीव मुख से तो नहीं बोल सकते थे किन्तु उनके नेत्र बोलते थे :—

> नयने खलु मूक-जीविनाम् वदतस्तारस्वेण वेदनाम्।
> नयनैरथ ॥ श्रुतो ध्वनिः नहि केषां च विशालचेन्मनः ॥
>
> (वि० प्र० ३६-१४)

पशु पक्षियों की इस हृदय विदारक स्थिति से करुणा-पूर्ण होकर नायक अपने इष्ट से कहता है कि हे भगवन् इन पशु-पक्षियों ने कौनसा पाप किया है, जिससे ये पापी मनुष्यों के समान फल भोग रहे हैं? मनुष्य तो जैसे तैसे इस दुःख को फिर भी सह लेगा किन्तु ये बेचारे पशु,—

> मनुजैर्यदि दुष्कृतं कृतं पशुभिः किं किल पापमाहितम्।
> अपि जीवतु मा यथातथा परमेभिः शरणं क्व लभ्यताम् ॥
>
> (वि०प्र० ३७-३६)

अन्त में नायक के इष्ट देव की कृपा से उत्तम वर्षा के कारण सब नव-जीवन पा जाते हैं।

कुछ समय के बाद जब वे तीर्थ यात्रा पर जाते हैं तो उस समय ग्रामीणों से चरित नायक की वार्ता होती है। उनके अभाव अभियोगों

को सुनकर जो विचार उनके ध्यान में आये, उनसे उनकी समस्याओं का समाधान करते हैं। उस समय की वार्ता से उनकी राष्ट्रभक्ति तथा भारतीय संस्कृति के प्रति नायक के अनन्य अनुराग का परिचय मिलता है। उन्होंने ग्रामीण जनों को शिक्षा दी कि वे सदा विदेशियों से सावधान रहें।—

विधर्मिशासनरयायं प्रभावो राष्ट्रसंस्कृतिम्।
दूषयत्येष मूलेन स्थेयं तस्मात् समाहितैः॥
(वि० ग्र० ४१-२०)

उनकी मान्यता है कि भारतीय संस्कृति की रक्षा ग्रामों में ही हो सकती है। अतः उनका संरक्षण व विकास नगरों के दूषित वातावरण से बचाते हुए करना आवश्यक है।

स्वात्मा भारतवर्षस्य ग्रामेष्वेव विराजते।
संरक्ष्यः पत्तनाचारैर्यथार्थं तैर्न दूष्यते॥
(वि० ग्र० ४२-२७)

चरित नायक के चरित का सर्वोपरि उन्मेष उनकी मान्यताओं में है जिनको इन्होंने स्थान-स्थान पर व्यक्त किया है, जहां काव्य नायक किसी जाति विशेष और धर्म विशेष के प्रति पूर्वाग्रह न रख कर कहता है कि यदि कोई बात मान्य है तो उसको मानना ही चाहिये:—

येन केन मयेवुक्तं मानवेनेति का कथा।
अरातेरणापि यत्प्रोक्तं मान्यञ्चेत् मान्यमेव तत्॥
(वि० ग्र० ६८-८७)

काव्य नायक की दृष्टि में जीवन का वही क्षण सर्वोत्तम है जिसमें मानव अपने आत्म परीक्षण में प्रवृत्त होता है:—

स एव हि क्षणो लोके मान्या मान्यतमो मतः।
यस्मिन् विगतचिन्तोऽयं जनः स्वात्मानमीक्षते॥
(वि० ग्र० ६५-३९)

आज की शिक्षा और नीति विषयक देश की स्थिति से हमारा नायक परम खिन्न है। आज वास्तविक विद्या की अपेक्षा अविद्या को ही

माना जाता है और अपनी यथा-तथा कुटिल नीतियों से जो स्वार्थ सिद्धि करने में सफल होते हैं, उनको ही नीतिज्ञ माना जाता है। आज आत्म-सम्मान प्राप्ति की अपेक्षा जैसे-तैसे चापलूसी कर जीवन निर्वाह के लिए नौकरी को पा लेना ही प्रधान लक्ष्य हो गया है तथा मानवोचित गुणों की वृद्धि से गौरवार्जन की अपेक्षा जिसके पास धन होता है वही विशेष सम्मान का अधिकारी होता है:—

> अविद्यैवात्र सद्विद्या कुनीतिर्नीतिरेव च।
> शिक्षालक्ष्यं गुणो वृत्तिर्वित्तं मानाय कल्प्यते ॥
> (वि० ग्र० ६५-४२)

इन सब अवगुणों के निवारणार्थ नायक भारतीय मानस को उसकी उदात्त विश्व-हितकारी प्राच्य दृष्टि के विकास एवं उद्बोधनार्थ सदैव सतत् प्रेरणा देते रहे हैं। उनके जीवन का अन्तिम संदेश भी इसी प्रकार है:—

> "द्विजैर्द्विजत्वं हि सुरक्षितञ्चेत् सुरक्षितं तेन भवत्यशेषम्"
> (वि० ग्र० ७०-५)

इस प्रकार हमारे चरित नायक के ये सब जीवन प्रसंग उनके महान् व्यक्तित्व के परिचायक है। उनका चरित विकास इस महाकाव्य की महानता के अनुरूप महनीय एवं आदरणीय है।

□ □ □ वर्णन प्रस्तुति

महाकाव्य का स्वरूप विस्तृत होता है, इसमें कथा वस्तु का सन्तुलित विस्तार, उसे रसानुकूल बनाने का प्रयत्न तथा नायक के चरित का प्रभावशाली अंकन कवि के वर्णन चित्रण के चमत्कार पर निर्भर करता है। कवि की सफलता वस्तु अथवा कार्य व्यापार के मूर्त चित्रण में है। महाकाव्य में अनेक घटनाओं के वर्णन प्रसंग होते हैं, जो प्रतिपाद्य वस्तु के विस्तारक होते हैं। नदी, वन, पर्वत तथा दुर्ग आदि के वर्णन द्वारा कवि अपनी ऊहात्मक प्रतिभा कसौटी पर कसता है और अपने उद्देश्य विशेष की ओर पाठकों को अभिप्रेरित करने में सफल होता है। प्रस्तुत महाकाव्य में उन सभी के वर्णन में श्री शास्त्री का प्रसंगापेक्षित वर्णन-कौशल प्रभावी रूप में प्रदर्शित है। कवि की वर्णन प्रतिभा का प्रथम दर्शन हम द्वितीय

सर्ग के प्रारम्भ में पाते हैं, जहां उन्होंने इस परम पवित्र अपने भारत देश का अनुपम तथा यथार्थ-चित्रण किया है। अपना यह देश इस भूवलय में अपनी अद्वितीय प्राकृतिक सुषमा के लिए विश्व-प्रसिद्ध है। जहां बहने वाले नदी-नद अपने कलकल प्रवाह से सभी को आनन्दित करते हैं। धर्म समृद्धि से सम्पन्न यह देश अपनी दिव्य आभा से विश्व को आदि-काल से आभासित करता रहा है तथा जहां के तेजस्वी भू-देवों ने अपने आदर्श चरित्र से विश्व मानव को सदा प्रभावित किया है:—

> यत्र स्थितानां च महीसुराणाम् आदर्शभूतो व्यवहारजातः।
> मनुस्मृतौ सर्वमनुष्यजाते श्चारित्र्यशिक्षा-गुरुणाप्यशंसि ॥
>
> (वि० ग्रं० ५-३)

भारत भूमि की पावन पुरी वाराणसी का वर्णन कवि ने जिस आलंकारिक शैली में किया है वह दर्शनीय है। काशी नगरी पण्डितों की राजधानी है, वह विद्वानों की कुल भूमि है। उस नगरी का निर्माण वास्तव में विधाता ने निराशा के निवारण के लिए ही किया है और जहा वास करने पर स्वतः ही स्वयं का बोध संभव है, जो प्रत्येक युग मे प्राच्य संस्कृति के विद्वानों द्वारा सेवित है अतः वह एक साथ नवीन और प्राचीन दोनों ही गरिमाओं से युक्त है।

> युगे युगे नव्यविमर्शशीलैः पुराण रक्षा-प्रथित प्रतिज्ञैः।
> विद्वद् वरेण्यैः परि सेव्यमाना नित्यं नवा याऽप्य सदा पुराणी ॥
>
> (वि० ग्रं० १७-२)

जिस नगरी का कण-कण कणादवृत्ति की विशिष्टता से परिपूर्ण है उसकी परम पावन वाराणसी समता क्या संसार की किसी अन्य नगरी से की जा सकती है ?

> का नाम लोके नगरी पुरी वा तया कदाचित् समतां करोतु।
> कणे कणे यत्र कणादवृत्तिः सर्वान् विशिष्टान् भुवने विधत्ते ॥
>
> (वि० ग्रं० १७-६)

इसमें कणादवृत्ति के पदसंयोजन द्वारा जिस दार्शनिक दृष्टि की प्रस्तुति की गई है, वह कवि की मौलिक शिल्प रचना की परिचायिका है।

सप्तम सर्ग में मरु-प्रदेश का वर्णन, संस्कृत जगत् में

महाकाव्य

स्थान रखता है। राजस्थान की इस अमर भूमि से कवि का निकट सम्बन्ध ही इस सजीव सर्जन का कारण है। इस वर्णन में मरु भूमि के प्रति कवि की श्रद्धा-भक्ति का जो उत्स-फूटा है, उसकी अपनी ऊंचाई है। यहा ज्ञान गंगा के प्रवाह की प्रार्थना भी द्रष्टव्य है।

जहां की गायें प्रसन्न है और व्रत-दान आदि में जहां के लोगों की सतत् प्रवृत्ति होने के कारण जिन पर देवगण भी सदा प्रसन्न रहते हैं, ऐसी कौनसी समृद्धि है, जिसका अभाव मरु-प्रदेश में हो? अर्थात् किसी भी प्रकार का अभाव नही। हां, एक अभाव है और वह है विद्या का, अतः आप उसे दूर कीजिये।

गावः प्रसन्ना मनुजाः प्रसन्ना देवाः प्रसन्ना व्रतदानन्यस्तैः।
किं नाम तद्यन्न मरौ समृद्धम् विद्या समृद्धौ भवता विधेयः॥
(वि० प्र० २८-३०)

अष्टम सर्ग में प्राचीन शिक्षण संस्थाओं की आदर्श शिक्षण पद्धति एवं छात्रावासों में रहने वाले छात्रों की दिनचर्या के द्वारा उस समय के अन्तेवासी छात्रों की गुरुभक्ति तथा निजलक्ष्य प्राप्ति के लिए उनकी कष्ट सहिष्णुता आदि का मनोरम चित्रण है:—

नवम् सर्ग मे भयंकर अकाल का रोमांचकारी चित्रण किया गया है। जल का अभाव तो वैसे ही मरुस्थल में प्रायः रहता है, उस पर वर्षा के लगातार दो तीन वर्षों तक न होने पर मनुष्य और पशुओं की कितनी दयनीय स्थिति होती है, इसकी कल्पना भी भीषण है।

जठराग्नि की धधकती ज्वाला से जलते हुए सैकड़ों पशुओं का विलाप व क्रन्दन कितना करुणामय है.—

सर्वे सर्वे बुभुक्षिता विलपन्तो जठराग्निधुक्षिताः।
तातगःशिशवोऽपि चुक्रुशुः जननी रोदिति सा करोतु किम्॥
(वि० प्र० ३५-१०)

पशु भूख प्यास के कारण पिंजर मात्र रह गये थे, प्राणी मात्र की यह दयनीय दशा इतनी भयावह और असह्य थी कि विधाता को भी शाप देने की भावना कवि हृदय में उठ जाती है, कितनी अद्भुत कल्पना है।

पशवोऽप्यपरे बुभुक्षया गमिता पञ्जरमात्र शेषताम् ।
हठतो हृदये विलोक्य यान् उदिता शापमतिर्विधिम्प्रति ॥
(वि० ग्र० ३६-११)

इस श्लोक की पाद टिप्पणी में शास्त्रीजी ने लिखा है:—
येषां परमे दयनीयामिमां दशां विलोक्य जनस्य हृदये
निष्करुणं विधिम्प्रति हठात् शापमतिः प्रादुर भूत् ॥

नायक अपनी शिष्य मण्डली के साथ तीर्थ यात्रा करते हैं। उस समय की मरु-प्रदेश की यह यात्रा ग्रीष्म और शीत के कारण कितनी कष्टप्रद हुआ करती थी, इसका एक प्रत्यक्षदर्शी के समान सजीव चित्रण है। यात्रा करते समय मार्ग में आये ग्राम उनके जीवन की झांकी तथा दस्यु दल से नायक की भेंट तथा उन्हें प्रबोधन इन सब की व्यंजना में शास्त्रीजी पूर्ण सफल हैं। (वि० ग्र० ४०, २-११. ४१, १७-२३. ४२-४३, ३५-४५) अन्त मे जिन जिन तीर्थ स्थानों पर नायक जाता है, उन सब का अति संक्षिप्त किन्तु गरिमा सहित स्मरण करके कवि ने अपने चित्रण का कौशल दिखाया है।

नायक के सिद्धाश्रम-वास के समय हरिद्वार के समीप की पर्वतीय सुषमा का चित्रण बड़ा ही सुन्दर है, जो आगे "प्रकृति-वर्णन" में मनोहारी अभिव्यञ्जन है। द्वादश सर्ग में पुनः गुरुकुल कांगड़ी तथा ऋषिकुल आश्रम के चित्रणों के द्वारा हमारे प्राचीन गुरुकुलों का वातावरण निर्मित करने में कवि सफल हुआ है।

महर्षीणां तपोभूमे जातं साक्षाच्च दर्शनम् ।
निर्जिता पापिनी वृत्ति र्धार्मिकी च समाहृता ॥

यज्ञधूमैः पुनः सर्वम् संव्याप्तम्परितो नमः ।
देवाः सर्वेऽपि सन्तुष्टाः सर्वे लोकाश्च संस्कृताः ॥

नानारत्नमृगाकीर्णे नानारामैर्विभूषिते ।
घनैर्वनैः समाच्छन्ने पर्वतैः परिवेष्टिते ॥
(वि० ग्र० ४६-१०, ११,-५०-१४)

जिन पर्वतों पर सुन्दरता और विभीषिका एक साथ वास करती हैं तथा जो हिंसक वृत्ति-वाले जीवों के रहने के कारण दूषित हैं, किन्तु

फिर भी वे सद्वृत्ति वाले सन्तजनों और मुनीश्वरों द्वारा सेवित हैं।

सौन्दर्य राशेश्च विभीतिकायाः सहैव येषां वसतिः शरीरे।
ये दूषिता हिंसकवृत्तियासैं रपि प्रियाःसन्ति मुनीश्वराणाम् ॥
(वि० प्र० ४८-४२)

इसी प्रकार १५ वें सर्ग में गंगा और उसके महत्व का अंकन अनुपम है। युगों युगों से यह भागीरथी कितनी पूज्य तथा पावनी है:—

युगेभ्यो भारतवर्षे गंगेयं सर्वपावनी।
धीरा परमगंभीरा मनः केषां न कर्षति ॥
(वि० प्र० ६२-६)

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि शास्त्रीजी का शिल्प कौशल अपने आप में सर्वांगपूर्ण व सशक्त है।

□ □ □ प्रकृति-चित्रण

प्रकृति के साथ मानव जन्म से ही सम्बन्ध होने के कारण वह उसकी सहचरी है, इसलिए उसके साथ मनुष्य का रागात्मक सम्बन्ध होना भी स्वाभाविक है। कविता प्रबुद्ध मानव की रागात्मक अनुभूति की अभिव्यंजना है। अतः कवि के भाव उद्दीपन में प्रकृति-संयोजना उसका सहज धर्म है। इसीलिए महाकाव्यों में प्रकृति-चित्रण को एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया गया है। संस्कृत महाकाव्यों में प्रकृति-चित्रण की अपनी विशिष्ट पद्धति एवं परम्परा है। उसके आलम्बन और उद्दीपन-स्वरूप के सहारे काव्य विकास करना संस्कृत कवियों का स्वभाव रहा है। किन्तु प्रकृति का उपर्युक्त चित्रण केवल उसके बाह्यस्वरूप से अधिक सम्बन्ध रखता है, आभ्यान्तर से नहीं और यही कारण है कि परम्परित संस्कृत महाकाव्यों में आभ्यन्तरीय प्रकृति अपने न्यूनतमरूप में ही प्रतिभासित है। आलोच्य कृति 'हरनामामृतम्' में प्रकृति के आभ्यन्तर और बाह्य दोनों ही रूपों का सुन्दर व उचित उन्मेष मिलता है।

बाह्य प्रकृति-चित्रण के अन्तर्गत प्रकृति के स्थूल प्रतीक नदी, पहाड़, वन, ऋतु तथा सन्ध्या, रात्रि और उषा आदि आते हैं। हम देखते हैं कि 'हरनामामृतम्' में उपर्युक्त सभी प्रसंगों का वर्णन है, किन्तु जैसा कि प्राचीन

महाकाव्यों में सन्ध्या, प्रातः, उषा आदि के प्रत्येक रूप का आलंकारिक चित्रण हुआ करता है, उस प्रकार के प्रयत्न-साध्य चित्रणों से हमारा कवि निर्लिप्त है। इसके पीछे संभवतः कवि की यह दृष्टि रही हो कि उससे काव्य का अनावश्यक रूप-विस्तार होगा। किन्तु ऐसे प्रसंग जो वास्तव में चित्रण की उपेक्षा के गरिमामय पात्र है, उनका सजीव अथवा यों कहें कि अद्भुत व आश्चर्यजनक चित्रण किया गया है। इन संजीव चित्रांकनों के द्वारा पाठक पर कवि की अपनी विशिष्ट प्रकृति-निरूपण-क्षमता का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता।

इस महाकाव्य में प्रकृति के विभिन्न रूपों व दृश्यों के विभिन्न रूपों के वर्णन हैं। प्राकृतिक सम्पदा के धनी हमारे देश में मां प्रकृति के अपने अनेक रूप हैं। इसके प्रत्येक आंचल की प्राकृतिक सुषमा का अपना स्वतन्त्र सौन्दर्य है। प्रत्येक कवि का अपनी जन्म भूमि की प्राकृतिक सुषमा के प्रति विशेष अनुराग होता है और वह अपनी कृति में उसका विशेष उत्कृष्ट वर्णन करता है। प्रस्तुत कृति में मरु-प्रदेश की प्राकृतिक शोभा का जो शोभांकन हुआ है, वह संस्कृत साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है:—

मरु-भूमि कवि की जन्म भूमि ही नहीं, अपितु क्रीडा एवं कार्यस्थली भी है। इसके रेतीले सुनहरे धोरों पर लोटपोट कर कवि बड़ा हुआ है। अतः उनके प्रति उसकी स्नेह व श्रद्धा दोनों ही हैं। उसके लिए यह धरा सर्वस्व प्यारी मां है और हमारा कवि उसका लाडला सपूत। उसकी दृष्टि में ममतामयी इस मरुस्थली के दर्शन का अपना महत्त्व है, वह इस दर्शन को जीवन की बहुत बड़ी सफलता मानता है। जिसने इस स्वर्णमयी भूमि के रेतीलेटीलों की सुषमा नहीं देखी वास्तव में उसने अपने जीवन में कुछ भी नहीं देखा।

मरुः सुवर्णो नहि येन दृष्टः किं तेन दृष्टं कुहचित् सुहृद्यम्

(वि० प्र० २७-२५)

मरु-प्रदेश में प्रातः काल का जीवन बड़ा आह्लादकारी हुआ करता है। चमकते हुए सुनहले बालू के टीलो पर सुखपूर्वक बैठने पर चित्त में जो प्रसन्नता होती है, वास्तव में वह हमारे विकास की विधायिका है:—

रम्ये क्वचित् सैकतवप्र-सातौ सुकोमले भास्वति हेमवर्णे।
प्रातः प्रदोषे च सुखं स्थितानां केषां न चेतांसि विकासवन्ति॥

(वि० प्र० २७-२६)

तथा प्रातः काल के समय बहने वाला वह शीतल मन्द सुगन्ध पवन, तथा तीतर पक्षियों का मधुर रव और मयूरों का नर्तन और इसी प्रकार मृगों की छलांगे भरना किसे मोहित नहीं करती ! किसे नहीं सुहाती !

स शीतलो गंधवहः समीरः स तित्तिराणां मधुरो विरावः ।
तन्नर्तनं बर्ह विभूषणानां समुत्प्लुतिः साच कुरङ्गमाणाम् ॥
(वि० प्र० २८-२७)

मरुस्थल की शारदीय अनुपमता के आनन्द का अनुभव वही कर सकता है, जिसने चांदनी रात में इस भव्य मरु-प्रदेश की यात्रा स्वयं की हो—

ते पुष्पिलाः स्वादुरसाः फलिङ्गा सा शारदी चञ्चलचन्द्रिकाच ।
स्फूर्तिः स्फुरन्ती स्फुरणावलीषु क्रमेलकानां (?) शतशश्च तासाः ॥
(वि० प्र० २८-२८)

मरु के टीलों का तरंगायित रूप भी कितना आकर्षण लिए हुए है, उसे साकार रूप में प्रस्तुत किया है। वर्षा ऋतु का समय इस प्रदेश के लिये एक प्रकार से अति आनन्द व उल्लास का समय है अथवा यों कहें कि यह इसका अपना समय है। इस काल में जिस मधुरिमा व आह्लाद की झलकना हम यहां पाते हैं वह अन्य कहीं पर भी नहीं। अतः इस काल के मोहक संगीत को छोड़कर कोई भी यहां से जाना पसन्द नहीं करता।

वर्षागमे चारमरुं विहाय क्वान्यत्र कस्यापि रमेत चित्तम् ।
मरुत्सु वर्षासमयेऽपि यस्मिन् शरत् प्रसन्नं सलिलं चकास्ति ॥
(वि० प्र० २८-३२)

वर्षाकाल में श्यामल घटा के उठने पर बिजली की चमक और बादलों की मधुर गर्जना के साथ जो मोहक चित्र उसके नील गगन में बनता है, वह देखते ही बनता है। इस के चित्रण में शास्त्रीजी की लेखनी अपने अतीव चमत्कृत रूप में हमारे समक्ष इसका शब्द चित्र प्रस्तुत करती है।

शार्ङ्गरौप्यरमरमधुमरा दिवि कैलासदिशा-समुत्थिता ।
जलदस्य घनौघसी ततिः बहुशो कापि समुन्मुकंजनैः ॥

स्फुरिता सकृदेव चञ्चला क्षणमेकं च जगर्ज, वारिदः ।
वहुशः परितः परक्षते परितृप्तां सलिलाप्लुतां महीम् ॥

(वि० ग्रं ३८-४५, ४६)

यदि कोई नन्दलाल बसु जैसा कलाकार अपनी तूलिका से इस को चित्रांकित कर सके तो वह कितना मनोहारी होगा !

मरुस्थल की इस सौन्दर्य छटा के साथ उसके रौद्र रूप की भीषणता भी कम दृष्टव्य नहीं है।

प्रचण्डमार्तण्डकराभितप्तं देशे प्रवाते ज्वलितुं व्रजेत्कः ।

(वि० ग्रं० २६-६)

हरिद्वार के आसपास की वनस्थली का जो अभिराम अंकन कवि ने किया है, वह हमें अपने प्राचीन, शान्त तपोवनों की स्मृति को पुनः ताजा करता है।

गंगा तरंगसंगीते वेदध्वनिनिनादिते ।
पूतेन पयसा तृप्ते हविर्गन्धैः सुगन्धिते ॥
नानाखगमृगाकीर्णे नानारामैर्विभूषिते ।
घनैर्वनैः समाच्छन्ने पर्वतैः परिवेष्टिते ॥

आर्ये कुले सरित्कूले महाविद्यालये पुनः ।
पुण्ये कनखले भव्ये भव्ये गुरुकुले तथा ॥

(वि०ग्रं० ५०-१३ १५)

इसी प्रकार पर्वतीय प्रकृति की सुरम्यता का निरूपण भी अति सुन्दर है। सुन्दरता और विभिषिका का एक स्थान पर वास भारतीय गिरी शिखरों की अपनी विशिष्टता है। सूर्य की भयंकर उष्मा को सहन करते हुए भी सुधीरों के समान किसी भी प्रकार की उष्मा का प्रकटीकरण नही करते। कठोर हृदय होते हुए भी उनके हृदयों से सदा स्वच्छ सरिताओं का प्रवाह होता रहता है;——

नोष्मा कदाचित् शिरसीह येषां ये वासमात्राणि सुधीरधुर्याः ।
येभ्यश्च पाषाणकठोरहृद्भ्यः स्वच्छाः सदा सत्सरितो वहन्ति ॥
(वि० प्र० ४८-४३)

उनके शिखर रूपी स्कन्धों पर चमकते हुए नक्षत्रों की माला अपनी अनुपम रमणीयता को बिखेरती है:—

नक्षत्रमालाः सततं नवीनप्रतिक्षणं यत्र च यामिनीषु ।
रम्येषु संशयपयते प्रसनाः स्कन्धेषु हारं रमणीयतायाः ॥
(वि० प्र० ४८-४४)

गंगा नदी के उद्‌गम-स्थल पर उसकी चञ्चल गति का चित्रण भी द्रष्टव्य है:—

उच्चैः क्वचिद्धसन्तीव नृत्यन्तीव क्वचिच्चला ।
घुंघतीवाम्बरं याति प्रस्तरेषु स्फुरद्गतिः ॥

कुञ्जरव्रजसञ्चारे भमद्भृङ्गकुलमञ्जुला ।
कूले संकूजीति मत्तामिर्लतामिः समाकुला ॥

शैलकूटादधो वेगात् स्रवन्ती गुञ्जिताचला ।
न चित्ते हरते केषां कलैः कल कलं स्वरैः ॥
(वि० प्र० ६२-६-११)

इस कल कल निनादिनी परम पावन भागीरथी स्नान करने पर बड़ा पुण्य होता है। आत्मा अपने कल्मष को धोने में समर्थ होती है, इसीलिये युगों-युगों से भारतीयों के लिये यह श्रद्धेया है, परम पूज्या है:—

गंगास्नानं भवेत्पुण्यं आत्मा भूयादकल्मषः
(वि० प्र० ६२-५)

युगेभ्यो भारतेभ्यो गंगेयं सर्वपावनी
(वि० प्र० ६२-६)

उपर्युक्त प्रकृति वर्णन के विवेचन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कवि बाह्य प्रकृति के वर्णन में पूर्ण सफल हुआ है। बाह्य प्रकृति के

सम्यक् वर्णन के समान ही कृतिकार आभ्यन्तर प्रकृति के चित्रण में भी पूर्ण सफल है जिसका अवलोकन व समीक्षा, इस ग्रन्थ के 'चिन्तन पक्ष' शीर्षक में प्रस्तुत है।

□□□ रस विधान

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के हमारे साहित्य शास्त्रीय मतानुसार इस काव्य की आत्मा है इससे विहीन काव्य केवल छन्दोबद्ध रचना हो सकती है, काव्य नहीं। कवि की वास्तविक अभिप्सा अपनी कविता में रस निस्पादन ही हुआ करती है। यही इसका प्रमुख उद्देश्य है। अतः काव्य पुरुष का वास्तविक जीवन रस ही है।

प्रस्तुत महाकाव्य अभिनव संस्कृत साहित्य की एक नूतन सात्विक रचना है। इसका नायक अपने युग का संस्कृत जगत् का एक महा मनीषि है। वह हम सब के लिए प्रातः स्मरणीय, ऋषिकल्प व श्रद्धेय है। उसका सम्पूर्ण जीवन भारतीय संस्कृति के आर्ष स्वरूप की गरिमा के प्रतिपादन में यापित हुआ है। ऐसे महीमामय मनीषि के जीवन वृत्त से सम्बन्धित होने के कारण शान्त रस की पावन धारा आदि से अन्त तक प्रस्तुत काव्य कानन में अविरल रूप से प्रवहमान है। अतः शान्त रस ही इसका प्रधान रस है। किन्तु अन्य रस करुण, वीर और शृंगार आदि की योजना भी प्रसंगानुकूल इसमें विद्यमान है किन्तु उन सबकी चरम परिणति अन्ततः शान्त रस में ही हुई है।

करुण रस के अनेक प्रसंगों की प्रस्तुति बड़ी सजीव है। करुणा के व्यष्टि और समष्टि दोनों ही रूपों की अनुभूति पाठक पाते हैं। नायक के जन्म के पूर्व उनके पिता मुरारिदत्त का पुत्र प्राप्ति के लिए भगवान् आशुतोष के समक्ष जो आत्म निवेदन है वह उनके हृदय में छिपी पुत्र के अभाव जन्य पीड़ा व करुणा का अपना विशिष्ट व्यष्टि रूप है। इस वेदना में एक निःसन्तान व्यक्ति की मनोव्यथा का जो चित्र उभरा है, वह हमें *"अभीज्ञान शाकुन्तलम्"* के राजा दुष्यन्त की अनपत्यता जन्य वेदना का स्मरण दिलाती है। मुरारिदत्त कहते हैं: भगवान् मैं झूठ नहीं बोलता:—

सर्गे हि ते सर्वसुखाभिरामे 'नाहं सुखी' नेति मृषा प्रभावे।

(वि० अ० ६-२२)

कितनी सहजता व सरलता के साथ अपनी अन्तरव्यथा प्रकट की है। "नाहं सुखीमेति मृषा प्रभाषे" के द्वारा वक्ता का जो भाव-चित्र बनता है वह कितनी करुणा व आर्द्रता लिये हुए है।

भक्त की यह सहज सरलता भगवान के वात्सल्यमय हृदय को शीघ्र ही पिघला देती है और आशुतोष की कृपा से उन्हें पुत्र सुख मिलता है।

पुत्र की कामना नारी का नारीत्व है। पुत्र लालसा की तीव्रता जितनी स्त्री में होती है उतनी पुरुष में नहीं। मुरारिदत्त की भी अपने स्वयं की अपेक्षा पत्नी की चिन्ता ही अधिक व्यथित किया करती थी:—

चिन्ताभिभूतोऽपि सुताधिगत्यै नासौ परं भूरि विचिन्त चित्तो।
स्थिति गृहिण्यास्तु विचिन्तयन्त्या विचिन्तनीयैव बभूव किन्तु॥
(वि० प्र० ६-१५)

नायक की ममतामयी माँ के चाहे कितना भी गृह कार्य भार क्यों न हो, अपने हृदय के सार इस लाडले को एक क्षण भी अपने से विलग नहीं रखना चाहती थी। वह अपने नवजात शिशु को छोड़ कर चली जाती है और ऐसे स्थान पर जाती है, जहाँ से किसी का पुनरावर्तन नहीं होता:—

जहौ न पुत्रं हृदयैकसारं कार्यानुरोधादपि या क्षणेन।
तामेव सद्यो बत हन्तुमस्मात् रताय कालाय नमो नमोऽस्मै॥

समर्थ्य मौनं तनयं स्वकीयं स्तनंधयं ज्येष्ठपितृव्यपत्न्यै।
जगाम सा तत्र गता हि यस्मात् लोकं पुनर्न प्रतियन्ति केचित्॥
(वि० प्र० ६-११,१२)

दार्शनिक कवि इस दुःखद चित्रण का पटाक्षेप भी अपनी दार्शनिक दृष्टि व पदावली में ही करता है। (वि० प्र० ६-११)

काल की इस अविगत के फलस्वरूप नायक के पिता की क्या स्थिति हुई होगी इसकी अल्प कल्पना भी अति भयावह है।

अपने पिता के समान इसी प्रकार का एक दुःखद प्रसंग नायक के जीवन में भी आता है और वह भी हम सब की सहानुभूति का पात्र बन

जाता है। काशी में उसके प्रथम पुत्र के आकस्मिक देहावसान पर हरनाम को यह सारा दृश्यमान् जगत् असार और अस्थिर भासित होने लगता है। उसका सारा ज्ञान विज्ञान और सम्पूर्ण सुख शान्ति न जाने कहां विलीन हो जाते हैं। उसके लिए यह सम्पूर्ण संसार अस्थिर व क्षणिकता का पुंज बन जाता है:—

ज्ञानं विलीनं जगती विलीना लीनं च सर्वं सुखशान्ति-बीजम्।
विडम्बनामात्रमिदं च सर्वं तस्मै प्रतीतं क्षणिकं क्षणेऽस्मिन्॥
(वि० प्र० २२-३)

ऐसा होना अस्वाभाविक भी नहीं क्योंकि वात्सल्य की सरिता तो सभी के हृदयों में बहती है। बालक की बालसुलभ चितवन, उसकी मधुर मुस्कान एवं कलकार में अपना एक आकर्षण होता है। अतः नायक और उसकी पत्नी के लिए अपने इस बाल तनय की स्मित चितवन को भूलना कैसे संभव था?

दृष्ट्वा गतिं यस्य मतिं च हृद्यां नित्यप्रसन्नौ पितरावभूताम्

वही बालक!

क्षणेन हा हन्त स एव बालो हतेन दैवेन हृतोऽद्य सद्यः
(वि० प्र० २२-२)

हम देखते हैं कि यह दुःखद प्रसंग नायक को तत्त्व चिन्तक एवं दार्शनिक बना देता है। उसके जीवन की दिशा ही बदल जाती है। अब उसका सारा समय स्वाध्याय, चिन्तन एवं देवपूजनादि में ही यापित होने लगता है और इस प्रकार दोनों ही करुण प्रसंगों की परिणति शान्त रस में होती है।

करुणा के व्यष्टि चित्रण की अनुभूति ऊपर के प्रसंगों में की गई है। नवम् सर्ग में करुणा के समष्टिरूप का निष्पादन पाते हैं। राजस्थान के दुर्भिक्ष अपनी भीषणता के लिए कुख्यात हैं। मरुभूमि जहां का सारा जीवन वर्षा के जल पर ही निर्भर है, ऐसे प्रदेश में यदि निरन्तर दो-तीन वर्षों तक यदि वर्षा की एक बूंद भी न गिरे तो वहां के निवासी तथा पशु-पक्षियों को कितना कष्ट सहना पड़ता है इसकी कल्पना अति भीषण है। कवि ने इसका जो हृदय-विदारक चित्र खींचा है वह हृदय-द्रावक व रोमांचकारी है। आंखों का काम देखने का होता है कि 'असहाय-दुःख कातर पशुपक्षी दुःखी होकर जब

किसी की ओर देखते हैं तो उनके नेत्र ही उनकी वेदना को पूरे ऊंचे स्वर के साथ सुनाने लगते हैं:—

हमारा चरित नायक युद्ध वीर तो नहीं है, किन्तु मल्ल-विद्या में धुरन्धर अवश्य है। युद्ध प्रसंग के चित्रण का अवसर तो प्रस्तुत काव्य में नहीं है किन्तु मल्ल-युद्ध के समय नायक का अखाड़े में उतरना और फिर अपने पुट्ठों और भुजाओं को थपथपाना व फड़फड़ाना और अपने प्रतिद्वन्द्वी मल्ल को धराशायी करना आदि क्रियाओं का जो सजीव चित्रण कवि ने किया है, उसमें वीरभाव की पूर्ण निष्पत्ति पाते हैं।

> परस्परं मल्लकलाभिलीनो हस्तेन धृत्वा प्रतिमल्लहस्तम्।
> सम्पश्यतामेव ततो जनानां न्यपातयद् भूमितले भटं सः॥
>
> (वि० च० १३-११)

इसके अतिरिक्त नायक को अपने लक्ष्य के प्रति दृढ़ता में भी एक वीर भाव ही है तथा उसकी निर्भयता भी अपने आपमें उदाहृत है। उसकी निर्भयता का तेजस्वी रूप हम "मारवी यात्रा" के दस्युओं से हुए वार्तालाप में स्पष्ट देखते हैं।

> तेषामेतद्वचः श्रुत्वा समागत्य रथाद्बहिः।
> प्राह गम्भीरया वाचा गृह्यतां गृह्यते हि यद्॥
> निर्भयं तद्वचः श्रुत्वा दृष्ट्वा ताञ्च द्विजाकृतिम्।
> सौम्यां तेजस्विनीं तेऽथ श्रद्धानम्रा अवातरन्॥
> निपत्य पादयोः प्राहुः क्षत्रियाः स्मो वयं द्विजान्।
> नैव हन्मो न लुण्ठामः धनिकान् मृगयामहे॥
>
> (वि० च० ४२-४३-४०-२)

प्रस्तुत प्रसंग में 'गंभीरया वाचा गृह्यतां गृह्यते' इसमें जो गंभीर गर्जना व दृढ़ आत्मविश्वास की भावना नायक के हृदय में अन्तर्निहित है उसी के परिणामस्वरूप वे दस्यु अन्त में नत हो जाते हैं।

शृंगार रस की साधारण सी झलक भी अष्टम सर्ग में नागरीस्त्रियों के चित्रण में पाते हैं। पाठशाला के छात्र अवकाश के दिन भ्रमणार्थ नगर में जाते हैं:—इसी प्रसंग में कविने नगर रमणियों का जो रमणीय चित्र खींचा है वह अपने आप में अनुपम है:—

सौन्दर्यमारालसगामिनीनां क्वचित् कदाचित् पथि कामिनीनाम् ।
स्वलोकि यत्तैरपि हावलीला मनःप्रवृत्तिर्हि विनोदशीला ॥
सौदामिनी चेत् कुहचित् स्फुरन्ती विलोकितैमि न दिदृक्षयापि ।
रूपप्रभावो बलवान् स्वभावात् स्वतो हरत्येव दृशो न केषाम् ॥
स्फीत-स्तनीनां घटधारिणीनाम् संदर्शनीये गजकुम्भमर्दे ।
दृष्टिर्यदृच्छापतितापि दूरात् जनं विदीर्णं कुरुतेस्म दीनम् ॥
(वि० प्र० ३३-४१,४३)

इन श्लोकों में कवि के शृंगारिक चित्रण की अपूर्व क्षमता का हमने अनुभव किया, किन्तु इस रस की परिणति मे श्री शास्त्री अपने लक्ष्य के प्रति जागरुक हैं, इसलिए वे इसी क्रम में कहते हैं:—

भीतोऽपि वेणी-विसर्पिणोभ्यो निमील्य नेत्रेऽवनतानमस्तत् ।
छात्रो वराकश्चलतिस्म कष्टं मुहुः कटाक्षोप्रसरं विकीर्णः ॥
(वि० प्र० ३३-४४)

छात्र मात्र के लिए ये वेणियां सर्पिणीवत् ही है। फिर संस्कृत छात्र तो विनयी और त्याग, तपस्या की मूर्ति होते हैं, संयम ही उनका जीवन पाथेय हुआ करता है।

नायक के बाल चित्रण मे वात्सल्य रस का उन्मेष भी दृष्टिगत होता है। नायक का एक उद्दण्ड किशोर बालक के रूप में चित्रण भी अपने आप में अद्भुत है। किशोर वय की स्वाभाविक चंचल गतिविधियों के निरुपण में कवि को पूर्ण सफलता मिली है। बालक की उद्दण्डता तथा उच्छृंखलता उसके माता पिता के लिए कितनी कष्टकर होती है इसका स्पष्ट दर्शन हमें नायक के पिता की मनः स्थिति में होता है। अपने एक मात्र मातृ विहीन बालक की उद्दण्डता पूर्ण गतिविधियों से वह बेचारा परेशान है वह चाहता है कि उसका हरनाम एक ब्राह्मण कुमार के समान अध्ययनशील बने, गुरुगृह का अन्तेवासी बने, किन्तु वह अपने बेटे को विपरीत स्थिति मे पाता है। इस स्थिति से उसके हृदय में उठने वाली मूक व्यथा, और पुत्र को जैसे तैसे नियंत्रण मे लाने के उसके प्रयत्न और फिर विफल होने पर उत्पन्न होने वाली झुंझलाहट आदि में यदि हम किसी रस की कल्पना करें तो इसका सुन्दर निष्पादन भी इसमे पाते हैं।

शान्त रस तो इस महाकाव्य का प्रमुख रस ही है। काव्य में अनेक

स्थलों पर संसार की असारता तथा तत्त्व-चिन्तन के प्रति नायक का तीव्र आकर्षण और फिर उस दिशा में सफल प्रवृत्ति आदि में इस रस की पूर्ण निष्पत्ति पाते हैं। इस महाकाव्य में कोई भी ऐसा सर्ग नहीं है जिसमें सात्विक भावों के प्रेरक विचारों की प्रचुरता न हो। कहीं पर प्राचीन शिक्षा पद्धति व अन्तेवासी छात्रों की आदर्श दिनचर्या का मनोरम वर्णन है तो कहीं पर उन्हीं छात्रों के द्वारा रुद्राभिषेक आदि का सजीव दृश्यांकन कवि ने प्रस्तुत किया है। गुरुकुल कांगड़ी, ज्वालापुर महाविद्यालय व सिद्धाश्रम एवं उनके समीपस्थ तपोमय अरण्य व गिरी कन्दराओं के वर्णन से पाठकों का मानस अपने अतीत भारत के ऋषि आश्रमों की स्मृति से आपूरित हो जाता है। यज्ञ मण्डपों, शास्त्रार्थ और नायक की कुम्भ के अवसर पर निकली संघयात्रा आदि सभी प्रसंग हमारे सात्विक एवं शान्तभावों को ही प्रेरित करते हैं। इसप्रकार यह सम्पूर्ण महाकाव्य शान्त रस की भागीरथी से आप्लावित है। अतः स्वर्गीय विश्वेश्वर नाथरेऊ के अनुसार इसमें रसोद्रेकता की महती प्रतिपादना है:—

हरनामामृतं विद्याधर कृत सिन्धु निर्गतम्।
पीत्वा पीत्वा च विबुधा केम तृप्यन्ति भूतले॥

□

□ □ □ कला पक्ष

पूर्व पृष्ठों में 'हरनामामृतम्'के भाव पक्ष के अन्तर्गत हमने उसकी वस्तुनेता वर्णन तथा रसोद्रेक स्थिति पर समीक्षा की। अब उसके कला पक्ष की आलोचना कर रहे हैं:—

(क) नामकरण:—

प्रस्तुत महाकाव्य का नाम चरित-नायक के नाम पर रखा गया है, जो कि सर्वथा उचित है। इसमें माध्याचार्य हरनामदत्त महोदय के जीवन व कृतित्व की वर्णना ही प्रमुख है। यद्यपि इस काव्य के प्रथम दो सर्ग सर्वप्रथम डूंगर महाविद्यालय की वार्षिक पत्रिका में 'संस्कृत जीवने' नाम से प्रकाशित हुए थे और कवि की स्वयं की दृष्टि भी प्रारम्भ में कुछ इस प्रकार की ही थी कि हरनामदत्त के अन्य समकालीन संस्कृतज्ञों के जीवन व कृतित्व को भी महाकाव्य के कथा प्रसंग में नियोजित करे। किन्तु प्रतीत

होता है कि यह विचार प्रमुख पात्र के व्यक्तित्व विकास में अवरोध रूप होने से भाष्याचार्य के जीवन वृत्त को ही आधार माना तथा इनके नाम से ही महाकाव्य का नाम भी रखा जो कि उचित भी रहा चूंकि इसमें भाष्याचार्य के जन्म से महाप्रयाण तक की समस्त घटना वृत्तों की संयोजना है जिससे विषय-वस्तु को व्यापक रूप मिला है। अस्तु ! वर्ण्य विषय से पूर्ण सम्बन्धित होने के कारण यह नाम सर्वथा उपयुक्त है।

(ख) सर्ग योजना:—

प्रस्तुत काव्य में १६ सर्ग है। यद्यपि संयोजन-क्रमिका घटना के विकास क्रम के अनुसार ही है किन्तु हिन्दी तथा संस्कृत के कुछ अभिनव महाकाव्यों के समान सर्गों का नामकरण उनमें वर्णित विषय वस्तु के अनुसार नहीं है। प्रत्येक सर्ग में पूर्वापर अन्विति है। अतः कथानक विकास की दृष्टि से 'हरनामामृतम्' की सर्ग-योजना पूर्ण सफल है।

(ग) भाषा-शैली:—

भाषा भावों की वाहिका होती है जिस कवि की भाषा जितनी ही अधिक सबल और प्रसंगोचित होगी, भावों की उतनी ही तीव्र अनुभूति वह अपनी कविता द्वारा कर सकेगा। व्याकरण सम्मत व सशक्त भाषा के अभाव में कवि के उत्कृष्ट भाव भी प्रेषणीयता को प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं।

प्रस्तुत काव्य की भाषा प्रसादमयी है। कहीं पर भी व्याकरण विषयक दुर्बोधता, क्लिष्ट, समस्त पदावली व अप्रचलित शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता। यहां तक कि यदि कहीं दार्शनिक सिद्धांत की पुष्टी करने का भी अवसर आया है तो कविने मात्र उस दर्शन विशेष के प्रवर्तक के नाम अथवा उसके सर्व प्रसिद्ध दार्शनिक शब्दों के नाम से ही काम निकाला है किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि सभी विषयों के तकनीकी शब्दों का बहिष्कार ही कर दिया गया हो, गंभीर से गंभीर विषय को प्रस्तुत करने में शास्त्रीजी ने सरल व सुगम शब्दों के प्रयोग का ही आश्रय लिया है। इसके अतिरिक्त भाषा को सशक्त बनाने के लिए सूक्तियों, मुहावरों आदि का प्रयोग भी यथा प्रसंग किया गया है।

स्थलों पर संसार की असारता तथा तत्त्व-चिन्तन के प्रति नायक का तीव्र आकर्षण और फिर उस दिशा में सफल प्रवृत्ति आदि में इस रस की पूर्ण निष्पत्ति पाते हैं। इस महाकाव्य में कोई भी ऐसा सर्ग नहीं है जिसमें सात्विक भावों के प्रेरक विचारों की प्रचुरता न हो। कहीं पर प्राचीन शिक्षा पद्धति व अन्तेवासी छात्रों की आदर्श दिनचर्या का मनोरम वर्णन है तो कहीं पर उन्हीं छात्रों के द्वारा रुद्राभिषेक आदि का सजीव दृश्यांकन कवि ने प्रस्तुत किया है। गुरुकुल कांगड़ी, ज्वालापुर महाविद्यालय व सिद्धाश्रम एवं उनके समीपस्थ तपोमय अरण्य व गिरी कन्दराओं के वर्णन से पाठकों का मानस अपने अतीत भारत के ऋषि आश्रमों की स्मृति से आपूरित हो जाता है। यज्ञ मण्डपों, शास्त्रार्थ और नायक की कुम्भ के अवसर पर निकली संघयात्रा आदि सभी प्रसंग हमारे सात्विक एवं शान्तभावों को ही प्रेरित करते हैं। इसप्रकार यह सम्पूर्ण महाकाव्य शान्त रस की भागीरथी से आप्लावित है। अतः स्वर्गीय विश्वेश्वर नागरेऊ के अनुसार इसमें रसोद्रेकता की महती प्रतिपादना है:—

हरनामामृतं विद्याधर हृत सिन्धु निर्गतम्।
पीत्वा पीत्वा च विबुधा केन तृप्यन्ति भूतले॥

□

□ □ □ कला पक्ष

पूर्व पृष्ठों में 'हरनामामृतम्'के भाव पक्ष के अन्तर्गत हमने उसकी वस्तुनेता वर्णन तथा रसोद्रेक स्थिति पर समीक्षा की। अब उसके कला पक्ष की आलोचना कर रहे हैं:—

(क) नामकरण:—

प्रस्तुत महाकाव्य का नाम चरित-नायक के नाम पर रखा गया है, जो कि सर्वथा उचित है। इसमें भाष्याचार्य हरनामदत्त महोदय के जीवन व कृतित्व की वर्णना ही प्रमुख है। यद्यपि इस काव्य के प्रथम दो सर्ग सर्वप्रथम डूंगर महाविद्यालय की वार्षिक पत्रिका में 'संस्कृत जीवने' नाम से प्रकाशित हुए थे और कवि की स्वयं की दृष्टि भी प्रारम्भ में कुछ इस प्रकार की ही थी कि हरनामदत्त के अन्य समकालीन संस्कृतज्ञों के जीवन व कृतित्व को भी महाकाव्य के कथा प्रसंग में नियोजित करें। किन्तु प्रतीत

होता है कि यह विचार प्रमुख पात्र के व्यक्तित्व विकास में अवरोध रूप होने से भाष्याचार्य के जीवन वृत्त को ही आधार माना तथा इनके नाम से ही महाकाव्य का नाम भी रखा जो कि उचित भी रहा चूंकि इसमें भाष्याचार्य के जन्म से महाप्रयाण तक की समस्त घटना वृत्तों की संयोजना है जिससे विषय-वस्तु को व्यापक रूप मिला है। अस्तु ! वर्ण्य विषय से पूर्ण सम्बन्धित होने के कारण यह नाम सर्वथा उपयुक्त है।

(ख) सर्ग योजनाः—

प्रस्तुत काव्य में १६ सर्ग है। यद्यपि संयोजन-क्रमिका घटना के विकास क्रम के अनुसार ही है किन्तु हिन्दी तथा संस्कृत के कुछ अभिनव महाकाव्यों के समान सर्गों का नामकरण उनमें वर्णित विषय वस्तु के अनुसार नहीं है। प्रत्येक सर्ग में पूर्वापर अन्विति है। अतः कथानक विकास की दृष्टि से 'हरनामामृतम्' की सर्ग-योजना पूर्ण सफल है।

(ग) भाषा-शैलीः—

भाषा भावों की वाहिका होती है जिस कवि की भाषा जितनी ही अधिक सबल और प्रसंगोचित होगी, भावों की उतनी ही तीव्र अनुभूति वह अपनी कविता द्वारा कर सकेगा। व्याकरण सम्मत व सशक्त भाषा के अभाव में कवि के उत्कृष्ट भाव भी प्रेषणीयता को प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं।

प्रस्तुत काव्य की भाषा प्रसादमयी है। कहीं पर भी व्याकरण विषयक दुर्बोधता, क्लिष्ट, समस्त पदावली व अप्रचलित शब्दों का प्रयोग नही मिलता। यहां तक कि यदि कहीं दार्शनिक सिद्धांत की पुष्टी करने का भी अवसर आया है तो कविने मात्र उस दर्शन विशेष के प्रवर्तक के नाम अथवा उसके सर्व प्रसिद्ध दार्शनिक शब्दों के नाम से ही काम निकाला है किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नही है कि सभी विषयों के तकनीकी शब्दों का बहिष्कार ही कर दिया गया हो, गंभीर से गंभीर विषय को प्रस्तुत करने में शास्त्रीजी ने सरल व सुगम शब्दों के प्रयोग का ही आश्रय लिया है। इसके अतिरिक्त भाषा को सशक्त बनाने के लिए सूक्तियों, मुहावरों आदि का प्रयोग भी यथा प्रसंग किया गया है।

भाषा और शैली का सम्बन्ध अति-गहन और अटूट होता है। जिस प्रकार व्यक्ति और उसके गुण विलग नहीं हो सकते उसी प्रकार भाषा को शैली से और शैली को भाषा से पृथक नहीं किया जा सकता।[1] ये दोनों ही अर्जित होते हैं। भाषा की पहचान उसके आगे लगे प्रत्ययों से होती है और शैली की रचना प्रक्रिया तथा तात्त्विक विलक्षणताओं से जिनमें छन्द, अलंकार और मुहावरे आदि भी सम्मिलित होते हैं। आलोच्य महाकाव्य में वैदर्भी रीति को अपनाया गया है। जिससे अभिव्यंजना में प्रासादिकता बनी है। इसकी शैली में प्रवाह है। कहीं पर भी व्यंजना में शिथिलता दृष्टिगत नहीं होती। संप्रेषणीयता इसकी शैली की विशिष्टता है। शब्द शक्तियों की समुचित व्यंजना भाषा के सुन्दर प्रयोग एवं मुहावरेदार पदावली तथा सहज-स्वाभाविक अलंकार योजना के कारण इसका जो विशेष प्रवाह बना है वह अति आकर्षक है। इसप्रकार भाषा एवं शैली की दृष्टि से 'हरनामामृतम्' एक सफल तथा सक्षम रचना है।

(घ) अलंकार विधानः—

अलंकार रस के उपकारक और काव्य के आभूषण हैं। अलंकारों के अस्वाभाविक और अस्थान प्रयोग से कविता कामिनी की दशा भारी एवं बेडौल कुंडलों को कान मे पहनने वाली स्त्री के समान हो जाती है। काव्य के भाव पक्ष में जो स्थान रस को प्राप्त है, कला पक्ष में वही स्थान अलंकार-विधान का है। आलोच्य महाकाव्य में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का ही प्रयोग है। प्रयत्न पूर्वक अहंकार प्रयुक्ति कवि ने कहीं पर भी नहीं की है। यही कारण है कि इनके अलंकार कहीं पर भी भाव सौन्दर्य में व्याघातकारक नही है अपितु उसके विकास के विधायक ही हैं। प्रसाद गुण सम्पन्न इस काव्य मे अनुप्रास सौन्दर्य तो प्रायः पदे-पदे बड़े व्यापक रूप मे ही विद्यमान है। इसके अतिरिक्त यमक, श्लेष, रूपक और उन्मेष समावेश विरोधाभास तथा इसी प्रकार अन्यान्य अलंकारों का सुन्दर उन्मेष हुआ है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं:—

अनुप्रासः—

एषां सतां संस्कृतसंस्कृतानां स्थितिः स्थिरा संस्कृतजीवनेऽस्मिन्।
सनातनीयं सरणिः सुसेव्या लक्ष्याधिगत्यै नियता प्रकृत्या॥
(वि० प्र ४-४१)

---

१. डॉ० वीणा शर्मा—'आधुनिक हिन्दी महाकाव्य संस्कृत परिपार्श्व में' पृ० ३०५

प्रस्तुत श्लोक में 'स', 'त', 'र' वर्णों तथा संस्कृत पद की अनेक बार आवृत्ति के द्वारा वृत्त्यानुप्रास का सुन्दर संयोजन हुआ है।

पंचदश सर्ग में संस्कृत भाषा की विशिष्टता प्रतिपादित करते हुए कवि कहता है कि इसी के स्वर स्फोट से सारे वर्ण (स्वर और व्यंजन) स्फुरित हुए तथा हम सब भी (हमारे चारों वर्ण) इसी की स्फुरणा का परिणाम है।

अस्या एव स्वरस्फोटे, वर्णाः सर्वे स्फुटाः स्वयम्।
महान्ति सर्वतस्त्वाना माभासो भासते यथा॥

(वि० प्र० ६६-६६)

स्फुटा और स्फोटे का सुन्दर प्रयोग सराहनीय है।

काव्य लिङ्गः—

साम्ये भवेयद् घटतां तथा तत् फलेन्न किञ्चित् समयात् पुरस्तात्।

(वि० प्र० ११-२८)

इसमें द्वितीय वाक्य प्रथम वाक्य के हेतु के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

उत्प्रेक्षाः—

प्राप्तारतम् धर्मइवापरोक्षा विराजमाना द्विजगौरवेण।
महाप्रभावा गुरुभक्तिभावा महर्षिकल्पा जयदेवमिश्राः॥

(वि० प्र० ७२-२६)

गुरु के प्रति भक्ति भावों से समन्वित तथा द्विजत्व-गरिमा से प्रेम विष्णु महर्षि तुल्य जयदेव मिश्र इस प्रकार से विराजमान है मानों धर्म ने ही प्रत्यक्ष शरीर धारण किया है। इसमें धर्म इवा परोक्षा में उत्प्रेक्षा की संसृति सुन्दर बन पड़ी है।

रूपकः—

हरनामामृतं चास्मिन् विप्रैः पूर्वं निपीयताम्।
गीयन्तांच ततो गाथाः सर्वेषां सुधियां शुभाः॥

(वि० प्र० ४-४२)

हरनामामृतम् शब्द में रूपक है

स्वभावोक्तिः—

मन्त्रक्रियायां रससाधने च व्यासक्तवृत्तिः स्थिरचित्तवृत्तिः।
गोसेवया शंकरसेवया वा निनाय कृत्स्नं समयं सुखेन।।
(वि० प्र० ५-८)

परिकरः—

मातेति तस्या इतरमो विकासः तत्रैव तस्या जगतो कृतार्था।
भोगाय सृष्टा नहि केवलं स्त्री किं नाम जाया जननी भवेत् सा।।
(वि० प्र० ६-१७)

यहां जाया शब्द का विशेषण साभिप्राय होने से परिकरालंकार है।

अर्थान्तर न्यासः—

कृपाप्रसादं शिवशङ्करस्य शीघ्रं, गुणाढ्यं तनयं लभेयाः।
चिन्ता न कालिङ् गिरिजा गृहस्थे भवस्य भक्तिश्च न कदापि वंध्या।।
(वि० प्र० ७-३७)

प्रस्तुत श्लोक में शिव शंकर के कृपा प्रसाद से गुण सम्पन्न पुत्र प्राप्ति का कथन करके भक्ति के फलवती स्वरूप के समर्थन से उसके अवन्ध्या रूप की सिद्धि अर्थान्तर न्यास की द्योतिका है।

तुल्ययोगिता—

स्थापयन् श्रौतसिद्धान्तं पंथानं दर्शयन् सताम्।
चूर्णयन् कैतवीं नीतिं भ्रान्तिमुत्सारयन् नृणाम्।।
(वि०प्र० ५३-५६)

यहां श्रौत सिद्धांत की स्थापना सज्जनों को मार्ग दर्शन कैतवी नीति को नष्ट करने तथा मनुष्यों के भ्रम निवारण आदि अनेक अप्रस्तुतों को एक ही धर्म से अन्वित किया गया है।

इस प्रकार कवि की अलंकार योजना इसका उपकारक तथा काव्य को प्रभावशाली बनाने वाली है। काव्य में बाधक अलंकार योजना प्रस्तुत कृति में कहीं भी लक्षित नहीं होती अपितु कविता के नैसर्गिक स्वरूप व

उसके दिव्य विकास के सहयोगी रूप में अलंकारों की नियोजन हुई है।

(इ) छन्द विधान:—

महाकाव्यों की शास्त्रीय परम्परानुसार 'आलोच्य रचना' में छन्द योजना का सुष्ठु निर्वहन है। इसके प्रत्येक सर्ग में एक प्रमुख छन्द और सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन है। उपजाति और उपेन्द्रवज्रा कवि के प्रिय छन्द है, किन्तु इन्द्रवज्रा, अनुष्टुप्, द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका, शिखरिणी तथा स्रग्धरा छन्दों की प्रयुक्ति भी प्रशंसनीय है। विविध छन्दों का प्रयोग द्रष्टव्य है:—

हंसी उपजातिः—

विधाय शास्त्रानुमतानि सद्यः संस्कार-कर्माण्यखिलानि तस्य।
हरेणदत्तः कृपयेति तातः सन्नाम चक्रे हरनामदत्तम्॥
(वि० ग्रं० १-८)

उपेन्द्रवज्राः—

कवि विधाता भवतीह साक्षात् (वि० ग्रं० १-२)

अनुष्टुप्:—

हरनामामृतं चास्मिन् विज्ञैः पूर्वं निपीयताम् (वि० ग्रं० ४-४२)

शार्दूलविक्रीडितः—

साहित्यं सुरभारतीपरिणतं विश्वात्मसन्तर्पणम् (वि० ग्रं० ४-४३)

मालिनीः—

अथ कतिपयमासानन्तरं भासमाना (वि० ग्रं० ८-४२)

वसन्ततिलकाः—

अस्यां स्थितौ परमखिन्नमति मुरारि (वि० ग्रं० १२-४४)

मन्दाक्रान्ताः—

स्मारं स्मारं पशुपतिकृपां तातवर्यः कृतार्थः (वि० ग्रं० २१-५८)

इन्द्रवज्राः—

भोग्यं हि यत् तत् खलु भोग्यमास्ते (वि० ग्रं० २२-१०)

द्रुतविलम्बित.—

इह शुभाशुभकर्म-समुद्भवां (वि० ग्रं० २५-४४)

शिखरिणी:—

बुधैरेवं काव्यां स्मृतगुणगणैः संस्तुतमतिः (वि० प्र० २९-४२)

स्रग्धरा:—

तेषामेवं सुधीनां सुकृतपथजुषां शास्त्रचिन्तारतानाम्

(विमें प्र० ३४-५६)

इस प्रकार प्रायः सभी प्रसिद्ध छन्दों का प्रयोग आलोच्य महाकाव्य मे मिलते हैं। सभी छन्दों के प्रयोग में कवि की कुशलता स्पष्ट है। अधिकांश सर्ग उपजाति में ही लिखे गये हैं।

गुणादि योजना:—

इस अलकार एवं छन्द आदि की सफल योजना के साथ ही इस काव्य का गुण विधान भी उत्कृष्ट स्तर का है। माधुर्य, प्रसाद और ओज आदि गुणों की प्रसंगानुकूल प्रस्तुति इसमे उपलब्ध है। आगे एक उदाहरण द्रष्टव्य है:—

माधुर्य:—

हृदयसरसिजं विकासयन् सन् दिशि-दिशि सौरभमयं तमो निरस्यन्।
सुकृततति नियोजयन् समन्तात् रविरिव विद्याधरस्तदा बभासे॥

(वि० प्र० ४८-५०)

प्रसाद:—

यह गुण तो इनका अपना गुण ही है:—

"उत्तिष्ठ भो ब्राह्मण गच्छ गेहम् गृहस्थधर्मं चर सुप्रसन्नः।
स्वभावसिद्धा शुभभावमाला: सङ्कल्पसिद्धिं भुवने प्रवरय"॥

(वि० प्र० ७-३३)

ओज:—

विधाय नाम स्मरणं गुरोश्च ध्यायंस्तथा मारुति वीरमूर्तिम्।
आस्फालयन् बाहुतटं विशालं धूर्लीं स रंगस्य दधार मूर्ध्नि॥

(वि० प्र० १३-१०)

समाधि:—

ब्राह्मे मुहूर्ते प्रकृतिप्रशान्ते विधाय गंगास्नवनं प्रशान्तः।
दुर्गालये वा शिवमन्दिरे वा तस्थौ स्थिरो ध्यानसमाधिलीनः॥

(वि० प्र० २३-२२)

उदारता:—

शान्ताः कथानां श्रवणे निमग्नास्तत्त्वार्थशङ्का-विनिवारणाय ।
तांस्तान् गंभीरान् विमलान् विचारानाकर्णयन्तोऽनुगता जनास्तम् ।।

(वि० ग्रं० ३०-५)

अतः उपर्युक्त उदाहरणों से गुणादि की योजना का सुन्दर विधान का अनुमान भी सहज ही लगाया जा सकता है ।

सूक्ति सौन्दर्य:—

महाकवियों की सूक्तियां अपनी सरसता, स्वाभाविकता तथा अर्थ गुरुता के कारण काव्य की शोभा को ही नहीं बढ़ाती, अपितु जन साधारण भी इनका प्रयोग अपने दैनिक जीवन में कर सकते हैं और करते भी हैं । संस्कृत साहित्य में सूक्तियों की सुचारु परम्परा रही है । अन्य अनेक सफल महाकाव्यों के समान प्रस्तुत महाकाव्य में भी यंत्र तंत्र सरल व शिक्षाप्रद तथा जीवन तथ्य प्रसारक सुभाषित बिखरे पड़े हैं जो पाठकों के लिए नूतन-स्फूर्ति एवं प्रेरणा के सदेश वाहक हैं तथा कण्ठाग्र होने पर स्मृति पटल पर अपना मधुर प्रभाव छोड़ जाते हैं । ये सूक्तियां तथा सुभाषित कवि के विशाल अनुभव की खरी खान से पक कर निकले हैं । श्रीयुत शास्त्री की सूक्तियां व सुभाषित वचन कालिदास और भारवि के समान हमारे संस्कारों में समा जाने तथा हमारी भावनाओं के साथ सामजस्य स्थापित करने की क्षमता रखते हैं ।

कतिपय सूक्तियां व सुभाषित द्रष्टव्य है:—

१. प्रभोः प्रसादो मनसः प्रसादः (वि० ग्रं० ७-३६)
प्रभु की प्रसन्नता व कृपा में ही मन की प्रसन्नता निहित है ।

२. भवस्य भक्तिश्च न कदापि वंध्या (वि० ग्रं० ७-३७)
शिव की भक्ति कभी भी वन्ध्या अर्थात् विफल नहीं होती ।

३. कृतेऽपि यत्ने यदि नास्ति पूर्तिः प्रतीक्षणीयः समयोऽपि विज्ञैः
(वि० ग्रं० ११-२८)
प्रयास करने पर भी यदि सफलता न मिले तो विज्ञजनों को चाहिये कि वे समय की प्रतीक्षा करें ।

४. यन्नो घटेत भुवि यत्नशतैः कथंचित्

सद्यस्तदे घटते भगवत्प्रसादात् (वि० ग्रं० १२-४४)

कभी कभी ऐसा अनुभव में आता है कि शतशः प्रयत्न करने पर भी कुछ कार्य संभव प्रतीत नहीं होते वे भगवत्कृपा से शीघ्र ही सफल व पूर्ण हो जाते हैं।

५. क्रोधोऽपि पुत्राय शुभाभिलाषी हिताय नित्यं जनकोपदेशः (वि० ग्रं० १४-१६)

पिता के द्वारा पुत्र पर किये जाने वाला क्रोध भी पुत्र के लिए लाभप्रद ही हुआ करता है।

६. स्थिरं सदा किंचन नैव लोके कश्चिज्जयी वा न चिरं तथास्मिन् (वि० ग्रं० १५-३०)

इस जगत् में कुछ भी नित्य व स्थिर नहीं है और न ही सदा कोई विजयी रहता है।

७. प्राज्ञोऽपि कर्तुं सहसा न किञ्चित् समीक्ष्य निर्धारयितुं चलक्ष्यम् (वि० ग्रं १५-३७)

कर्त्तव्य मार्ग का निर्णय सहसा न कर सोच समझ कर ही करना चाहिये।

८. विवेक शक्ते नहि कापि सीमा (वि० ग्रं १६-४१)

विवेक शक्ति की कोई सीमा नहीं होती।

९. व्रजेत् कदा कोऽनु पथे हि कस्मिन् देवो न जानाति कुतो मनुष्यः (वि० ग्रं० १६-४५)

कौन कब किस पथ का पथिक बन जायेगा इसे मनुष्य तो क्या देवता भी नहीं जानते।

१०. लक्ष्यैकदृष्टि मनुजो न विघ्नान् समीक्षते नापि बिभेति तेभ्यः (वि० ग्रं० १६-५०)

लक्ष्य की ओर ही एक मात्र दृष्टि रखने वाला मनुष्य न तो विघ्नों को देखता है और न ही उनसे भयभीत ही होता है।

११. स्वसाध्यसिद्ध्यै दृढनिश्चयात्मा सिद्धिं प्रसिद्धिञ्च सहैव लेभे॥ (वि० ग्रं० १८-१४)

स्वभाव से दृढ़ निश्चयी व्यक्ति सफलता व ख्याति को एक साथ ही प्राप्त करता है।

१२. भोग्यं हि यत् तत् खलु भोग्यमास्ते हातुं न तज्जातु जनेन शक्यम् (वि० ग्रं० २२-१०)

भाग्य में जो भोग्य लिखा है उसे तो भोगना ही पड़ता है वह मनुष्य के द्वारा मिटाया जाना संभव नही ।

१३. सर्वात्मना कर्मरतस्य लोके चित्तं न शोकावभिभूतिमेति
(वि० प्र० ३१-१८)

सम्पूर्णमनाकत्तृत्वशील व्यक्ति का मन कभी शोक ग्रस्त नही होता ।

१४. यत्रापि विद्वान् कुरुते निवासम् तत्रैव नव्योद्भवतीह काशी
(वि० प्रं० २६-५)

जहाँ पर भी विद्वान रहते हैं वहीं नव काशी का उद्भव हो जाता है ।

१५. तृप्ति विधेया क्षुधितस्य पूर्वं किं तर्पणं तृप्ततमस्य लोके
(वि० प्रं० २७-१५)

भूखे व्यक्ति की क्षुधा ही पहले मिटानी चाहिए पाये अर्थात् जो तृप्त है उसकी तृप्ति से क्या ?

१६. आचारशिक्षैव परा सुशिक्षा (वि० प्रं० ३१-२२)

आचार (चरित्र) की शिक्षा ही प्रथम अच्छी सुशिक्षा हैं ।

१७. लयमेति न किन्तु भीषणा परमेषा वत चिन्तयैव नः
(वि० प्रं ३७-१८)

केवल चिन्तन मात्र से ही संसार की भयभीति दूर नही होती ।

१८. सततं हि जनैः शुभक्रिया सुविधेया निजसिद्धिमीप्सुभिः
(वि० प्र० ३७-२७)

सफलता का भी पुरुष को सदा शुभ कार्य से सुष्टु विधिसे सम्पादन करना चाहिए ।

१९. विफला च कदा स्तुतिः सतां परमेशे शुचिभावभाविता
(वि० प्रं० ३७-२९)

परमेश्वर के पवित्र भावों से भावित सन्तों का स्तवन कब विफल हुआ है ? अर्थात् कभी नही ।

२०. पूजार्हो लभते पूजां यत्र कुत्रापि संविशन् ।। (वि० प्रं० ५१-४०)

सम्मान योग्य व्यक्ति चाहे कही पर भी रहे सम्मान पाता ही है ।

२१. स्थितिं परेषां च समीक्षमाणो धीरो न केषां

दूसरों की स्थिति को देखने वाले अर्थात् उनके सन्ताप हरने वाले धीर पुरुष किसके मन को नही हरते ।

इस प्रकार इस महाकाव्य-कानन में अनेकानेक सुभाषित सुमन बिखरे पड़े हैं जिनका चयन कर हम अपने जीवन को सुवासित कर सकते हैं ।

□ □ □. चिन्तन पक्ष :-

(१) दार्शनिक दृष्टि :-

संस्कृत साहित्य के प्राचीन एव अर्वाचीन महाकाव्यों में संभवतः एक भी ऐसा महाकाव्य नहीं है जिसमे दार्शनिक दृष्टि का पूर्ण अभाव हो । जीवन और दार्शनिक दृष्टि की अभिन्नता भारत की अपनी विशिष्टता है । भारतीय जन्म से ही दार्शनिक होते हैं इस प्रसिद्धि में अवास्तविकता नहीं है । आलोच्य महाकाव्य को इस दृष्टि से पर्यवेक्षण विशेष रूप से उचित है । क्योकि इसका कवि स्वयं दार्शनिक है । इनकी समस्त रचनाओं के आधार पीठिका मे यह दृष्टि प्रमुख है ।

प्रस्तुत रचना में वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार भारतीय जीवनयापन पद्धति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है । अतः ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों उपासनाओं का अपूर्व संगम हम इसमें पाते हैं । गीता का कर्मयोग तो पदे पदे प्रत्येक सर्ग में परिलक्षित है । नायक के पिता की आशुतोष की आराधना में इष्ट के प्रति जिस अडिग आस्था व पूर्ण समर्पण भाव के दर्शन होते हैं वह भक्ति की एक उच्चतम स्थिति है । तथा वर्षा हेतु रुद्राभिषेक की आयोजना तथा हरिद्वार में यज्ञों के आयोजन में हमारे पूर्व मीमासा के कर्मकाण्ड पक्ष के प्रति कवि ने केवल आस्था ही प्रकट नही की अपितु यज्ञ-तत्व के पारम्परित स्वरूप की व्याख्या करते हुए उसके युगानुरूप शाश्वत मूल्यों को भी प्रस्तुत किया है । नायक की अद्वैत-चिन्तन में लीन, ईश्वर, जीव और ब्रह्म विषयक चर्चाएं अप्रत्यक्ष रूप से इसके दार्शनिक पक्ष की ही प्रस्तुति हैं । दर्शन की किसी शाखा विशेष की चाहे विधिवत् चिन्तना प्रस्तुत न की हो किन्तु अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों की श्लेषादि अलंकारों से समन्वित निदर्शना वास्तव में बड़ी सुन्दर है यथा इसके पञ्चम सर्ग मे काशी वर्णन में काशी के कण कण में कणादवृत्ति की कल्पना अपूर्व है ।

कणं कणं यत्र कणादवृत्तिः सर्वान् विशिष्टान् भुवने विधत्ते

(वि० प्र० १७-६)

सर्वोदयी नीति की प्रेरणा देते हुए कवि कहता है कि जैसे पर पर विरोधी सांख्य के तीन तत्त्व-सत्व, रजस् और तमस् परस्पर मिलकर एक सुन्दर सृष्टि की रचना करते हैं वैसे ही हमारा भी कर्त्तव्य है कि हम विरोधी भावों को दबा कर पारस्परिक सहयोग से सबका उदय करें।

सर्वश्च सर्वस्य सुखाभिनन्दी सर्वत्र सर्वाभ्युदयं विदध्यात्।
गुणा यथाऽन्योऽन्यकृतोपकारा स्त्र्योऽपिसंभूय सृजन्ति सर्गम्॥

(वि० प्र० ५६-२०)

इस प्रकार दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तों व उसकी शब्दावली को अपने कथ्य के लिए प्रतिमान रूप मे ग्रहण किया है। प्रस्तुत कृति में दार्शनिक दृष्टि की पर्यवेक्षणा के लिए हम कुछ विशिष्ट शीर्षकों पर विचार करते हैं:—

(क) जीवन की विचित्र अविगत गतिपरक चित्रकः—

जीवन की गति विचित्र है। उसकी गति के प्रारम्भ और अवसान का ज्ञान सभी के लिए सहज और संभव नहीं। मानव जब अपने चारों ओर के वातावरण विशेष में जब आकस्मिक रूप से अघटित घटना को घटित होते हुए देखता है तो उसके मन में किसी अज्ञात शक्ति के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है। दार्शनिक दृष्टि का प्रारम्भ यही है। जीवन की इसी विचित्र गति का चित्रण कवि प्रस्तुत करते हुए कहता है—जीवन की गति बड़ी विचित्र है। इसमें कब और किस प्रकार का परिवर्तन हो जायेगा इस विषय में कोई भी कुछ कह नही सकता।

नैका स्थिति यत्र कदापि काचित् तज्जीवनं हन्त सदा विचित्रम्
हसन् क्षणेऽस्मिन् परतो रुदन्सन् यस्मिन्नरो हन्त विरौति दीनम्

(वि० प्र० ६-१०)

क्योंकि सनातन काल से सतत प्रवाहित इस भव प्रवाह में सृष्टि का स्वरूप कभी भी एक रूप नही रहा और यह जीवन सुख और दुःख के चक्र में सदा चक्रित रहता रहा है।

न जीवनं द्वन्द्वविहीनमेतत् कदापि भूतं न पुनश्च भावि ।
नचापि सृष्टेर्गतिरेकरूपा सनातनेऽस्मिन् हि भवप्रवाहे ॥
(वि० प्र० २२-१२)

इस सतत परिवर्तनशील जगत में कुछ भी स्थायी नहीं है। किसी की विजय सदा स्थायी नहीं रहती। विजय और पराजय केवल मात्र दैवाधीन ही है। अतः दैव ही प्रमुख है।

स्थिरं सदा किंचन नैव लोके कश्चिज्जयी वा न चिरं तथास्मिन् ।
फलाश्रितावेव जयाजयौ न प्राप्तौ तयो दैवमपीह मुख्यम् ॥
(वि० प्र० १५-३०)

इस प्रकार जीवन व जगत् की अस्थिरता को कवि ने अनेक रूपों में चित्रित किया है।

(ख) अज्ञात सत्ता के अस्तित्व की स्थापना:—

शास्त्रीजी ने जीवन की अविगत गति के पीछे उसे सब प्रकार से तथा सृष्टिविधि से नियंत्रित करने वाली किसी अज्ञात शक्ति को स्वीकार किया है। चाहे वेदान्ती उसे ब्रह्म कहे, अथवा सांख्यदर्शन के अनुसार वह पुरुष हो किन्तु इस जगत् के सम्पूर्ण विधान का कोई विधायक अवश्य है। जो अनेक रूपों में इस दृश्य जगत् में परिव्याप्त है। कवि प्रथम सर्ग के अपने प्रारम्भिक निवेदन में ही उस सरस्वती शक्ति की सत्ता को स्वीकार करता है जो अपने अनेक वर्णों व अवर्णों से इस सृष्टि का निरन्तर सृजन करती रहती है।

सृजन्त्यजस्रं नवमेव सर्गं वर्णैरवर्णं च विभावयन्ती।
विराजते कापि विलक्षणेयं सारस्वती शक्तिरहोऽद्वितीया ॥
(वि० प्र० १-१)

और यही अद्वितीय सारस्वती शक्ति विलक्षण रूप से जन-जन में व्याप्त है।

विलक्षणैव प्रतिभाति लोके का नाम शक्तिश्च जने जने न ।
सांख्ये हि सर्वे पुरुषाः स्वतन्त्रा विकारशून्याश्च भवन्ति लोके ॥
(वि० प्र० ४-३८)

ब्रह्माण्ड के उस पार अन्तर्हित इस शक्ति का कभी क्षणिक आभास केवल महान मुनिजनों को ही होता है:—

ब्रह्माण्डपारात् परतोऽपि किञ्चित् क्षणेन पश्यन्ति विभासमानम्
(वि० ग्रं० १७-६)

इस प्रकार समस्त चराचर जगत् में एक सत्ता की व्याप्ति का अनुभव कवि के अद्वैत दर्शन के प्रति निष्ठा को बताती है और वास्तव में हमारा आलोच्य कवि अद्वैत वेदान्त से ही सर्वाधिक प्रभावित है, किन्तु उसका यह दर्शन शुष्क ज्ञान का प्रतिपादक मात्र ही न हो कर कर्म, भक्ति और उपासना की तीनों धाराओं से समन्वित है।

(ग) नियतिवादी दृष्टि:—

तंत्रालोक में नियति को नियमन करने वाली कहा गया है:—

नियतिर्नियोजना धत्ते विशिष्टे कार्य मण्डले (तंत्रालोक ६-१६०)

हमारे कवि ने उसे चेतना शक्ति के रूप में स्वीकार किया है, जिसके सम्मुख मानव विवश हो जाता है। संसार की समस्त क्रिया या व्यापार नियति के द्वारा ही चलता है। वह व्यक्तिगत नहीं, समष्टिगत है। हरनामामृतम् में नियतिवाद का स्वर सर्वत्र सुनाई देता है। किन्तु यह स्वर गीता के कर्म-फल के समान है। अतः इसका हेतु मानव स्वयं होने से यह सह्य है। अतः मनुष्य उसे सहन करता ही है।

यज्जीवनं तद्रचितं विधात्रा सुखस्य दुःखस्य च वेदनाय
(वि० ग्रं० २२-६)

जो हमारा भोग्य है उसे भोगना ही पड़ेगा:—

भोग्यं हि यत्-तत् खलु भोग्यमास्ते हातुं न तज्जातु जनेन शक्यम्
(वि० ग्रं० २२-१०)

क्योंकि जीवन द्वन्द्व विहीन कभी नहीं रहा।

न जीवनं द्वन्द्वविहीनमेतत् कदापि भूतं न पुनश्च भावि
(वि०ग्रं० २२-१२)

किन्तु यह नियति जिसे शास्त्रीजी ने प्रकृति के अपर नाम से अभिहित किया है, सदा भयावह क्रूर ही नहीं रहती अपितु वह माता के समान

करुणामयी भी है, अतः उसके हृदय में दया का द्रवण भी शीघ्र ही हो जाता है।

मातेव सर्वस्य सदा दयार्द्रा कृतार्थयत्येव तपांसि नूनम्
(वि० प्र० १८-१७)

सप्तम सर्ग में नियति के अगम्य रूप की जो व्यञ्जना की है वह उन्हीं के शब्दों में द्रष्टव्य है :—

यद्यापि सा वाञ्छति यं नियोक्तुं तत्रैव सा तं प्रहिणोति नूनम्।
मूल्यं न किञ्चिज्जनभावनायाः सम्मर्दनायैव समुत्थितायाः॥
गुप्तं सुगुप्तं विदधाति यस्मात् निजं विधेयं नियति प्रभावः।
जानाति कश्चिन्न कदानु केन स्थेयं क्व, वा गम्यमितो हि तेन॥
न मानवं पृच्छति सा कदाचित् बुद्ध रजोर्णैन विशीर्णवृत्तिम्।
क्रियाहि तस्याः पृथगेव काचित् पृथक् च तस्याः करणप्रकारः॥
तस्मादचिन्त्यं गहना जगत्यां सर्वत्र तत्त्वं घटते विचित्रम्।
स्थानेऽपि लोकैरवितर्कितैव स्थितिश्च काचित् प्रकृतिप्रियास्ते॥
(वि० प्र० २८-३४ से ३७)

इस प्रकार प्रस्तुत कृति में नियतिवाद का जो स्वरूप प्रतिपादित है अखण्डनीय एवं अतवर्य है।

(२) संस्कृति निरुपण:—

(क) भारतीय भावोन्मेष:—

आलोच्यकृति का प्रत्येक सर्ग भारतीय संस्कृति के दिव्य स्वरूप वर्णना से समन्वित है। आदि से अन्त तक कवि की आर्य जीवन पद्धति पर श्रद्धा अभिव्यक्त है। प्रथम सर्ग में संस्कृत के मनीषियों में व्याप्त आत्महीनता व सकीर्ण दृष्टि निवारण का आग्रह है तो दूसरे सर्ग में नायक के पिता के जीवन व कर्तृत्व में एक आदर्श द्विज का चरित्र निरुपण है। कवि के वाराणसी निवास तथा फिर उनके चूरू प्रवास के समय तत्कालीन विद्वानों व छात्रों की दिनचर्या तथा सामान्य जन की उच्च धार्मिक भावना के द्वारा भी हिन्दु धर्म तथा उसकी जीवन पद्धति के उज्ज्वल पक्ष को प्रस्तुत किया है। अकालनिवारणार्थं रुद्राभिषेक आयोजन आदि धार्मिक विधि-विधानों के माध्यम से भी यही प्रतिपादित है कि हमारा प्रत्येक कार्य धर्मा-

नुष्ठानों से कैसे पूर्ण होता रहा है तथा यज्ञों में हिंसा निषेध सम्बन्धी शास्त्रार्थों तथा नायक द्वारा अनेक संस्कृत व संस्कृति सम्मेलनों में भारतीय संस्कृति के समुद्धारार्थ ही उद्बोधन पाते है । नायक के जन्म हेतु शंकर से प्रार्थना, नायक द्वारा ब्रह्म राक्षस का उसकी प्रेत योनि से मुक्ति के लिए गया श्राद्ध, समय पर नायक का वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करना आदि में भी कवि ने इसी जीवन दर्शन की श्रेष्ठता प्रदर्शित की है ।

गुरुकुल कांगड़ी व ज्वालापुर महाविद्यालय आदि के सात्विक वातावरण के द्वारा भी कवि ने यही बताना चाहा है कि वास्तव में इस प्रकार के सांस्कृतिक शिक्षण संस्थानों में शिक्षा प्राप्त छात्र ही अपने जीवन का सम्यक् विकास कर सकते हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि 'हरनामामृतम्' में भारतीय संस्कृति के सम्यक् स्वरूप की सुन्दर सर्जना चित्रित कर काव्यकार ने अपने गम्भीर संस्कृति प्रेम का परिचय दिया है ।

(ख) राष्ट्रवादी चिन्तना:--

भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम का ही पर्याय भारत राष्ट्र के प्रति श्रद्धा व प्रेम है । अतः इस दृष्टि से यह कृति अपने आप में राष्ट्रीयता से ओत पोत है । साथ ही अभिनव राष्ट्रीयता की दृष्टि भी नायक के तीर्थयात्रा के समय ग्रामीणजनों को दिये गये उपदेशों में व्यक्त होती है । वे हमारी धार्मिक चेतना तथा पतन का मूल कारण पराधीनता को ही मानते हैं ।

> अधर्मस्य प्रवाहोऽयं ग्रामेऽपि प्रविशेन्नु किम् ।
> किं राज्येऽस्मिन् फिरंगाणां सर्वेष्यु वर्णसंकराः ॥
> विधर्मिशासनस्यायं प्रभावो राष्ट्रसंस्कृतिम् ।
> कूपपत्येव मूलेन स्थेयं तस्मात् समाहितः ॥
> (वि० ग्र० ४१-१९,२०)

इन फिरंगियों के कारण ही हमारी यह पवित्र धरा आज अपनी श्रद्धामयी गायों के रुधिर से दूषित हो रही है । अतः उनके निष्कासन के बिना सुख कहाँ ?

> रुधिरेण गवां धात्री भारती मे विदूषिता ।
> तेषां यावन्न निष्काम. स्तावदत्र सुखं कुतः ॥
> (वि० ग्र० ४१-२१)

देश में वर्ण संकरता की वृद्धि का कारण भी ये फिरंगी तथा इनकी शिक्षा पद्धति ही है। इसके अतिरिक्त भारत भूमि के वर्णन में भी यही राष्ट्रभक्ति परिलक्षित होती है तथा नायक के अनेक सहयोगी एवं शिष्यों के यशस्वी कार्यों का सांकेतिक चित्रण भी है जिनका देश के राष्ट्रीय आन्दोलन में अपूर्व योगदान रहा है।

इस प्रकार युगीन राष्ट्रीय एवं देश भक्ति के भावों की उद्भावना भी इस कृति की अपनी विशिष्टता है।

(ग) नारी जीवन

आज नारी को भोग की वस्तु मानकर उसके स्वरूप तथा गरिमा का जो हनन किया जाता है, कवि की दृष्टि में यह उचित नहीं। भारतीय संस्कृति के अनुसार विधाता ने इस स्नेहमयी व ममतामयी की रचना संसार के विकास के लिए की है। नारी के नारीत्व का चरम विकास उसके मातृत्व में है, भोग में नहीं।

> सृष्टा विकासाय भवे भवाय स्वभावतः स्नेहमयी कुलस्त्री।
> लभेत शान्तिं न विकासशून्या सर्वः स्वभावानुगतो जगत्याम्॥
> मातेति तस्याः स्वरमो विकासः तत्रैव तस्याः जगती कृतार्था।
> भोगाय सृष्टा नहि केवलं स्त्री किं नाम जाया जननी भवेत् सा॥
> (वि० प्र० ९-१६,१७)

किन्तु आज की महिला अबला न होकर सबला है। उसकी स्त्री सुलभ शालीनता का दिन प्रतिदिन ह्रास होता जा रहा है। स्वकीय परिजनों की सेवा उसकी दृष्टि में दास्यवृत्ति है। पति के द्वारा किञ्चित् उपेक्षा उसे सह्य नहीं। मनोनुकूलता के अभाव व प्रतिरोध पर सम्बन्ध विच्छेद को भी वह अनुचित नहीं समझती।

> दास्यं हि यासां स्वजनोपसेवा कारा कठोरा स्वगृहस्थितिश्च।
> मनोऽनुकूलो न पतिः क्षणञ्चेत् विवाहविच्छेदविधिः सुसज्जः॥
> वि० प्र० २०-४२)

अतः पश्चिम के अन्धानुकरण से भ्रमित आज की भारतीय नारी को देखकर वृद्धावस्था के दाम्पत्य प्रेम में अद्वैतावस्था को देखने वाला भारतीय सर्वथा असत्य भाषी हो गया है।

स द्वैतहीनं परिपक्वमावे सर्वास्ववस्थास्वपि निर्विकारम् ।
दाम्पत्ययोगं कलयन् मृषावाक् विश्रान्तिभूमीं मवभूतिरद्य ॥
(वि० प्र० २०-४३)

किन्तु कवि ने इस दयनीय स्थिति में भी नारी समाज के प्रति चरित नायक की पत्नी के द्वारा नारी के उसी आदर्श की परिस्थापना की है जो सदा धर्माचरण करते हुए एक आदर्श गृहिणी के रूप में अपने पति को ही परमेश्वर व घर को ही देव मन्दिर समझती है।

(३) मानवीय प्रकृति व अन्तर्द्वन्द्वः--

मानवीय प्रकृति चित्रण के लिए यह आवश्यक है कि रचनाकार सुष्ठु मनोवेत्ता हो। मनोवैज्ञानिक दृष्टि की परिपक्वता के अभाव में पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का सही चित्रण सम्भव नहीं और अन्तर्द्वन्द्व के अभाव में उनके चरित्र का विकास सम्भव नहीं प्रस्तुत कृति में दोनों पात्रों के मानसिक उद्वेगों का सही चित्रांकन कवि ने किया है।

मुरारिदत्त के अन्तर्द्वन्द्व के अनेक प्रसंग हैं यथा पुत्र के अभाव में हृदय में एक स्थायी रिक्तता का अनुभव, समस्त भौतिक सुखों के होने पर भी उन्हें सब कुछ शून्य सा प्रतीत होता है। अपने इष्ट के समक्ष जब वे अपने आपको समर्पित करते हैं, उस समय की उनके मन की ऊहापोह। नायक के बड़े होने पर उसकी उद्दण्डता से पिता का मानसिक कष्ट तथा पुत्र के भविष्य की दुश्चिन्ता जन्य उद्विग्नता हम मुरारिदत्त के विचारों में पाते हैं। फिर वे भावावेश मे उसका निष्कासन करने पर जिस अज्ञात भय से चिन्तित रहते हैं और अन्त में जब वे अपने पुत्र को अपने मनोवांछित व पूर्व कल्पित एक तेजस्वी मनीषी के रूप में चारों ओर शिष्यों से घिरा देखते है तो अपने पितृजीवन की धन्यता स्वीकार करते हैं। इस प्रकार एक पिता के मन के अनेक भाव-तरगों का सही निरूपण हम प्रस्तुत कृति में पाते हैं।

इसी प्रकार नायक के बाल्य जीवन में उसकी उद्दण्डता शाला से पलायन इधर उधर भ्रमण में बालवृत्ति की चित्रणा है। किन्तु जब यही वृत्ति बालक के विषय मे पिता की चिन्ता का कारण बन जाती है तो वह सहम जाता है। बालकोचित उच्छृंखलता और पिता द्वारा अपेक्षित नियंत्रित जीवन में से किसी एक को चुनने के लिए नायक के मन में अन्तर्द्वन्द्व

चलता है अन्त में संस्कार जन्य प्रवृत्ति के कारण पितृ-इच्छा की विजय होती है और तदनुसार नायक अपने में परिवर्तन भी करता है किन्तु फिर एक दिन अचानक किसी मल्ल के ललकारने पर वह अपने को भूल जाता है, मल्ल से भिड़कर विजयी होता है। विजय पश्चात् पिता द्वारा की गई भर्त्सना पर नायक हक्का-बक्का रह जाता है। यहाँ नायक को जिस मनःस्थिति का सामना करना पड़ता है वह बड़ी विकट है। एक ओर तो वह पितृ-आज्ञा भंग करने के कारण स्वयं ही लज्जित है तथा दूसरी ओर सभी के समक्ष पिता द्वारा केवल प्रताड़ना ही नहीं अपितु घर से निष्कासन का आदेश, उसका भयकर अपमान है। इस अपमान को वह खून की घूंट के समान पी जाता है और द्वन्द्वमय मनः स्थितिमें घर से निर्लक्ष्य निकल जाता है। मार्ग में कोई सत्पुरुष उसे घर वापिस लौटने हेतु समझाते भी हैं किन्तु उसका मानस घर लौटने का नहीं बनता।

देहली में मल्लयुद्ध में पराजित होने पर, तथा वाराणसी में, अध्ययन के लिए प्रस्थान करते समय की उसकी मनःस्थिति तो वास्तव में बड़ी ही उलझन भरी है। किन्तु वह अपनी दृढ़ विचार शक्ति से अन्ततः अध्ययन हेतु काशी पहुँच ही जाते हैं।

काशी में पिता को अचानक ही पत्नी को लिए जब वे अपने समक्ष पाते हैं तो वे चित्रलिखित से रह जाते हैं। सदा शास्त्राध्ययन में निरत रहने वाले इस मेधावी को इतने समय तक किसी भी प्रकार की अपनी सूचना पिता को न देने का बड़ा मानसिक पश्चात्ताप होता है। कवि ने इस मनस्वी के उपर्युक्त पश्चात्ताप के भावों को पिता के समक्ष उनके तूष्णीं-भाव से नतमस्तक खड़े रहने के स्वरूप में ही चित्रित कर अपनी मनोवैज्ञानिक कुशलता का अपूर्व परिचय दिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की सफल चित्रणा प्रस्तुत कृति में बड़े सहज और सफल रूप में अभिस्थापित है।

(४) उदात्त भावों का भव्योन्मेषः—

काव्य क्षेत्र में जब कोई विचार अथवा किसी चरित्र का चारित्र्य अपने उन्मेष की चरम सीमा की ओर अग्रसर होता है तो वह औदात्य का अधिकारी होता है। ग्रीक आचार्य लोंजाइनस उदात्त तत्त्व को महाकाव्य का प्राण मानते हैं। काण्ट और हीगल के अनुसार भी अद्वितीय महत्ता के

प्रतिपादक उदात्त तत्त्वों के अभाव मे काव्य निस्तेज ही होता है। यद्यपि भारतीय साहित्य मनीषियोंने अपने काव्य लक्षणों मे इस शब्द का सन्निवेश तो नहीं किया[1] किन्तु संस्कृत का सम्पूर्ण साहित्य इस दृष्टि से पूर्ण समृद्ध है। वास्तव में औदात्यपूर्ण साहित्य ही विशुद्ध प्रेम, उत्कृष्ट त्याग तथा महान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपने पाठको को अभिप्रेरित कर सकता है।

आलोच्य महाकाव्य की उदात्त दृष्टि से समीक्षा करने पर यही पाते हैं कि यह कृति अपने पात्रों के चरित्र विकास, भाषा की प्रांजलता, भावों व विचारों की उत्कृष्टता तथा आदर्शों व जीवन मूल्यों की महत्ता आदि सभी दृष्टियों से एक उत्कृष्ट उदात्त काव्य है।

प्रस्तुत रचना का नायक अपने सौम्य स्वभाव तथा शुभ कर्मों के प्रभाव से आज के अस्थिर मना भारतीय को उसकी संस्कृति की पावनता व भावना से परिचित कराता है तथा:—

स्वभावसौम्यं शुभकर्मसौम्यं निदर्शनं भारतसंस्कृतेर्मत् ।
तस्मात् दृगवेक्ष्य शुचि जीवातव् यस्मात् स्वमार्गो सुलभो भवेन्म ॥

प्रथम ६ सर्गों में नायक की बाल्यवस्था व युवावस्था का चरम उत्कर्ष अपने आप में सभी के लिए प्रेरक है। किशोर व तरुण वय में नायक का अलाड़ची व उद्दण्ड जीवन हमें शक्ति वर्द्धन की प्रेरणा देता है। तो काशीवास के समय उसकी पूर्ण एकाग्रता के साथ अध्ययन अध्यापन में तल्लीनता गम्भीर ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति के लिए हमारे मानस को उद्वेलित करता है। और वही नायक जब राजस्थान के भयंकर दुर्भिक्ष के समय प्रतिदिन हजारों पशु पक्षियो और मनुष्यो की प्राणो की विकलता को देखता है तो उसका हृदय करुणा से विगलित हो उठता है और अपने इष्ट शंकर से अपने इस रौद्र रूप को समेटने की प्रार्थना करता है।

अयि शङ्कर ! शंकरेऽपि किम् निजभार्या तनुषे भयंकरीम् ।
हर ! संहर रौद्ररूपतां हर तापं जगताञ्च सत्वरम् ॥
(वि० प्र० ३७-३५)

---

1. औदात्य के उन्मेषक अर्थ गौरव भावोत्कर्ष और भाषा की प्राजलता आदि को श्रेष्ठ साहित्य के लिए अपेक्षित माना है। किन्तु संस्कृत व्याकरण में पाणिनि व कात्यायन आदि ने 'बृहिमं उदात्त' (कात्यायन) उच्चैरुदात्तः 'पाणिनि) अपने सूत्रों द्वारा स्वरों मे उदात्त की इस बृहदर्थता को विशेष रूप से विभासित किया है।

मानवों को तो अपने पापों का फल भोगना ही पड़ेगा किन्तु बेचारे इन निरीह पशुओं ने क्या पाप किया है ?

मनुजैर्यदि दुष्कृतं कृतं पशुभिः किं किल पापमाहितम् ।
अपि जीवतु ना यथातथा परमेभिः शरणं क्व लभ्यताम् ॥
(वि० ग्र० ३७-३६)

नायक का यह करुणा कलित हृदय हम सभी को करुण भावों से आप्लावित करने में समर्थ है। आगे प्रकृति के इस प्रकोप से त्राण पाने के लिए नायक का द्विजत्व जाग उठता है और वह ब्रह्म तेजस्वी अपने भूदेव सहयोगियों को इन्द्र यज्ञ के लिए अपनी मंत्र शक्ति के प्रयोगार्थ आह्वान करता है:—

अयि मंत्रदृशो द्विजेश्वराः समयेऽस्मिन्ननु किं विधीयताम् ।
म्रियते निखिलैर्निराशया भुवि जीवैर्विवशैः पिपासया ॥
समुपेक्ष्य जगत् किमास्यते भवपापैर्यदि बह्यते मही ।
परतापनिवारणक्षमं न मुहुर्ब्राह्मणजन्म लभ्यते ॥
क्रियते निजशक्तिविस्मृतिः किमु भूदेववरैः प्रमादतः ।
क्व गता भवतां दृढा मतिः नवविश्वोदयकारिणी हि या ॥
(वि० ग्र० ३६,३७-२३,२४,२६)

नायक कहता है आप तो ब्रह्म शक्ति सम्पन्न ब्राह्मण हैं साधारण मर्त्य भी अपने हृदय की दृढता से नव रचनाओं की रचना करने में समर्थ होता है।

दृढता यदि मर्त्यमानसे रचना तेन विरच्यते न का ।
(वि० ग्र० ३६-२१)

नायक ने अपने उदात्त विचारों से केवल ब्राह्मणों को ही उद्बोधित नहीं किया अपितु अन्य तीनों वर्णों को भी उनके अन्तर्हित कर्तृशक्ति को जागृत किया है।

क्षत्रियत्व का गौरव गर्हित दस्यु जीवन में ही नहीं अपितु सबल से निर्बल की रक्षा तथा आक्रान्ताओं से राष्ट्र की रक्षा में है:—

क्षत्रियैरपि युष्माभिः किमेषा वृत्तिराश्रिता ॥
क्षतात्त्राणं प्रकर्तव्यं कर्तव्यं राष्ट्ररक्षणम् ।
क्षत्रियाणामयं धर्मो हित्वा दस्युवृत्तिता ॥
(वि० ग्र० ४३-४२, ४४)

धन और धर्म के संगम की प्रेरणा वैश्यवर्ग के लिए:—

—अर्थाययोः संगम एवं सौख्यं धर्म विनार्थी न धनं

इसी प्रकार यदि शूद्र अपने अन्दर विपंतत् ब्राह्मणत्व का विकास करना चाहता है तो वह सात्विक भावो की साधना करें।

शूद्रोयदि द्विजत्वेप्सुः समाजाय शुभंहितत् ।
विना सत्वस्य संशुद्धिर्द्विजत्वं नैव लप्स्यते ॥

नायक वर्णाश्रम व्यवस्था की परिपालना अपने जीवन में अक्षरशः करता है। जीवन की तृतीय अवस्था में पहुँचने पर उसका वानप्रस्थाश्रम के प्रति तीव्र अनुराग कितनी उदात्तता लिए हुए है। गृहस्थाश्रम से निवृत होते समय अपने सुयोग्य पुत्रों से वह कहता है—भगवत्कृपा से तुम लोग अपने सब व्यवहारों को सिद्ध करने में पूर्ण रूप से निपुण हो। अतः अब मैं गृहस्थ जीवन से मुक्त होना चाहता हूँ। अब मेरा कर्त्तव्य यही है कि आत्मानन्द की प्राप्ति के मार्ग का पथिक बनूं जिसकी प्राप्ति के बिना विद्वान का घर सफल नहीं होता।

नाहं निबद्धोऽस्मि गृहस्थ धर्मे युवां च लोके व्यवहार दक्षौ ।
एषा कृपा कारुणिकस्य शंभो विहद् गृहं बंध-विमोचनाय ॥
(वि० प्र० ४६-१८)

नायक के ये विचार कितने उच्च व मननीय है इसके अतिरिक्त भी कवि ने काव्य के विविध प्रसंगों को जीवन की जिन मार्मिक अनुभूतियों से परिदीप्त किया है उनसे भी प्रस्तुत कृति का औदात्य पक्ष विशिष्ट रूप से मुखरित हुआ है।

द्वितीय सर्ग में नायक के पिता ने शंकर के समक्ष पूर्ण आत्म-समर्पण करते समय अपनी पुत्रैषणा के जिन हेतुओं की गणना की है वह उसकी महान गरिमा की द्योतक है। वह पुत्रों के द्वारा पितृ-ऋण मुक्तिरूप वंश वर्धन के साथ उन पूर्व पुरुषों के ज्ञान-प्रकाश को अधिकाधिक प्रकाशित करने की आकांक्षा रखते हैं जिसके लिए इस धरा पर कर्म रूपी यज्ञ कर्म को पूर्ण करने हेतु अवतरित हुए थे। (वि० प्र० ६-१३,१४)

गम्भीर उच्च विचारों पर आश्रित औदात्य के अतिरिक्त हम देखते हैं कि प्रस्तुत कृति में भाषा शैली पर आधारित औदात्य भी अत्याकर्षक एवं उत्कृष्ट है। प्रायः प्रत्येक श्लोक में अनुप्रासों की रमणीयता और अन्य

विविध अलंकारों से अलंकृत होने के साथ यह काव्य प्रसाद गुण सम्पन्न भी है। संस्कृत साहित्य विमर्शनामक संस्कृत साहित्य के लेखक श्री द्विजेन्द्रनाथ की दृष्टि में इसकी वाणी-कदापि श्रवण मधुरया प्रसन्नया, सरलया, सहृदय ग्राहिण्या वाण्या परम सरल, प्रसन्न और हृदय ग्राहिणी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोच्य कृति में भावों का अपना विशिष्ट आकर्षण है तथा भाषा और अलंकार में सहज सरलता है। इसमें व्यक्त विचारों व उक्तियों के पठन व श्रवण से पाठक व श्रोता हठात् ही 'अहो विलक्षणम् सर्वथा विलक्षणम् हेयतद्' जैसे मनोभावों से स्वतः ही अभिभूत हो जाता है। यह स्थिति ही औदात्य की स्थिति है, अतः औदात्य की दृष्टि से भी यह एक सफल रचना है।

(५) प्राचीन काव्य कृतियों का प्रभाव:—

ईश्वर प्रदत्त कवित्व शक्ति के साथ ही कवि के लिए काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों का ज्ञान तो आवश्यक है ही जिससे वह अपनी कविता में रमणीयता ला सके किन्तु इसके साथ ही अपने से प्राचीन तथा समकालीन कवियों की काव्य कृतियों का परिशीलन भी उसके लिए विशेष अपेक्षित है। क्योंकि इतर कृतियों के परिशीलन के फलस्वरुप ही वह अपनी अभिव्यक्ति में नवीनता तथा उक्ति वैशिष्ट्य की उद्भावना कर सकता है। वह अन्य कवियों की मनीषाजन्य काव्य प्रभावोत्पादकता को आत्मसात् करके नवीन अभिव्यक्ति से जो कुछ भी व्यंजित करता है वह उसका अपना होता है।

नवीनता उक्ति वैचित्र्य में होती है। प्राचीन ही नया अर्थ लेकर नवीन उक्ति तथा चमत्कार के साथ उसका अभिधान कर देता काव्य में नवीनता का संचारक होता है इसलिए ध्वनि कार कहता है:—

ध्वनेर्यः सगुणीभूत व्यंग्यस्याध्वा प्रदर्शितः।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभा गुणः॥
अतो वा ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि॥

(ध्वन्यालोक लोचन उद्योत ४)

आशय यह है कि कवि अधिकतर पुराने अर्थों को ही नवीन भंगिमा के साथ कहता है तथा हमारे कवि ने तो इस विषय में पूर्ण विनयशीलता

के साथ अपना नम्र निवेदन स्वतः ही निवेदित कर दिया है कि यद्यपि प्राचीन कवियों के समान मधुरगान की शक्ति उसमें नहीं है पर उसने उनके गीतों को सुना है और अपने इन गीतों में उन्हें ही पुनः गुनगुनाने का प्रयत्न किया है:—

गीतं यथा गीतमहो पुराणै स्तथा न गातुं विभवो मदीयः ।
श्रुतानि गीतानि परं कवीनां तान्येव गुञ्जामि मनोविनोदी ॥
(वि० ग्र० २-६)

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक काव्य कृति पर अपनी पूर्व तथा सम कालीन कृतियों का न्यूनाधिक प्रभाव अवश्य ही पड़ता है जो स्वाभाविक भी है । इस दृष्टि से जब हम "हरनामामृतम्" की ओर देखते हैं तो हम पाते हैं कि भाषा की प्रासादिकता और शैली की रमणीयता की दृष्टि से यह कृति कालिदास की कृतियों के अधिक समीप है । किसी भी पद के अर्थ ग्रहण में पाठक को काठिन्यानुभव नहीं होता । अतः कवि के भावों व विचारों के साथ वह भी आत्मानुभूति करता है । चूंकि इस काव्य का प्रतिपाद्य भारत की द्विज संस्कृति का प्रतिपादन होने से इसका प्रमुख रस शान्त है अतः रघुवंश, कुमारसंभव तथा शाकुन्तल आदि के साथ गीता धम्मपद व भर्तृहरि के नीति व वैराग्य प्रकरणों आदि का विशेष भाव ग्रहण इसमें लक्षित होता है । कहीं पर भी भारवि और माघ की सी शृंगारिकता व कठिनता दृष्टिगत नहीं होती ।

आगे की पंक्तियों में हम कुछेक भाव साम्य वाले श्लोक प्रस्तुत कर रहे हैं:—

षष्ठ सर्ग में नायक के प्रथम पुत्र की अकाल मृत्यु हो जाने पर उसके खिन्न मानस को धैर्य बंधाने तथा उसके विवेक को जागृत करने काशी के विद्वज्जन कहते हैं:—

सुखेऽपि दुःखेऽपि च सान्त्वनार्थं विवेकशक्तिः प्रभुणा प्रदत्ता ।
स्थितिं समालोच्य यथा जगत्या विवेकिनो दुःखनदीं तरन्ति ॥
(वि० ग्र० २३-२४)

इस पर गीता के इस श्लोक का प्रभाव स्पष्ट है:—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
(गीता अध्याय २-३८)

तथाः—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परम वाप्स्यथ ॥
(गीता० अध्याय० ३-१०)

गीता के उपर्युक्त श्लोकों के समान ही भावों को प्रकाशित करने वाला निम्नलिखित श्लोक भी द्रष्टव्य है:—

विधिः प्रसिद्धः प्रकृते 'वितानै सर्वैर्मियःस्व प्रगति विधेया'।
सोमेन तृप्यन्तु सदैव देवाः पर्जन्यजन्यैश्च धरा पयोभिः ॥
(वि० ग्र० ५६-१४)

एवं 'हृरनामामृतम्' के त्रयोदश सर्ग के २६ वें श्लोक के उत्तरार्द्ध 'स्वधर्मः श्रेयसे नित्यं परधर्मो भयावहः' पर गीता के 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावहः' की स्पष्ट छाप है।

इसी प्रकार धम्म पद के:—

नहि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचनः के समान ही शास्त्रीजी का यह श्लोक प्रतिभासित है:—

वैरेण वैरं शमता तमो वा पापेन पापं च न वृद्धिमेति।
(वि० ग्र० २४-१४)

भाव साम्य के साथ-साथ कुछेक पूर्ण पदों का साम्य भी उपलब्ध है:—

यः पांसुलोऽपि स्वगुणैश्चरित्रै रपांसुलानां धुरि कीर्तनीयः।
(वि० ग्र० २७-१४)

इस पर रघुवंश के प्रसिद्ध श्लोकः—

तस्यात्मुरन्यासपवित्रपांसुरपांसुलानां धुरि कीर्तनीया।
(रघुवंश सर्ग २-२)

के पद विन्यास की स्पष्ट छाया है।

शाकुन्तल के नायक दुष्यन्त के समान इस महाकाव्य के नायक के पिता की अनपत्यता-जन्य मनोव्यथा द्रष्टव्य है:—

मर्त्यस्वभावेन विषण्ण एवं आपत्स चिन्ता विकलो बभूव।
सम्भोगिताऽन्यापि मतो न मेने मौनं स तस्मात् व्ययते स्म चित्ते ॥
(वि० ग्र० ५-१२)

तथा हिन्दी के प्रसिद्ध महाकाव्य प्रियप्रवास में वर्णित वात्सल्य विरह की भावना निम्न लिखित श्लोक में प्रतिविम्बित है:—

यः कोऽपि यात्री पथि जातुहृष्टः स एव पृष्टो विकलेन तेन।
हृष्टः क्वचित् किं हरनामदत्तः किंचित् श्रुतं वाऽस्य कृते कुतश्चित्॥
(वि० ग्र० २०-४५)

इस प्रकार अनेक श्लोकों व स्थलों पर विविध काव्य कृतियों का प्रभाव ढूंढा जा सकता है। यहां स्थालिपुलाक दृष्टि से कुछेक उदाहरण ही प्रस्तुत किए हैं किन्तु सम्पूर्ण रचना में प्राचीन उक्तियों व विचारों को श्री शास्त्री जी ने जिस नवीनता के साथ उपस्थित किया है उसकी अपनी रमणीयता व अपनी मौलिकता है।

(६) मनीषी मन्तव्य:—

'हरनामामृतम्' का प्रकाशन अभिनव संस्कृत जगत् में अपना विशेष महत्त्व रखता है। इस महाकाव्य के प्रकाशन का इस युग के संस्कृतज्ञों ने जो स्वागत किया वह इसकी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गरिमा का परिचायक है। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी तीनों ही भाषाओं में प्रस्तुत अनेक मन्तव्यों में से कुछेक को यहां उद्धृत कर रहे हैं:—

भारत विख्यात महान् संस्कृतज्ञ श्री प्रफुल्लचन्द्र भंजदेव (राजा मयूर भंज) इस काव्य के पठनोपरान्त जो विचार प्रस्तुत किये उन्हीं के शब्दों में:—

यथार्थं नामा भगवान् विद्याधरः सुधिर्भुवि।
विद्याधराः कथा, जाता पराविद्यारतो भवान्॥

ज्वालापुर महाविद्यालय (हरिद्वार) वेदविद्या के भूतपूर्व उपकुलपति स्व० नरदेव शास्त्री ने इसे धर्म तत्त्व का अवबोधक काव्य माना था:—

'धर्मतत्त्वावबोधकमेतत् काव्यम्' किन्तु महा महोपाध्याय परमेश्वरानन्द ने इससे भी बढ़ कर इसकी महत्ता स्वीकार करते हुए लिखा:—

'हरनामामृतम् संस्कृत भाषा का विश्वकोष है।

वृन्दावन गुरुकुल के कुलपति आचार्य द्विजेन्द्रनाथ की सम्मति अपूर्व है:—कविकर्मकुशलेन, प्रदीप्त प्रतिभाशालिना अमुना कविना विविधवृत्तविभूषितेऽस्मिन्काव्ये ते ते विषया.......'

अथवात्र प्रौढ़ः पद्य प्रबन्धः कमनीया कोमला च पदावलिः।
किमप्यवर्णनीयं वर्णमाधुर्यं शब्दालंकारा अर्थालंकाराश्च काम्य ॥
रसिकानामास्वादनाय तथोपनिद्धा येन रचनेयं भासकालिदास।
बिल्हणप्रभृतिमहाकवीनां कृतिर्बलादिव संस्मारयति ॥

राजस्थान के प्राच्य विद्या के मूर्धन्य मनस्वी स्व० विश्वेश्वरनाथ रेऊ के अनुसारः—

हरनामामृतम् विद्याधरहृतसिन्धुनिर्गतम्।
पीत्वा पीत्वात्र विबुधाः केन तृप्यन्ति भूतले ?

राजस्थान के आशु कवि स्व० नित्यानन्द ने आलोच्य कवि को शिष्ट शिरोमणि मानते हुए इनकी कवित्व शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है.—

कविर्विद्याधरो जीयाच्चिरं शिष्टशिरोमणिः।
हरनामामृतं यस्य हृदयाब्धे विनिर्गतम् ॥
तादृक् सुरसरस्वत्याः प्रवाहः सम्मुखीकृतः।
यस्य दर्शनमात्रेण पदार्थोऽपिगमः स्फुटः ॥

साहित्य और आयुर्वेद के महान् मनीषी स्व० हनुमत्प्रसाद शास्त्री ने अपनी मन्तव्याभिव्यक्ति इन शब्दों में की:—'हरनामामृतं नाम सर्गबन्धो महाकाव्यं नयनयोर से च नवो यातम् प्रीणयति तर्पयति जीवयतिच चिर-वियुक्त मनः काव्यस्यास्य भाषा सरल सरसमधुरा.......

राजस्थानी साहित्य के महान् स्तंभ स्वामी नरोत्तमदास ने इस काव्य के रसास्वादन पर लिखा:—

काव्य की भाषा शैली सर्वथा प्रसाद गुण सम्पन्न और साथ ही प्रभावमयी एवं सजीव तथा ओजस्विनी है। स्थान स्थान पर वर्णनों की मनोहर छटा है। मरुभूमि का वर्णन बड़ा ही मार्मिक हुआ है.......

काव्य की शैली बलात् कालिदास का स्मरण करा देती है। सिन्धु लिपि विशेषज्ञ एवं संस्कृत जगत के जाने माने प्रोफेसर डॉ० फतेहसिंह ने आंग्ल भाषा में अपना अभिमत स्पष्ट किया है:—

I have read with interest the 'LilaLahari', and 'Harna'

mamrítum' the works of Pt. Vidhya dhar Shastri. Both the works contain a exquisite in diction. The enchanting music and falicity of expression of Lila Lahari have as much impressed me as the cultural thought and spiritnal thought of Harnamamritam.

उपर्युक्त प्रमुख विद्वानों के अतिरिक्त अनेक पत्र-पत्रिकाओं में भी इस काव्य की परिचय प्रस्तुतियां प्रकाशित हुई। उनमें से एक को ही यहां उद्धृत कर रहे हैं। सुप्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक 'हिन्दू' इस कृति का मूल्यांकन इस प्रकार करता है:—

The gushing eloquence of the poetry and the naturalness with which the thoughts unfirl themselves strike the readers at first as the most note worthy teature of the poem. Closer scrutiny can reveal valueble substance in the thoughts.

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्तुत महाकाव्य इस युग के संस्कृत विद्वानो एवं संस्कृत प्रेमियों की दृष्टि से एक मस्ती रचना है। यह एक ऐसा भाग्यशाली महाकाव्य है जिसको एक साथ ही अपने श्रद्धेयों का स्नेह तथा सहयोगी विद्वानों की श्रद्धा मिली है।

(७) कवि की शास्त्र बहुज्ञता:—

महा महोपाध्याय परमेश्वरानन्द ने इस कृति की महत्ता व्यक्त करते हुए इसे संस्कृत भाषा का कोष बताया है। यह कथन पूर्ण सत्य है क्योंकि हम देखते हैं कि इसका प्रत्येक सर्ग कवि के बहुविध ज्ञान को अपने अन्दर समाहित किये हुए है। किसी में कवि के पुराणेतिहास का ज्ञान स्फुटित है है तो कुछेक सर्ग अपने प्राचीन, नीति-शास्त्र तथा धर्म-शास्त्रों की उक्तियों व मान्यताओं से परिपूर्ण हैं। कहीं भारत की प्राचीन नदियों तथा गिरि कन्दरा आदि के वर्णन द्वारा उसके भौगोलिक ज्ञान का पता चलता है तो कहीं पर संगीत और ज्योतिष शास्त्र के गम्भीर तकनीकी शब्दों का प्रतीक रूपों में प्रयोग शास्त्रीजी के तत्तद गंभीर ज्ञान, का परिचय देते हैं। भारतीय दर्शन की शाखाएं, तो अपनी पल्लवमयी, उप-प्रशाखाओं, की शीतल और गहरी छाया से सम्पूर्ण रचना को पूर्णतया आच्छादित ही किये हुए हैं। जहां

संस्कृत भाषा का भाषा शास्त्रीय विवेचन कवि के गंभीर भाषा वैज्ञानिक होने का द्योतक है तो पात्रों की मनः स्थितियों का विश्लेषणार्थ उनका अन्तर्द्वन्द्व तथा नानाविध मानव प्रकृतियों के स्वाभाविक विकास की उद्भावना आदि के द्वारा मनोनिरूपण की अपूर्व क्षमता भी शास्त्री जी को एक अच्छा मनोवेत्ता भी सिद्ध करती है। इस प्रकार 'हरनामामृतम्' के कवि के पास ईश्वर-प्रदत्त कवित्व प्रतिभा के साथ विभिन्न विषयों के शास्त्रीय ज्ञान का आचार्यत्व भी है। कवित्व और आचार्यत्व इन दोनों की सुन्दर समायोजना की अद्भुत अभिव्यंजना का प्रस्तुत रचना में एक साथ दर्शन होता है।

(८) संदेश

भारतीयता के उद्दीप्त भावों से विभासित यह महाकाव्य विश्व-मानस को यह सात्विक भावों से अधिकाधिक भावित करने का अमर सन्देश अपने अन्दर समाहित किये हुए है। विश्वहिताय, सर्वजनसुखाय, कर्त्तव्यपालन ही प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। विश्वव्यापिनी दृष्टि से सात्विक भावों का उद्भव व विकास होता है अतः कवि कहता है—

> सर्वे देशाः स्वदेशा नः हिते लोकस्य नो हितम्।
> व्यापिनी नो महावृष्टिः कस्य क्षेत्रे न वर्षति ?
>
> (वि० प्र० ५६-३८)

इस व्यापक दृष्टि के विकास में क्षुद्र दृष्टि ही सदा बाधक रहती है और यही हमारे अन्दर एक झूठे अह को उत्पन्न कर सत्य से दूर कर देती है :—

> क्षुद्रा दृष्टिः सदा हेया विधेया हिम्बर्हीयणी।
> यत्र क्वापि यत्सत्यं ग्राह्यं तच्च ततस्ततः॥
>
> (वि० प्र० ५७-४०)

और इस सत्य से केवल स्वयं का ही विकास नहीं होता अपितु सम्पूर्ण मानव जाति गुणशालिनी बनती है।

सत्य की प्राप्ति के लिए यह प्रथम आवश्यकता है कि उसके प्रति अपने हृदय में श्रद्धा उत्पन्न करें। बिना श्रद्धा के सत्य की प्राप्ति संभव नहीं। अतः श्रद्धा की रक्षा प्रथम आवश्यकता है।

रक्ष्या भगवती श्रद्धा रक्ष्या प्रीतिः परम्परम् ।
(वि० प्र० ४२-२६)

किन्तु केवल श्रद्धा और भक्ति के चिन्तन मात्र से ही जीवन की सफलता नहीं अपने विश्वहितकारी लक्ष्य के लिए योग की सम्भावना नितान्त अपेक्षित है । योग के द्वारा सब कुछ सुलभ है ।

योगेन सर्वं सुलभञ्च लोके न योगिनः क्वापि गतेर्निरोधः ।
ध्येये निजे यः स्थिरचित्तवृत्तिर्नूनं स योगस्य फलानुपैति ॥
(वि० प्र० १८-१६)

इस योग में कभी-कभी मनोबल की कमी बाधक होती है और वह उसके विकास के मार्ग का अवरोधन करती है और मनोबल में क्षीणता जीजीविषा के अभाव के कारण आती है । अतः कवि कहता है:—

क्षणेन सर्वं सुलभं जगत्यां नेच्छा जिगीषो रवरोधमेति ।
अप्रेसरंमाऽप्यमतो महद्र्भि विधूय विघ्नानि मनोबलेन ॥
(वि० प्र० ४७-२७)

इस प्रकार 'हरनामामृतम्' का कवि अपने पाठकों को विश्वकल्याण के लिए स्वयं को समर्पित करने की प्रेरणा देता है तथा एतदर्थ वह मानव मात्र को स्वयं के सात्विक विकास के लिए अभिप्रेरित करने के लिए अपने अन्दर श्रेष्ठ गुण और उदात्त दृष्टि के विकास का आह्वान करता है । कवि की दृष्टि में द्विजत्व की प्राप्ति ही मानव विकास की उच्चतम आदर्श की स्थिति है । अतः अपने नायक के महाप्रयाण के समय शिष्यों से 'द्विजत्व' की रक्षा का ही उपदेश व संदेश है:—

"द्विर्जैद्विजत्वं हि सुरक्षितञ्चेत् सुरक्षितं तेन भवत्यशेषम्" ॥
(वि० प्र० ७०-५)

निष्कर्षः—

पूर्व पृष्ठों में समीक्षित ग्रंथ की सम्यक् चिन्तना के फलस्वरूप हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह रचना अति उत्तम स्तर की है जो काव्य शास्त्र के प्राचीन व अर्वाचीन दोनों ही दृष्टियों से महाकाव्यत्व की कसौटी पर खरी उतरती है । कथा-वस्तु की सफल संयोजना, नायक के उदात्त चारित्र्य-विकास, धर्म्य-वैभव, रसोन्मेष, शिल्प-कौशल और अपनी सुलभी

हुई दार्शनिक मान्यताओं से श्री विद्याधर शास्त्री ने इस काव्य पुरुष का सुन्दर और सुष्ठु-सर्जन किया है। कवि की प्रकृति निरीक्षण क्षमता, मनोवेगों का सफलता पूर्वक चित्रण तथा अन्तः तथा बाह्य क्रिया व्यापारों की सजीव व्यंजना अपूर्व है। दृश्य चित्रण स्वाभाविक एवं हृदयग्राही है। दार्शनिक तत्त्वों की सरल शब्दों व उपयुक्त प्रतीकों से अभिव्यक्ति इस कृति की अपनी मौलिकता है। अलंकार प्रयोग में औचित्य और वैविध्य के दर्शन होते हैं। स्थल-स्थल पर समीचीन पद योजना के माध्यम से कविता में जिस नादसौष्ठव का जो संचार हुआ है वह अपूर्व है। सगीतमयी पदावली कर्ण मधुर होने के साथ ही पाठक के हृदय पर स्थायी प्रभाव छोड़ती है। कुछेक प्रसंग तो इतने सजीव वर्णित हैं कि उनका प्रभाव लम्बे समय तक पाठक के मानस पर बना रहता है, यह कवि की प्रबल भाव प्रवणता का द्योतक है अन्तमें हम पूर्ण विश्वास के साथ कह सकते हैं कि हमारे मनस्वी कवि ने अपनी सरल प्रसादमयी भाषा में भारतीय संस्कृति के उदात्त स्वरूप तथा उसके शाश्वत नैतिक सिद्धांतों को प्रस्तुत किया है और इस प्रकार उपर्युक्त काव्यगत विशिष्टताओं तथा अपने उच्च आदर्शों के कारण इस काव्य का अभिनव संस्कृत साहित्य में अनुपम स्थान है।

□□

(ख) विश्वमानवीयम्

प्रस्तुत महाकाव्य की रचना पृष्ठभूमि तथा उसका महाकाव्यत्वः—

अभिनव संस्कृत साहित्य में अध्यात्म, विरक्ति तथा चिन्तन परक जिन महाकाव्यों की रचना की गई है, वे अपनी शैली, भाव-प्रवणता और वस्तु विन्यास आदि सभी प्राचीन शैली व चिन्तन से सर्वथा स्वतन्त्र हैं। प्राचीन रचनाओं की अपेक्षा इनमें अधिक गंभीरता और अधीरता है। मानव मन की अनेक चेतन-अचेतन अवस्थाओं के संश्लेषण-विश्लेषण के साथ इनमें तथ्य और तत्त्व को पहचानने व पकड़ने का सशक्त प्रयास मिलता है। आज का कवि चारों ओर व्याप्त सांस्कृतिक विषमता से त्रस्त है और इसी त्रास से मुक्ति पाने के लिए वह गंभीरता से चिन्तन व सर्जन में प्रवृत्त है।

इस युग की सबसे बड़ी समस्या जीवन-मूल्यों का संघर्ष है। तथा इस संघर्ष का मूल व मुख्य कारण विघटनकारी शक्तियों का उदय तथा वैज्ञानिक

सन्धानो के परिणाम स्वरूप ध्वंस के उपकरणों का द्रुत गति से प्रसार है। आज भौतिकवादी जीवन मूल्यों का ही सर्वोच्च मान है। फल-स्वरूप हमारे प्राचीन आध्यात्मिक जीवन दर्शन के उपकरण-प्रेम-करुणा, अहिंसा, सत्य और शील आदि दिन-प्रतिदिन उपेक्षित होते जा रहे हैं जबकि इनके विपरीत अवगुण, स्वार्थ, लोलुपता, शोषण तथा व्यक्तिवादी दृष्टिकोण आदि विकसित हो रहे हैं। व्यक्तिवादी जीवन दृष्टि के फलस्वरूप मानव में एक दुर्भेद्य अहं का उदय हुआ है। इस अहं ने मनुष्य को अतीत के प्रति अनास्थावान तथा अनागत के प्रति अनिश्चित तथा वर्तमान से असन्तुष्ट बना दिया है। मानव की अन्तश्चेतना इस घुटन से व्यथित है वह इससे मुक्ति चाहता है। किन्तु उसे निवारण का कोई पथ नहीं दिखाई देता। इस प्रकार आज के युग की भौतिकवादी दृष्टि ही समस्त समस्याओं की जन्मदात्री है। 'कविरेव प्रजापतिः' के अनुसार क्रान्तदर्शी कवि ही इन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सकता है। तथा इन समस्याओं के संधान और समाधान में रत साहित्यकार ही महाकवि कहलाने का अधिकारी है।

'विश्वमानवीयम्' अभिनव संस्कृत साहित्य का इसी प्रकार का एक महाकाव्य है-जिसमें जीवन की आधुनिक दृष्टि का सम्यक् विश्लेषण कर उसे निकष पर कसा गया है और अशुद्ध-दृष्टि प्रमाणित होने पर सही दिशा व दृष्टि का निदर्शन प्रस्तुत किया गया है। यह महाकाव्य अपने रचयिता की एक प्रौढ़ कृति है। इसके दार्शनिक कवि ने इसकी रचना अपने सुदीर्घ जीवन की गंभीर अनुभूतियों की भाव-भूमि पर की है। तत्त्व-चिन्तन करते करते श्री शास्त्रीजी का जीवन अब उस उच्च भाव-भूमि पर स्थित रहने लग गया है जिसे हम 'तत्त्व' का साक्षात् रूप भी कह सकते हैं। ऐसे चिन्मयरूपी महान् मनीषी ने इस काव्य में जीवन के ज्वलन्त प्रश्नों का समाधान भारतीय संस्कृति की शाश्वत चिन्तन परम्परा के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का सत्प्रयास किया है। इस चिति काव्य में छन्द रचना के अतिरिक्त वर्ण्य विचार तथा शिल्प आदि सभी में नवीनता है। तथा सभी कुछ दार्शनिकता से सम्बन्धित होने पर भी प्रस्तुतीकरण की भाषा के प्रसादमय रूप में एक बालमन की सरलता व सुबोधता कवि प्रतिभा की महान् सफलता है।

प्रस्तुत महाकाव्य की पूर्व कृति के समान काव्य शास्त्रीय दृष्टि से विवेचना संभव नहीं क्योंकि इसकी रचना में जिन दार्शनिकता तथा जीवन के व्यापक तत्त्वों का उन्मेष है, उसकी प्रस्तुती के लिए कथावृत्त, चरित्र-विधान

तथा प्रकृति सौन्दर्य के विभिन्न रूपों के उत्कर्ष की विशेष आवश्यकता नहीं। यद्यपि इसमें उपर्युक्त तत्त्व भी हैं इनकी भी संक्षिप्त मीमांसा व सर्वेक्षण किया है किन्तु इसमें कला और भाव पक्ष की अपेक्षा चिन्तन-पक्ष ही विशेष विविक्षा योग्य होने से परम्परागत समीक्षा विधा के साथ-साथ आलोचना शास्त्र के नवीन मान बिन्दुओं से भी इसकी विवेचना का प्रयास किया गया है।

वस्तुयोजना (सर्गानुसार कथा वृत्त)

प्रथम सर्गः—

भूमिकात्मक इस सर्ग में काव्यकार ने सर्वप्रथम विभुब्रह्म से मानव के लिए विश्व-व्यापिनी दृष्टि की कामना की है। जिससे मनुष्य जगत् के भेद-प्रभेद रूप में एकरूपता के दर्शन कर सके। तत् पश्चात् नूतन और पुरातन के व्यर्थ विवाद का तर्क-संगत समाधान करते हुए दोनों को ही एक दूसरे का पूरक तथा जनक माना है। नवीन जीवन की नित्यता के कमनीय रूप निरूपण के समय काल के स्वरूप एवं क्रम विकास की प्रकल्पना कवि की अपनी मौलिक उद्भावना है जो पूर्णतया तथ्यान्वित है। वास्तव में मनुष्य ही काल के सत्य और कवि रूप का प्रवर्तक है। अन्त में काल प्रवाह के कलि रूप को प्रोत्साहित करने वाली मानव की नैराश्यवृत्ति तथा इसी प्रकार की अन्य कलि प्रवर्तिनि प्रवृत्तियों से सावधान करते हुए मनुष्य की प्रसुप्त श्रेष्ठ मति को जाग्रत करना ही अपने इस महाकाव्य का लक्ष्य स्वीकार किया है।

द्वितीय सर्गः—

ब्रह्मर्षि प्रदेश का सांस्कृतिक महत्त्व बताते हुए उसका कुछेक प्रारम्भिक श्लोकों में वर्णन किया है। 'विश्वमानवीयम्' का नायक इसी पावन प्रदेश का एक मनस्वी मनीषि है। निकट और सुदूर के अनेक जिज्ञासुजन उनके समीप अपनी जिज्ञासा समाधान के लिए आते रहते हैं। धर्म दर्शन और पौराणिक चिन्तन चर्चा ही उनका जीवन है। एक दिन उस विज्ञ जन के पास आधुनिक शिक्षा प्राप्त कुछ युवाजन आते हैं और ईश्वर के अस्तित्व के विषय में अश्रद्धालुजनों के समान प्रश्न करते हैं। नव शिक्षार्थियों की प्रश्न विधि तथा असंस्कृत भावना से नायक को कुछ आश्चर्य व खेद होता है

किन्तु फिर भी काव्य-नायक देवीप्रकाश उनके प्रश्नों का समीचीन समाधान करता है पूर्वाग्रह से ग्रसित युवजन उनके तर्कसंगत उत्तर को न स्वीकार वहा से चले जाते हैं। युवकों की इस कुतर्क-वृत्ति और श्रद्धाविहीन मनःस्थिति तथा असंस्कृत व्यवहार से नायक बड़ा खिन्न होता है। चिन्तन के फलस्वरूप नायक इस विसंगति का मूल सुलक्ष्यविहीन शिक्षा व दूषित आचारपद्धति को पाता है। देश को इस अधोगति से बचाने के लिए वह प्राचीन आदर्शों के अनुरूप व्यासाश्रम नाम से एक शिक्षा संस्थान की स्थापना करता है। इस संस्थान के स्थापना के सुसंचालन मे उसके एक मित्र गणेश भी पूर्ण सहायता करते हैं और शीघ्र ही अपने आदर्शों के अनुरूप छात्र वर्गों के निर्माण में वे सफल काम हो जो जाते है। कुछ समय पश्चात् व्यासाश्रम का समस्त सचालन भार अपने सखा पण्डित गणेश को सौंप कर नायक अपने कुछ शिष्यों सहित भारत दर्शन की यात्रा पर निकल जाता है

तृतीय सर्गः—

छात्र वर्ग की मण्डली के साथ नायक भगवान महाकाल की महानगरी उज्जयिनि में आते है। वहां महागौरी और विघ्नविनाशक गणेश के दर्शन कर भारत के मूर्धन्य मनीषि पण्डित सूर्यनारायण व्यास का आतिथेय स्वीकार करते हैं। तथा फिर उन्ही के साथ महाकाल के दर्शनार्थ भी जाते है। महाकाल शिव के दर्शन के समय दार्शनिक कवि और भक्त विद्याधर के भक्त हृदय में भक्ति भावना का जो उत्ससग्रथित हुआ है वह एक दार्शनिक विश्व के अनुरूप ही है। उस अज्ञेय और अविगत गति वाले काल पुरुष का अनेक भाव सुमनो से स्तवन किया है। महाकाल की वन्दना व अर्चना हमें कवि के प्रमुख स्तवन काव्य लीला लहरी के भाव गांभीर्य का स्मरण कराती है।

चतुर्थ सर्गः—

महाकाव्य के दर्शन के पश्चात् उज्जयिनी में ही राजस्थान के गौरव वीर दुर्गादास की पवित्र समाधि पर अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते समय श्री शास्त्री जी ने इस इतिहासपुरुष के प्रति जो गंभीर श्रद्धा प्रगट की है वह बड़ी उदात्त एवं गरिमामयी है। इसी प्रसंग में श्री व्यास महोदय के शक्ति विषयक प्रश्न पर शक्ति के सरस्वती, महाकाली तथा महालक्ष्मी आदि विभिन्न रूपों की विस्तृत विवेचना अति महत्त्वपूर्ण है। शक्ति के उपर्युक्त

शास्त्रीय स्वरूपों को हमारे महाकवि ने वैयक्तिकी, सामाजिकी तथा मानवीय शक्ति आदि के रूप में वर्गीकृत करके उन्हें युगीय परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। तथा इसके साथ ही इन शक्तियों से ध्यवहृत् सत् और असत् रूपों की विवेचना भी अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। अन्त में उनके उचित प्रयोग के लिए शास्त्र सम्मत मार्ग को ही सत्य मानते हुए शक्ति सम्पादन व शक्ति व्यय का निरूपण किया है।

पंचम सर्गः—

इस सर्ग में काव्यकार मनीषी श्री शास्त्रीजी ने आज की वैज्ञानिकी दृष्टि से ग्रस्त व पराभूत मानव की विलुप्त अन्तश्चेतना का सही निरूपण किया है। आज भौतिकता की चकाचौंध में मानव की अन्तर्दृष्टि धूमिल हो रही है, वह अपनी प्राच्य मनीषा को दिन-प्रतीदिन भूलता जा रहा है। इस त्रुटिपूर्ण दृष्टि-दोष के कारण उसमें एक विचित्र अहं उदित हो रहा है। इस अहं का यदि समय रहते शमन न किया गया तो निश्चय ही विश्व का सर्वनाश निकट है। मनुष्य की इस अहं वृत्ति व मिथ्या गर्व भावना से कवि व्यथित है। अतः वह उसे शाश्वत सत्य चिन्तन के लिए प्रेरित करता है। ताकि सही आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त हो सके।

षष्ठ सर्गः—

प्रस्तुत सर्ग इस महाकाव्य का अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण सर्ग है। चंद्रविजय के फलस्वरूप आज का मनुष्य अति गर्वित है और प्राचीन मान्यताओं के प्रति वह संशय ग्रस्त हो रहा है। मानव की चन्द्र विजय से उदित उद्धत-गर्व भावना का उचित निराकरण करना ही इस महाकाव्य की सृजन प्रेरणा रही है। अतः इस सर्ग में श्री शास्त्री जी ने सर्व प्रथम चन्द्रलोक तथा उसकी उन्मादिनी चन्द्र-चन्द्रिका का बड़ा ही अलंकारिक भाषा में वर्णन किया है। मनुष्य का चन्द्र पर पहुँच कर उसके पवित्र वातावरण को दूषित करने के दुष्कृत्य की भर्त्सना करते हुए मनुष्य को चन्द्रमा के लिए दशम ग्रह माना है तत्पश्चात् शतपथादि ब्राह्मणों में निरुपित कठिन व्रतों सुधार के महनीय रूप व गुणों तथा पृथ्वी पर उससे पड़ने वाले शुभ एवं कल्याणकारी प्रभावों का विस्तार से वर्णन किया है तथा अन्त में यह कामना व्यक्त की है कि मनुष्य को चाहिए कि वह इस अमर कुण्ड को विष से समन्वित न करे अन्यथा इसका दुष्परिणाम अति भयावह होगा।

सप्तम सर्गः—

इस सर्ग का वृत्त अनेक नूतन उद्भावनाओं की दृष्टि से अभिनव संस्कृत साहित्य में ही नहीं, बल्कि समस्त भारतीय साहित्य मे विशेष स्थान रखता है। काव्य नायक शारदीय चान्द्री शोभा का स्मरण करता हुआ सो जाता है। स्वप्न में उसे एक स्वच्छ शुभ्रवस्त्रधारी दिव्य पुरुष के दर्शन होते हैं। परिचय के फलस्वरूप उसे ज्ञात होता है कि मानव का कोई पितृपुरुष है। इस पितृपुरुष के द्वारा हमारे महाकवि ने पितृ लोक तथा उसमे विचरण करने वाले पितर पुरुषों के भाव शरीरों का भव्य निरूपण किया है। पितृदेव की यह निरूपणा कवि की मात्र कल्पना ही नही है अपितु सत्यान्वित है। अधुनातन परामनोविज्ञान द्वारा अन्वेषित अनेकानेक इतिवृत्त भी पितृलोक के अस्तित्व को बताते हैं। पितृपुरुष काव्य नायक को बताता है कि किस प्रकार किसी कुल विशेष के सुष्ठु और निकृष्ट कृत्यो का प्रभाव उस कुल के पूर्व पुरुषो के भाव शरीरों पर पड़ता है। कुल की सात पीढ़ियों के कार्य-कलापों की सुख दुःखानुभूति पितरों को होती रहती है। अन्त मे कवि कहता है कि इसका विचार-शरीर सदा अपने कुल के विकास के लिए प्रयत्न-शील रहता है। अतः प्रत्येक को चाहिए कि वह अपने पूर्वपुरुषो के तपस्या द्वारा अर्जित श्रेष्ठ चिन्तन व आचरणों की रक्षा व पालन करे।

अष्टम सर्गः—

काव्य नायक देवीप्रकाश अपने पितृपुरुष से भावमयपितृलोक के विषय में विस्तृत रूप से जान कर उनसे देवलोक के विषय में केवल जानना ही नही चाहता अपितु सशरीर वहां जाकर उसकी वास्तविकता को जानने की इच्छा व्यक्त करता है। नायक की इस प्रार्थना व कामना को सुनकर वह दिव्य पुरुष कहता है कि अपर लोक में बिना विशेष तपस्या के किसी का प्रवेश कदापि संभव नहीं फिर मर्त्य मानव तो सदेह कभी भी नही जा सकता। नायक को दिविलोक के विषय में निरुत्साहित करने के लिए भू-लोक की अनेक विशिष्टताओं की निरूपणा कवि ने पितृ पुरुष के द्वारा कराई है। तत्पश्चात् देवलोक में देवताओं की विभिन्न श्रेणियों व स्वभाव आदि का वर्णन कर उन्हे आर्य और अनार्य वर्गों में विभाजित किया है तथा उनके भोग समय की अवधि के विषय में बताया है कि ये सब अपने पुण्य कर्मों के भोगने तक ही स्वर्ग में वास करते हैं। पुण्य समाप्ति के पश्चात् इन्हें पुनः पृथ्वी पर आना पड़ता है। इसीलिए कवि कहता है कि सच्चे

सारस्वत जन इस स्वर्ग की कामना न कर विभु भक्ति के सात्विक जीवन की ही कामना करते हैं। किन्तु जब काव्य नायक देवीप्रकाश अपने आग्रह पर अडिग रहता है तो वह अपूर्वपुरुष उसे देवर्षि नारद के आह्वान का मंत्र बताकर उनके द्वारा तुम्हारी कामना पूर्ण होगी यह कह कर अन्तर्धान हो जाता है।

नवम सर्ग:—

नायक के मंत्र जाप के सद्योपरान्त देवर्षि नारद प्रकट होते हैं। तथा नायक की अभिप्सा जानना चाहते हैं। देवीप्रकाश की देवलोक दर्शन की इच्छा जानकर उन्हें आश्चर्य होता है और वे भी अनेक प्रकार से उसे निरुत्साहित करते हैं तथा अमरलोक की एक रसता तथा वहां के विलासमय घृणित जीवन तथा देवता व अप्सराओं की तुच्छ मनोवृत्तियों का वर्णन कर मर्त्यलोक के शुद्ध सात्विक जीवन की श्रेष्ठता का अतीव मनोहारी वर्णन करते है तथा स्वर्ग प्रवेश के लिए अपेक्षित तपश्चर्या का अभाव भी नायक में बता कर उसकी कामना को व्यर्थ बताते हैं। किन्तु नायक अपने हठ को नही छोड़ता अन्त में नायक के प्रबल आग्रह के कारण देवर्षि नायक के मस्तक पर अपना हाथ रखते हैं। सिर पर करस्पर्श होते ही नायक की सम्पूर्ण भौतिक दृष्टि बदल जाती है और वह दिव्य लोक में पहुंच जाता है तथा वह अनुभव करता है कि वह एक ऐसे लोक मे पहुंच गया है जहां सर्वत्र एक विचित्र दिव्य प्रकाश है एवं जहां का वायुमन्डल बड़ा मादक है। चारों ओर से अनेक अप्सराएं विलासार्थ उसका आह्वान करती हैं। काव्य नायक उस अति शृंगारिक एवं मादक विलासमय वातावरण को देखकर भयभीत हो उठता है तथा देवर्षि से अपनी इस स्वर्गिक माया को शीघ्र समेटने की प्रार्थना करता है। देवर्षि के पुनः कर स्पर्श से वह अपनी पूर्व स्थिति में आता है और अपनी स्वर्ग दर्शन कामना पर गहरा क्षोभ प्रगट करता है। अन्त में देवर्षि नायक के सात्विक स्वभाव की ओर संकेत करते हुए उसे इसी भू-लोक पर ही सात्विक स्वर्ग सृष्टि की प्रेरणा देते हैं।

विश्वमानवीयम् की पात्र योजना:—

इस काव्य मे पात्र योजना अति अल्प है। कुल छः पात्र है। जिनमें तीन प्रमुख है—काव्यनायक देवीप्रकाश, पितृपुरुष और देवर्षि नारद। इन तीनों में भी अन्तिम दो अशरीरी पात्र अथवा भाव-शरीरी पात्र हैं इस प्रकार एक पात्र ही प्रमुख है और वह है काव्य नायक देवीप्रकाश। किन्तु

ये दोनों अशरीरी पात्र भी कथा विकास और काव्य नायक के चरित्र विकास में विशेष रूपेण सहायक रहे हैं। इस दृष्टि से इस काव्य को चरित्र-प्रधान काव्य तो नहीं कहा जा सकता किन्तु फिर भी कवि ने अपने कथ्य के माध्यम के लिए जिस पात्र योजना की जो सृष्टि की है उससे उनकी सूक्ष्म चरित्र-विधान-सर्जन की क्षमता तो सिद्ध होती है।

देवीप्रकाश:—

अद्यपि देश का प्रौढ़प्राज्ञ देवीप्रकाश विश्वमानवीयं का प्रमुखनायक है। काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से चाहे इस काव्य के नायक में धीरोदात्तीय वीरता, पराक्रम अथवा अपेक्षित गुण न हो किन्तु कवि ने जिस लक्ष्य-सिद्धी के लिए इस काव्य की सृष्टि की है उसके अनुरूप चरित्र का उद्दीपन नायक में पूर्णरूप में है। एक प्रबुद्ध चिन्तक में जिस प्रज्ञा-प्रतिभा प्रबल जिज्ञासा तथा तथ्यान्वेषण-वृत्ति एवं कार्य संपादन की अपूर्व क्षमता होनी चाहिये वे सब विज्ञ देवीप्रकाश में हैं। प्रथम परिचय में ही उनके महान् व्यक्तित्व का हमें परिचय मिल जाता है:—

> तत्रोद्भवानां द्विजपुङ्गवानां यज्ञाहुति-प्रीत-समस्तदेवे।
> गेहे स्वभावाद् सुधियो विशालाः प्रादुर्बभूवु भंवचितशीलाः॥
> तेष्वेव मान्यो महनीयमूर्तिः सवार्जभा-भासित-भव्यभावः।
> उवास विज्ञो विमलात्मकीर्ति र्देवीप्रकाशः श्रुतिभिः समृद्धः॥
> तद्दर्शनार्थं शतशो विनम्रा नराश्च नार्यः समुपागतास्तम्।
> विज्ञाय जिज्ञासितमात्मतुष्टा स्तत्कीर्ति-गीतानि भृशं जगुश्च॥
>
> (वि० ग्रं० ८३-७,८,९)

इस सर्वमान्य विज्ञ की वैचारिक स्पष्टता व्यंजन कौशल के दर्शन काव्य में सर्वप्रथम उस समय मिलता है जब वे नवयुवकों के ईश्वर के अस्तित्व विषयक प्रश्न का तर्क संगत व समीचीन समाधाना करते हैं। तथा फिर युवकों के चले जाने पर वे उनके *अल्पज्ञान, मिथ्यागर्व* तथा असंस्कृत आचरण के हेतु के विषय में सोचते हैं तो आज की सदोष शिक्षा पद्धति को, सारे विकारों को उसका कारण मानते हैं। अपनी तथ्यान्वेषणशक्ति के द्वारा आज की विकृति को जानकर वे इसके निवारणार्थ प्राचीनआदर्शों के अनुरूप एक सरस्वती मन्दिर (व्यासाश्रम) की स्थापना करने का संकल्प करते हैं और अपने कर्मठ स्वभाव तथा दृढ़कर्त्तव्य निष्ठा तथा लोकसंग्रही

वृत्ति से इस विद्या प्रतिष्ठान की स्थापना में पूर्ण सफल काम भी हो जाते है। व्यासाश्रम की स्थापना व उसका सुष्ठु संचालन उनकी कर्मठता का द्योतक ही है।

अपने सतत जिज्ञासु स्वभाव के कारण कुछ समय पश्चात् वे इस कार्यभार को अपने विद्वान मित्र गणेश पर सौंप कर भारत दर्शन की यात्रा पर कुछ अन्तेवासियों के साथ प्रस्थान करते है। इस यात्रा का प्रथम पड़ाव कालिदास की कर्म भूमि तथा महाकाल की नगरी उज्जयिनी मे होता है। वहां महाकाल के दर्शन के समय कालस्तवन में दार्शनिक नायक का भक्तहृदय जाग उठता है और हमें उनके स्तवन में दर्शन की उच्च ऊहा के दर्शन करते हैं। फिर दुर्गादास राठौड़ की समाधि पर भारत के प्रसिद्ध मनीषि श्री सूर्यनारायण व्यास के द्वारा शक्ति सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर मे शक्ति के विवेचन में उनके गंभीर ज्ञान का परिचय मिलता है। तथा इसी प्रसंग के पचम सर्ग में नायक ने आज की अन्धवैज्ञानिक-दृष्टि पर जो प्रहार किए हैं वह उनकी वैज्ञानिक मनीषा की परिचायिका है।

स्वप्न लोक मे सौभाग्य से देवीप्रकाश को पितृ पुरुष के द्वारा पितृलोक के विषय मे तो पूर्ण जानकारी स्वतः ही संयोगतः मिल जाती है किन्तु अमर लोक में जाने की उत्कंठा पितृ पुरुष के समक्ष प्रकट करने में नायक के जिज्ञासु मन तथा निरन्तर आगे बढ़ने की भावना का परिचय मिलता है। अन्त मे पितृ पुरुष के द्वारा मंत्र सिद्धि से देवर्षि नारद को प्रत्यक्ष करने में सफल होकर अपने सात्विक हठ से नारद की कृपा से स्वर्ग-दर्शन में सफल तो हो जाते हैं किन्तु वहां स्वर्गांङ्गनाओं के विलास पूर्ण आह्वान एवं प्रतिमादक वातावरण से यह नव-ऋषि भयभीत होकर देवर्षि से उस दृश्य से मुक्ति की प्रार्थना करता है। स्वर्ग में विलासी जीवन की ओर आकर्षित न होना हमारे महान् नायक के सात्विक जीवन का प्रतीक है। इस प्रकार 'विश्व मानवीयम्' का नायक देवीप्रकाश प्रस्तुत दार्शनिक काव्य के अनुरूप नायकोचित गुणों से समन्वित चरित्र का धनी एक प्रबुद्ध व प्रौढ़ प्राज्ञ है जिसे ऋषिकल्प पावनपुरुष कहें तो कोई अत्युक्ति नही।

अन्य पात्रः—

अन्य पात्रों मे प्रमुख हैं पितृपुरुष और देवर्षि नारद। ये दोनो ही अमानवीय और अशरीरी पात्र हैं किन्तु कथा संयोजन व विकास मे इनका

योगदान अपूर्व है। पितृपुरुष के द्वारा पितृलोक के जीवन के माध्यम से कवि ने जिस भावशरीर की एक स्पष्ट प्रकल्पना प्रस्तुत की है वह केवल कल्पनामात्र ही नहीं है, अपितु शास्त्रोक्त सत्य एवं परामनोविज्ञान के द्वारा अनुभूत सत्य है। पितृपुरुष अपने वंशजों के अच्छे व बुरे कार्यों से सदा बन्धे रहते हैं, तथा वे निरन्तर अपने वश के हित सम्पादनार्थ प्रयत्न-शील भी रहते हैं। इस चरित्र के द्वारा कवि ने पितृलोक-अस्तित्व की स्थापना तथा अपने पूर्वजों के द्वारा अर्जित श्रेष्ठ गुणों व आचरणों की प्रेरणा पाठकों को देनी चाही है।

इसी प्रकार देवर्षि नारद का व्यक्तित्व भी इसमें अपने परम्परित पौराणिक रूप के समान नहीं है। अपितु कवि ने उनके चरित्र माध्यम से स्वर्गलोक की अपेक्षा भूलोक की श्रेष्ठता ही प्रतिपादित करायी है। निरन्तर स्वर्ग लोक में विचरण शील नारद के द्वारा मृत्युलोक की महिमा वर्णन मानवीय मन की महानता का द्योतक है। इस प्रकार ये दोनों ही प्रमुख पात्र के चरित्र विकास में ही मुख्य रूप से सहायक बने हैं।

रस योजनाः—

साहित्य शास्त्रियों के अनुसार महाकाव्य में सभी रसों की निष्पत्ति आवश्यक है व क्योंकि महाकाव्य का एक लक्ष्य रस निष्पत्ति भी होता है। किन्तु 'विश्वमानवीयम्' में इसका निष्पादन लक्षण ग्रन्थों की मान्यतानुसार नहीं है। अपितु इसमें रचनाकार के जीवन और जगत् की समस्याओं का समाधान करते हुए भाव-व्यंजना में स्वतः ही जो रसानुभूति हुई है वही इस काव्य की रस सृष्टि है। चिन्तन प्रधान महाकाव्य होने के कारण इसमें शान्तरस ही प्रमुख है। अन्य रसों में शृंगार की एक झलक नायक के स्वर्ग दर्शन के समय मिलती है किन्तु वह अकेली ही अपने आप में पूर्ण है। किन्तु वह भी शान्ति की ही उत्प्रेरिका है। तथा इसी प्रकार वीर रस की निष्पत्ति शक्ति विवेचना के समय वीर दुर्गादास राठौड़ के पराक्रमी व्यक्तित्व का चिन्तन एवं महाकाली शक्ति की साधना के रूप में पाते हैं। किन्तु युद्ध आदि का वर्णन कहीं पर भी नहीं है। सम्पूर्ण काव्य में आदि से अन्त तक शान्त रस की सात्विक सरिता ही अपनी धीर गम्भीर गति से प्रवाह मान है।

काव्य के प्रारंभिक निवेदन में ही कविकार कहता है कि मनुसुत मानव अपने विश्व व्यापी विभु स्वरूप को विस्मृत कर लघुता व तुच्छता

को प्राप्त न हो जावे एतदर्थ ही मेरा यह किंचित् निवेदन है:—

विस्मृत्य विश्वगतमात्म — विभुस्वरूपम्।
लोके क्वचिन्मनुसृतो न भवेन् लघीयान्। (इत)
इत्येव किंचिदिह यद् विनिवेदितं तद् (त्)
मान्यं बुधैः शुभदृशा सुसमीक्षणीयम्॥

इस भावना से विरचित किये जाने वाले काव्य में शान्त रस की ही प्रधानता हो सकती है। अतः अथ से इति तक शिवं सुन्दरं सुरुचिभाव प्रक्रिया ही इसका पाथेय है। अब अग्रिम कुछ पंक्तियों में शान्त और शृंगार की कुछ वर्णना प्रस्तुत है।

द्वितीय सर्ग मे नायक नवयुवकों को ईश्वरीयसत्ता की व्यापकता व उसके स्वभाव का सत्य दर्शन कराता हुआ कहता है:—

ज्ञानात्मको ह्यात्मय यः प्रकाशः सर्वत्र सर्वेषु विभुस्वभावः।
उपासनीयः स न कल्पनास्यः ऋते हि तं यत् सम एव सर्वम्॥
(वि० म० ८४-९६)

शान्त रस की चरम परिणति विभु स्वरूप की व्यापकता की अनुभूति में होती है।

विकृति के निराकरण से ही वास्तविक जीवन का विकास होता है तथा विकृति निर्वेद की उद्भावक। अत. सांसारिक वासनाओं के प्रति जो विरक्ति भाव उत्पन्न होता है वह निर्वेद कारक है। यह स्थिति विश्वमानवीयम् मे अनेक स्थलों पर लब्ध है। पंचम सर्ग के निम्नलिखित श्लोकों के पठन मात्र से ही पाठक अपने मानस में अनेक दिव्य व शान्त भावों का उद्रेक पाता है:-

एकान्त देशे सरितां तटे क्वचित् स्थेयं हृतो ध्यानरतैःप्रशान्तैः।
शान्तो विधिः सर्वविधो विधातुः सर्वैः स्वसत्कर्मसु चानुसार्यः॥
नरोऽपि नारायणशक्तिमाश्रित स्तथा स्वयोगो नहि तेन हीयताम्।
मनोऽनुकूलं सृजतापि सन्ततं जगन्यते न क्रियतां तिरस्क्रिया॥
(वि० मं० ६६-४५, ४६)

शृंगार रस:—

नायक के स्वर्ग दर्शन के समय वहां मादक व विलासपूर्ण वातावरण में शृंगार की उद्भावना है। इस रस की पूर्ण निष्पत्ति उस समय होती है जब नायक का स्वर्ग की अप्सराएं परिरमण के लिए आह्वान करती हैं:—

एहि एहि मम पार्श्वतः क्षणम् यासि धावसि वृथा वव कम्पितः ।
पश्य पश्य कमलेक्षणां क्षणं मां स्वतरतव किलानिलादिणोम् ।।
(वि० प्र० १२१-५२)

किन्तु नायक उस बीभत्स वातावरण से व्यथित हो उठता है । उसका सुसंस्कारित मन भयभीत हो कर देवर्षि से अपनी माया को समेटने की प्रार्थना करने लगता है:-

हे हे सुरर्षिवर संहर संहरैमाम् ।
बीभत्स-हृदय जननीं तव नाकमायाम् ।।
द्रष्टुं हृद्यतोऽधिकमिमां न खलु क्षमोऽहम् ।
नाको हृद्यं न नरकः परमो अधन्यः ।
(वि० प्र० १२१-५५)

इस प्रकार श्री शास्त्री जी ने श्रृंगार की सृष्टि भी शान्त रस के निष्पादनार्थ ही की है । करुणा तथा अन्य रसों का अभाव विचार प्रधान कृति के कारण खटकता नही ।

वर्णन कौशलः—

अपने वर्ण्य कौशल के अनुरूप ही इस कृति मे महाकवि शास्त्री ने ब्रह्मावर्त, उज्जयिनी, चन्द्रलोक, पितृलोक तथा देव लोक आदि का बड़ा मनोहारी वर्णन किया है । इस वर्णना में पौराणिक मान्यता के साथ-साथ कवि की वैज्ञानिक दृष्टि से काव्य की रसकात्मता में मणिकांचन संयोग बन गया है ।

सर्व प्रथम द्वितीय सर्ग मे विश्वप्रसिद्ध ब्रह्मर्षिप्रदेश को पृथ्वीतल पर स्थित कोई अपर व नवीन ब्रह्मलोक मानते हुए कवि कहता है :

वन्द्यो न केषां क्षितिजन्ममाजां ब्रह्मर्षिदेशो जगति प्रसिद्धः ।
कश्चिन्नवो भूतलमध्यवर्ती यो ब्रह्मलोके-प्रतिमूर्तिरास्ते ।।
(वि० प्र० ८३-१)

जहां पर अनेक दिव्य सरिताएं प्रवाहमान हैं तथा जिस प्रदेश में पद पद पर तीर्थों का बाहुल्य है और जहां शाश्वत धर्म के प्रचारक मुनि जन विचरते रहते हैं:-

यस्मिश्च दिव्याः सरितः पवित्राः,तीर्थान्यसंख्यानि पदे पदे च।
तपोधनस्था मुनयश्च यस्मिन् प्राचीचरन् शाश्वतविश्व धर्मम्॥
(वि० च० ८३-३)

तृतीय सर्ग में काव्य नायक भारत की सांस्कृतिक नगरी उज्जयिनी प्रवेश करता है जो शिप्रा नदि के तट से आवृत है :-

ततः स सर्वप्रथमं विशालां विद्याप्रकाशेन विभासमानाम्।
ययौ पुरीमुज्जयिनीम्पुराणीं शिप्रावृतां विक्रम-राजधानीम्॥
(वि० च० ८८-१)

शिप्रा नदी का पवित्र जल तथा उसके सुन्दर पुलिन का वर्णन भी द्रष्टव्य है जहाँ नायक ने स्नान कर सन्ध्या वन्दन किया:-

पुण्येन शिप्रासलिलेन सर्वं पूतं विकीर्यन् स्वगतं समस्तम्।
संविश्य तस्याः पुलिने विशाले संध्याविधौ ध्यानरतो बभूव॥
(वि० च० ८८-२)

वर्णन-रमणीयता की दृष्टि से इसका षष्ठ सर्ग विशेष रूपसे अवलोकनीय है जिसमें श्री शास्त्रीजी ने चन्द्रलोक तथा उसकी मादिनी चन्द्रिका एव द्विजराज के अनेक रूपों का अति मनोमुग्धकारी चित्रण किया है।

अखिल गुणों को एक साथ अपने अन्दर सामाहित करने वाले भव के विभूषण जिस सुधाकर को निस्पृह धूर्जटि ने अपने सिर पर धारण कर लिया है वह चन्द्र अपनी दुग्ध धवल, व शीतल तथा अनुपम सरस चांदनी का विकिरण पृथ्वीतल की समस्त दिशाओ मे करता हुआ किसके हृदय को मुदित नही करता:—

युगपदेव गुणैरखिलैर्युतो भवविभूषणमेव सुधाकरः।
य इह निस्पृह-धूर्जटिना धृतः सपदि तं व्यदधात् शशिशेखरम्॥
प्रियतमां सरसां पयसां सृतिम् प्रतिदिशं विकिरन्त्यखिले भवे।
अनुपमा शशिशीतलचन्द्रिका सहृदयं भुवि क नहि मादयेत्॥
(वि० च० १००-२,३)

तथा यह हिमगिरी के शिखरों के समान जगतीतल को शीतलता प्रदान करती हुई पृथ्वी पर की विभेद वर्द्धिनी स्थिति दूर कर मानो उसे

निरन्तर एक गुना बना रही है:—

हिमगिरेः शिखरैः समरूपिणीं विदधती जगतीमखिलां सिताम् ।
स्थितिमधारय विभेदविवर्धिनीं सततमेकगुणां कुरुते महीम् ॥
(वि० प्र० १००-४)

विमल कान्तिवाली गगन पारकरी यह रजत चन्द्रिका किन कविश्वरों को भाव सरोवरों में तत्काल निमज्जित नहीं करती ?

रजतकान्तिमती विमलद्युति गगनपारकरीयमहो तरी ।
परिनिमज्जयतीह कवीश्वरान् सपदि कान्नहि भावसरोवरे ॥
(वि० प्र० १००-६)

आगे सुधाकर के अन्य अनेक लोक हितकारी व रम्य रूपों का विभावन प्रति दर्शनीय है:—

क्वचिदसौ सरितां सलिलेऽमले क्वचिदयद्युतिमृद रजसां स्थले ।
विटपिनां छदनेषु ततः क्वचित् नवनवां सुषमांसिवर्षति ॥
(वि० प्र० १०१-२४)

चन्द्र इस जगत पथ का दीपक है जो संसार के तमसावृत्त पथ को पथिकों के लिए सदा आलोकित करता रहता है ।

प्रतिदिनम्पथिकैस्तमसावृते पथि पथि प्रतिपादितदर्शनः ।
विजयते जगतीपथदीपकः स्थिरतमो रुचिरः शिशिरः शशी ॥
(वि० प्र० १०१-२५)

किन्तु मानव की चन्द्रलोक विजय के पश्चात् उसका पीयूषपूर्ण वातावरण विषैली गैसों से दूषित हो रहा है । इसे देख कर राका अपने सिर को धुन रही है तथा शिव भी गरल की ऊष्मा से भयभीत है । यहां राका (रात्रि) का मानवीकरण कितना भव्य है:—

इमां हि चान्द्रीमवलोक्य दुर्गति विषोऽष्म-भीतोऽस्तु शशांकशेखरः ।
धुनोतु राका मुहुर्मुहुः शिरः शरद्-विलासैः सकलैरपाहृता ॥
(वि० प्र० १०४-५५)

तत् पश्चात् पितृपुरुष के द्वारा पितृलोक का भाव चित्रण कवि ने कराया है उसका रसास्वादन हम इसके चिन्तन पक्ष में करेंगे । इस अशरीरी भावलोक की सुन्दर व्यंजना शास्त्रीजी की लेखनी की अपूर्व सफलता है । तथा नवम् सर्ग में श्लोक संख्या ४६ से ५४ तक स्वर्ग-निरूपण भी अति सुन्दर है । एक उदाहरण द्रष्टव्य है:—

शीतलः सुमन्दः समीरणो मादकः परिमलः समन्ततः ।
संचरन्-मृदुमृदंग-वादनम् तेन साधर्म्य-नर्तनं ध्वनिः ॥

मण्डली सपदि देव योषिता-मप्सरोगण-विभूषिता ततः ॥
हावभावमधुरा चंक्रमान्विता सद्य एव समभूत् विभाविता ॥

(वि० ग्रं० १२०-४८-४९)

इस प्रकार महाकाव्योचित लक्षणानुसार चाहे वन, पर्वत, नदी, तथा ऋतु व प्रकृति आदि का वर्णन विश्वमानवीयम् न हो किन्तु जिन वर्णनों के लिए इस काव्य में अपने भावगांभीर्य की रमणीयता के लिए जो वर्णन अपेक्षित रहे उनको निरूपणा सुष्ठु व सम्यक् रूप से है।

कला पक्ष □□□

(क) नामकरण:—

प्रस्तुत काव्य का नामकरण कवि ने प्रथम महाकाव्य के समान नायक के नाम के आधार पर न रख कर उसमें प्रतिपादित विचार संस्तुति पर रखा है। जो कि सर्वथा उचित है क्योंकि 'विश्वमानवीयम्' में श्री शास्त्री की दृष्टि मानव मात्र के दृष्टिकोण को संकीर्णता व स्वार्थ की सीमा से निकल कर उसे व्यापक व लोक हितकारी रूप प्रदान कर रही है। विशेष कर आज जबकि वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप वह भौतिक उपलब्धियों को ही जीवन का परमपुरुषार्थ समझने लगा है। कविकी यह मान्यता है कि हमें अपनी इन तुच्छ उपलब्धियों से व्यर्थ ही गर्वाभिभूत नहीं होना चाहिए अपितु विश्वव्यापिनी दृष्टि का विकास कर सर्वजनहिताय प्रयत्नवान होना चाहिए। इस प्रकार विश्व मन में ही अपने मन को समाहित कर उसके व्यापक स्वरूप की रचना को ही एक मात्र परम - लक्ष्य मानना चाहिये।

(ख) सर्ग योजना:—

इसमें कुल नौ सर्ग हैं। तथा प्रत्येक सर्ग में जीवन और जगत् की विभिन्न समस्याओं का तात्त्विक दृष्टि से विभिन्न प्रसगों में विवेचना की है। यद्यपि सर्ग में प्रतिपादित विषयानुसार सर्ग का नामकरण किया जा सकता था किन्तु इस विषय में कवि ने विशेष ध्यान नहीं दिया। यद्यपि सर्गारम्भ में सर्ग में वर्णित विचार बिन्दुओं का संक्षिप्त संकेत अवश्य दिया है। कथावृत्त चिन्तन प्रवाह में पूर्ण अन्विति है। कुल श्लोक संख्या ४९३ हैं।

(ग) भाषा शैली:—

प्रस्तुत कृति श्री शास्त्री की अति प्रौढ़ रचना है अतः इसकी भाषा और शैली समस्त काव्य-गुणों से अलकृत तथा शास्त्रीय दृष्टि से सम्पन्न है। इसमें कवि की भाषा का प्रौढ़तम रूप मिलता है। जिसमें गंभीर भावों और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का पूर्ण सामर्थ्य है।

भाषा के समान ही शैली का उत्कृष्ट रूप भी कम रमणीय नहीं है। प्रसाद-गुण-समन्वित शैली में विविध छन्द तथा अलंकारों का सहज प्रयोग श्री शास्त्री की सजीव शैली का परिचय देता है। भावों की अनुरूपता के साथ साथ शैली भी सहज, सरल तथा गंभीर आदि रूपों में परिवर्तित होती रही है। अनुष्टुप्, शिखरिणी तथा उपजाति आदि छन्द ही इस काव्य में प्रस्तुत हुए हैं।

(घ) अलंकार योजना:—

'विश्वमानवीयम्' में भाषा शैली के सहयोगी उपकरण अलंकार भी अपने सहज एवं रमणीय रूप में आये हैं। श्री शास्त्री ने बाह्य सौन्दर्य के वृद्धि की दृष्टि मात्र से ही अलकारों का प्रयोग नहीं किया है अपितु गंभीर सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यंजना ही उनका लक्ष्य रहा है अतः इस व्यजना में स्वतः ही कुछेक अलंकारों की सृष्टि हो गई है। जिनमें से कुछेक द्रष्टव्य हैं:—

उत्प्रेक्षा:—

वन्द्यो न केषां क्षितिजन्मभाजां ब्रह्मर्षिदेशो जगती प्रसिद्धः।
कश्चिन्नवो भूतलमध्यवर्ती यो ब्रह्मलोक-प्रतिमूर्तिरास्ते॥
(वि० ग्र० ८३-१)

यहां ब्रह्मर्षि देश को पृथ्वी पर स्थित कोई नवीन ब्रह्म लोक की कल्पना उत्प्रेक्षा की जनक है।

हेतूत्प्रेक्षा:—

विचामन्नेव शनैः सरन्ती व्यक्ता क्वचिद् गुप्ततमा क्वचिच्च।
सरस्वती खेलति यत्र खेलां कांचिन्नवां नित्यमहोऽद्भिसीयाम्॥
(वि० ग्र० ८३-४)

काव्यलिङ्ग:—

दोषग्रमूलं निहितं भवविद् वा शिक्षाविधेरद्यतने हि लक्ष्ये।
स एव सर्वप्रथमं गवेष्यः लक्ष्यं सदोषं हि रुणद्धि सिद्धिम्॥
(वि०म० ८४-२४)

अर्थान्तरन्यास.—

लक्ष्यस्थितिश्चेत् कुटिला सदोषा साऽनेकशः स्यात् प्रतिघातकर्त्री।
वेधस्तथा वेधकमेव हन्यात् आवर्तमानः प्रतिकूलदेशम्।
(वि० म० ८४-२५)

इसमें सदोष लक्ष्य लक्ष्मी के लिए ही घातक है जिस प्रकार प्रतिकूल देश में वेध वेधक को ही मार देता है इसमें सुन्दर अर्थान्तरन्यास की विभा बनी है।

अनुप्रास.—

स्वसाध्यानां हि संसिद्धयै सर्वेऽन्योऽन्यं समाश्रिताः।
स्त्री पंचीकृतं तत्त्वम् सर्वभूता निरर्थकाः॥
(वि० म० ८०-१४)

यद्यपि 'विश्वमानवियम्' एक चिन्तन प्रधान काव्य है किन्तु फिर भी हमने देखा है कि अलंकार का समुचित विकास प्रस्तुत कृति में है।

सूक्तिसौन्दर्य.—

सुभाषित वचनों का भी काव्यसौन्दर्य-वर्द्धन में कम महत्व नहीं है। सुभाषित वचन कभी कभी जीवन निर्माण में बड़े सहायक होते है। विश्वमानवीयम्' के सूक्तिवचन नवीनता व सर्वजनोपयोगिता दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं:—

१. बुद्धिर्न शुद्धा भवतीह काचित् क्षणे क्षणे या परिवर्तमाना।
(वि०म० ८४-१८)

बुद्धि का स्वभाव क्षण क्षण परिवर्तनशील है अतः वह कभी शुद्ध नहीं होती।

२. लक्ष्यं सदोषं हि रुणाद्धि सिद्धिम् ।

(वि० प्र० ८४-२४)

दोषयुक्त लक्ष्य सफलता में बाधक होता है ।

३. नैवास्य लोके नहि कापि सीमा सर्वैश्च सर्वे विषया न वेद्याः ।

(वि० प्र० ८७-६०)

अवगति (ज्ञान) की कोई सीमा नहीं है तथा सभी के लिए सभी वेद्य भी नही ।

४. सामर्थ्यैरखिलं पुंसा स्वयं सिद्धा विवेकिनः ।

वि० प्र० ६४-३१)

विवेकीजन सम्पूर्ण सामर्थ्य से युक्त होते हैं ।

५. निशक्तं मधुपैः कश्चित् रसः पातुं न शक्यते ।

(वि० प्र० ६५-४८)

शक्ति रहित भ्रमर कभी भी रस पान नही कर सकते ।

६. प्रधानलक्ष्याधिगमः कृतश्चेद् गौणं हि साध्यं स्वयमेव सिद्धयेत् ।

(वि० प्र० ८७-६५)

मुख्य लक्ष्य की प्राप्ति हो जाने पर गौण साध्य स्वतः ही सिद्ध हो जाता है ।

७. यथाविधान् देवगणान् स्मरामस्तथाविधा एव वयं भवामः ।

(वि० प्र० ८८-७)

'जैसे देवताओं को हम स्मरण करते हैं वैसे ही हम हो जाते हैं ।

चिन्तन-पक्ष ('विश्वमानवीयम्' का वैचारिक उन्मेष)

१. काव्य-सर्जन की चेतना व लक्ष्य दृष्टिः—

'विश्वमानवीयम्' काव्य की प्रादुर्भूति कवि की एक परम विशिष्ट व व्यापक अनुभूति मे हुई है । वर्तमान वैज्ञानिक जगत् में मानव की चन्द्र यात्रा से इस पार्थिव महाप्राणी का एक व्यापक अलौकिक स्वरूप विश्व के समक्ष आया । मानव की इस चन्द्र यात्रा से विश्व का गर्वाभिभूत होना स्वाभाविक था, क्योंकि यह विजय मानव की एक अभूतपूर्व प्राकृतिक विजय थी । किन्तु इस विजय से एतद् विषयिनी भारतीय संस्कृति की मान्यताओं

पर कुछ प्राघात सा लगा और विश्वमानस हमारी पौराणिक मान्यताओं व कथाओं को आलोचना व संदेह की दृष्टि से देखने लगे। सामान्यतः जनों का दृष्टि-परिवर्तन कुछ स्वाभाविक भी है किन्तु जब यही विजयोल्लास उद्धत अहं के रूप में परिवर्तित व परिवर्द्धित होने लगा तो कवि ने यह अनुभव किया कि मानव में इस अहं का अभ्युदय श्रेयस्कर नहीं, क्योंकि दृष्टि में वह केवल एक ग्रह की यात्रा से ही व अनन्त ब्रह्माण्ड के किसी एक नगण्य प्रदेश में पहुँचने से ही अपने पूर्णत्व की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। दार्शनिक विद्याधर शास्त्री के अनुसार मनुष्य को केवल इतने में ही सीमित नहीं होना चाहिए, क्योंकि यह एक परम विश्व व्यापी शक्ति पुंज है। किन्तु खेद है कि वह अपनी अभिनव सकुचित वैज्ञानिक दृष्टि-विशेष के कारण तथा शिक्षा के वास्तविक लक्ष्यों से अपरिचित होने के कारण अपने व्यापक स्वरुप के विषय में संकीर्ण दृष्टि अपनाता जा रहा है। उसकी अपनी इस संकीर्णता का ही यह परिणाम है कि वह विश्व के समस्त कार्य व्यापार को भेद-बुद्धि से देखता है।

श्री शास्त्री ने अपने इस नवीनतम महाकाव्य में (जिसको स्वयं कवि भी न काव्य मानते हैं और न कथा। अपितु उनकी दृष्टि में यह साहित्यिक भाषा में अभिव्यक्त मानव के व्यापक स्वरुप को प्रकाशित और विकसित करने वाली एक कथानक रहित चिति अभिव्यंजना मात्र है) मानव को एक व्यापक रूप में देखना चाहा है और उसे एक विश्व व्यापिनी दृष्टि प्रदान की है कवि की कामना है कि मनुष्य बात बात में भेद बुद्धि से देखना छोड़े क्यों कि सम्पूर्ण दोषों के कारण मनुष्य की सकुचित दृष्टि में ही अन्तर्निहित है। यद्यपि मानव की प्रत्येक लोक में गति संभव है किन्तु फिर भी शास्त्री जी की दृष्टि में वह मुख्य रूप से पार्थिकत्व ही है। 'विश्वमानवीयम्' के भूमिकात्मक प्रथम सर्ग में मानव के इस व्यापक स्वरुप को ही सामने रखकर कवि का प्रतिपादन है कि उसकी दृष्टि पूर्ण व्यापक हो और व्यर्थ में यह तुच्छ एवं लघु भेदों से अपनी दृष्टि को संकीर्ण न बनावें—

व्यापिनी च शुभा दृष्टि वर्तताँ नो निरन्तरम्।
प्रेक्ष्यतां न यया कश्चिद् भेदोऽभेदे वृथा क्वचित् ॥
(वि० प्र० ७६-२)

समस्त कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को अनुभूत रूप विश्वरूपात्मक लोक को किसी एक देश या काल में सीमित न रख व्यापक विश्व व बुद्धि

के साथ देखने से ही मानव का हित होता है:—

विश्वरूपे हि लोकेतद् विश्वबुद्धि हितावहा ।
विधेया खण्डिता नेयं स्वार्थदृष्ट्या हि कर्हिचित् ॥
(वि० ग्रं० ७९-६)

जो व्यक्ति केवल अपने स्वार्थ साधन में ही रत रह कर सुख पाने का स्वप्न देखते है, वे यह नही जानते कि दूसरों के कार्यों को पूर्ण करने से जिस आनन्द की अनुभूति होती है वह बहुत बड़ी आनन्दानुभूति है। तथा उसका अल्पांश भी स्वार्थी नहीं कर सकता।

परेषां कार्य-संसिद्धौ सौख्यं यच्चानुभूयते ।
नह्यस्यांशोऽपि संवेद्यः केवलं स्वार्थसाधकैः ॥
(वि० ग्रं० ८०-१३)

कुछ लोग मनुष्य की इस स्वार्थ वृत्ति को युग की देन मानते है और इस प्रकार युग विशेष को ही दोषी मान कर उस युग के मनुष्यों में कलि आदि दोषों का होना स्वाभाविक समझते हैं। किन्तु उनकी यह मान्यता सर्वथा त्रुटिपूर्ण है। यद्यपि पौराणिक मान्यतानुसार सत्य, त्रेता, द्वापर व कलि आदि युगों का क्रम विशेष है पर कवि की मान्यता है कि हर क्रम के अन्तर में भी एक क्रम है क्यों कि एक ही काल में कहीं कलि और कही सत्ययुग की प्रवृत्तियां पनपती हुई दिखाई देती हैं तथा एक ही व्यक्ति के जीवन में भी कली और सत्य आदि की विभिन्न अवस्थाओं का उद्गम होता रहता है। इससे सिद्ध होता है कि यह क्रम (पौराणिक) सर्वथा नित्य नही है। काल की अपेक्षा राजा अर्थात् देश विशेष का विशिष्टतम मानव जैसे चाहता है वैसे ही युग को प्रादुर्भूत कर सकता है:—

युगानां वर्तमानोऽयं क्रमो नित्योऽस्य न क्रमः ।
कर्मणां व्यापको नायं वस्तुतः क्वापि वर्तते ॥
एकस्मिन्नेव कालांशे क्वचित् सत्यं क्वचित् कलिः ।
दृश्यते वर्तमानो यद् राजा कालस्य कारणम् ॥
नित्ये काल प्रवाहेऽस्मिन् भेदः कश्चिन्न संभवः ।
कलौ सत्यं कलिः सत्ये अनैरानीयतेः स्वयम् ॥
(वि० ग्रं० ८०-२४ से २६)

जीवन में इच्छा शक्ति ही बलवान है उसको पराङ्मुखी करना उचित नही है। जिनकी चिकीर्षावृत्ति नही मरी प्रभु उसी के सहायक होते है तथा वे सदा सशक्त रहते हैं।

इच्छा बलवती शक्ति विधेया सा न निर्बला।
चिकीर्षा जीविता येषां सशक्ता एव ते सदा॥
(वि० प्र० ८१-३१)

किन्तु इस इच्छा शक्ति को कभी कभी नैराश्य भावना से बड़ा आघात लगता है अतः श्री शास्त्री निराशा निराकरण के लिए प्रेरित करते हुए कहते हैं—

नैराश्येन दुराक्रान्ते नोत्साहः संस्फुरेत् क्वचित्।
नैराश्यं कर्मणां शत्रुः तदेव प्राक् निरस्यताम्॥
(वि० प्र०८१-२७)

जीवन के सभी संघर्षों का मूल कारण मनुष्य की स्वार्थ परायणता है। मानव यदि अपनी स्वार्थ वृत्ति का शमन व संशोधन करले तो उसके सारे संघर्ष स्वत. ही समाप्त हो जाते है:—

मानवीया हो संघर्षाः निखिलाः स्वार्थमूलकाः।
शोधिता स्वार्थलिप्सा चेत् स्वयं शान्ता भवन्ति ते।
(वि० प्र० ८०-१७)

श्रीयुत् शास्त्री यह नहीं मानते कि मनुष्य जिस किसी क्रमानुगत काल के प्रभाव से किसी प्रचलित प्रवृत्ति के अधीन ही रहेगा अपितु इनका कथन है कि उस में यह स्वाभाविक शक्ति है जिससे वह अपने जीवन को स्वयं प्रस्फुटित कर सकता है। जिनकी आशाएं और दृष्टि कुण्ठित हो जाती हैं वे ही गर्त में पड़ते हैं :—

मानवानामयं धर्मः प्रकृत्येव सनातनः।
नवाशाय नवो यत्नो नवा बुद्धि नवो जयः॥
(वि० प्र० ८१-३३)

अतः जो नित्य नवीनता के उपासक हैं वे जीवन मे सफल होते है एतदर्थ कवि नवीनता को ही मानव का प्राकृत धर्म मानता है—

नवोत्साहो नवोमार्गो नवा दृष्टि र्नवा कृतिः ।
नवीनं जीवनं नित्यं जना नित्यं नवा नवाः ॥
(वि० ग्र० ८१-३४)

मानव चैतन्य का महान पुंज है । अतः वह सम्पूर्ण रूपेण विधायक है । एतदर्थ उसकी कोई भी एषणा कभी भी निष्फल नहीं हो सकती ।

चैतन्यस्य महान् पुञ्जो मानवः 'स्याम्' विधायकः ॥
तस्यैषणा न तत् काचित् निष्फला स्यात् क्षणम् क्वचित् ॥
(वि० ग्रं० ८१-३७)

अतः अपने चैतन्य स्वरूप की शुद्धि की ओर सर्वप्रथम ध्यान देना अपेक्षित है । शुद्ध चेतन की विद्यमानता में ही सब कुछ किया जा सकता है:-

चैतन्यं शुद्धमस्याश्चेत् रक्ष्यते नित्यमाहितैः ।
अलोक्य नास्ति तत् किंचित् तथा अन्य प्रकाश्यताम् ॥
(विं ग्रं० ८१-३६)

किन्तु चूंकि मनुष्य अपनी इस शुद्ध चैतन्य शक्ति को दिन प्रति-दिन विकृत करता जा रहा है:—

विद्वेषानल-दुर्दग्धा संकीर्णा संशयान्विता ।
अस्थिरा चास्थिरं र्भावैभीता काल्पनिकैं र्भयैः ॥
चिन्ताभिः सन्ततं ग्रस्ता क्षीणा भोगैश्च भौतिकैं ।
निद्रया तन्द्रयाक्रान्ता प्रसुप्ता साम्प्रतं मतिः ॥
(वि० ग्रं० ८२-४४,४५)

यद्यपि मानव युग का स्वामी है किसी का दास नहीं है तथा वह देश -काल का विभु व विधाता है किन्तु आज वह अपनी शक्ति को भूल रहा है । अतः कवि उसकी विस्मृति शक्ति को पुनर्जागृत करने के लिए ही अपने इस काव्य की सर्जना में प्रवृत्त हुआ है ।

वस्तुतोऽयं युगस्वामी दासश्चैवां न कर्हिचित् ।
विभुरेष महान् कश्चिद् विधाता देशकालयोः ॥
स्वशक्ति विस्मृताऽनेन् व्यापिनी किन्तु साम्प्रतम् ।
काव्येऽस्मिन् तां समुद्धतुं यत्नः कश्चिन्मया कृतः ॥
(वि० ग्रं० ८२-४८,४६)

मानव की अन्तश्चेतना की परिशुद्धि के लिए कवि का मन उद्वेलित है अत. वह उसके समक्ष जीवन के लिए वास्तविक लक्ष्य की स्थापना के लिए प्रवृत्तिशील होता है। काव्य नायक देवीप्रकाश के माध्यम से जीवन के व्यापक लक्ष्य की अपूर्ति के कारणों को ढूंढता हुआ वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि व्यापक लक्ष्य से भ्रष्ट मानव का प्रधान दोष यही है कि वह अपनी शिक्षा के वास्तविक स्वरूप व लक्ष्य को विस्मृत कर चुका है। इस समय शिक्षा का लक्ष्य 'आत्मानंविद्धि' के स्थान पर केवल मात्र अर्थ प्राप्ति परक हो गया है कि आज के युवा वर्ग को अर्थ कामना की संतुष्टि व पूर्ति नहीं होती तो वह असन्तुलितमना होकर अशान्त हो बैठता है अत: शिक्षा के वास्तविक लक्ष्य की पूर्ति हेतु एक आदर्श अध्ययन संस्थान की स्थापना में काव्य नायक प्रवृत्त होता है।

विद्या प्रतिष्ठान की प्रकल्पना भी काव्य नायक के मानस में जिन परिस्थितयों में प्रादुर्भूत हुई है वह हेतु भी द्रष्टव्य है-काव्य नायक देवीप्रकाश एक दिन अपने आश्रम में बैठे हैं उस समय तर्क करते हुए कुछ युवक आकर उनसे पूछने लगे।

क ईश्वरः कुत्र च तस्य वासः फलं च धर्मस्य किमत्र लभ्यम् ?
अयोः प्रचारेण भवान् विमुग्धान् विधाय लोकान् सुठले प्रवृत्तः ॥
(वि० ग्र०८३-१२)

नव युवकों की इस नवीन प्रश्न प्रणाली से चकित हो कर भी काव्य नायक ने छात्रों को प्रतिबोधित किया:—

भिन्नो भवद्भ्यो नहि दूरवर्ती कश्चिज्जगत्यामपमीश्वरो नः।
शान्त्या विशुद्धेन हृदावलोक्यः स चिन्मयोऽन्तर्भवतां निगूढः ॥
(वि० ग० ८४-१४)

यहीं पर नव युवावर्ग के कुतर्कों को शान्त करने के लिए जिस प्रणाली को अपनाया गया है वह द्रष्टव्य है। विश देवीप्रकाश तार्किक रीति अथवा अन्य प्रमाणों से ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने की अपेक्षा उनसे ही प्रश्न करते हैं:—

युष्मासु यत् किञ्चन वर्तमानं हिते परेषां सततप्रवृत्तम्।
कारुण्यपूर्णम्प्रकृति-प्रसन्नं, तथैव तद्रूपमिदं नवग्सु॥
(वि० प्र० ८४-१५)

उस विभु ब्रह्म का स्वरूप इन रूपों में हम सभी में जब व्याप्त है तो उस ज्ञानमय प्रकाश रूप का बोध क्यों नही होता? इसके समाधान मे नायक कहता है कि जो किसी प्रकार की शक्ति की उपासना नही करते तथा जिनकी बोध प्रवृत्ति अहंकार से खण्डित हो गई है उन कूपमण्डूकों के समाधान लघु बुद्धिवालों को विभु ब्रह्म का बोध कैसे हो सकता है? तथा वे अपने मिथ्याभिमान युक्त तर्क-बुद्धि से उस गम्भीर रहस्य को जानना चाहते है जो बुद्धि क्षण क्षण परिवर्तन शील है—

उपास्यते यैर्न च काऽपि शक्तिः खण्डिताहंकृति-भावभिन्ना।
कूपस्थभेकै र्लघुबुद्धिभिस्तैर् र्बोध्यं कदाचिन्न विभुप्रकाशैः॥
तर्केण वेत्तुं गहनं रहस्यं न चेष्टनीयं च निजात्मगर्वात्।
बुद्धिर्न शुद्धा भवतीह काचित् क्षणे क्षणे या परिवर्तमाना॥
(वि० प्र० ८४-१७-१८)

अतः तत्त्वान्वेषक दृष्टि प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हमारा जीवन दर्शन लोक हिताय आदर्शों से अनुप्रेरित हो वह हमारी दृष्टि आध्यात्मिक हो। किन्तु आज का वातावरण इसके सर्वथा विपरीत है। आज सभी की दृष्टि अर्थाश्रित व भौतिकवादी है अतः अर्थविरोध की स्थिति में अशान्ति व असन्तोष उत्पन्न होना स्वाभाविक है:—

अर्थाश्रिता किन्तु यथा जनानां गतिः समस्ताऽपि बताद्य जाताः।
अर्थाविरोधे सति खण्डिताशा अतृप्तकामाः कुपिता युवानः॥
(वि० प्र० ८५-३२)

इस प्रकार वर्तमान कालीन इस अशान्त व इस असन्तोषपूर्ण समाज की मनः स्थिति का हेतु कवि के अनुसार जीवन दोष है क्योंकि:—

दोषत्रयमूलं निहितं क्वचिद् वा शिक्षाविधेरद्यतने हि लक्ष्ये।
स एव सर्वप्रथमं गवेष्यः लक्ष्यं सदोषं हि रुणद्धि सिद्धिम्॥
(वि० प्र० ८४-२४)

दोषपूर्ण लक्ष्य प्राप्ति के प्रयत्न अनेक बार लक्ष्य भेदी लक्ष्य की अपेक्षा अपने आपको आहत कर लेता है:—

लक्ष्यस्थितिश्चेत् कुटिला सदोषा साऽनेकशः स्यात् प्रतिघातकर्त्री ।
वेधस्तथा वेधकमेव हन्यात् आवर्तमानः प्रतिकूलदेशम् ॥
(वि० ग्रं० ८४-२५)

आज के मानव जीवन की सम्पूर्ण दयनीय स्थिति का कारण काव्यकार की दृष्टि में दोषपूर्ण व अधूरी शिक्षा है। भौतिक लक्ष्य प्रधान शिक्षा ने मानव की सम्पूर्ण गति को यंत्रीकृत बना दिया है।

नवे युगे भौतिकलक्ष्यमुख्ये नाध्यात्मिकी छात्रगतिः परीक्ष्या ।
न मानवे मानवता च मृग्या यन्त्रीकृता यस्य गतिः समस्ता ॥
(वि०ग्रं० ८५-३०)

आज के इस जघन्य विश्व विनाशी मानव की अपेक्षा कवि एक मन की अचेतन कील को अधिक उपयोगी और श्रेष्ठ समझता है क्योंकि वह जड़ कम से कम एक स्थान पर तो बनी रहती है तथा उसकी स्थिति उसके यंत्र में सहायक तो होती है।—

तत्तद्विधेयस्य विशिष्टसिद्ध्यै पूर्त्यै च तत्तत्-स्थितिसाधनानाम् ।
यन्त्रस्य कीलेन समो हि कश्चित् तत्रोपयोगः क्रियतेऽद्य लोके ॥
अचेतनश्चाप्ययं यन्त्रकीलो जनात् मतास्मात् शतशो वरिष्ठः ।
(वि० ग्रं० ८५-३७,३८)

कवि की मान्यता है कि मानव इस निन्दनीय प्रवृत्ति को नहीं रोका गया तो मानव के पतन की क्या सीमा होगी कुछ नहीं कहा जा सकता:—

गर्ह्या प्रवृत्तिर्यदि मानवानाम् नैषा निरस्ता क्रियतां हि सद्यः ।
निज्ये स्वभावे सुदृढा भवन्ति नेयम्पुनः स्यात् सुकरापनेतुम् ॥
(वि० ग्रं० ८६-४१)

पतित मानव की इस भयावह स्थिति का निराकरण एकमात्र प्राचीन ऋषियों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से ही सम्भव है जिससे मानव जीवन के सही स्वरूप व लक्ष्य से परिचित हो।

न गृह्यते यावदनादिसिद्धो महर्षिभिर्दर्शित एव पन्थाः ।
तावन्न शिक्षालय-लक्ष्यसिद्धिर्भवेत् कदाचित् सुलभा स्वराष्ट्रे ॥
(वि० ग्रं० ८६-४२)

अतः नायक व्यासाश्रम के नाम से एक आश्रम की स्थापना करता है जहां उच्च लक्ष्य से सम्पन्न छात्रों को तैयार किया जा सके, अन्त मे कवि अपने अभीप्सित जीवन दर्शन की उपलब्धि के लिए जिस जीवनचर्या की आवश्यता होती है उसकी कल्पना व्यासाश्रम के माध्यम से प्रस्तुत करता है।

३. महाकाल का व्यापक स्वरूपः—

दार्शनिक कवि का चिन्तन प्राचीन आश्रम की स्थापना कर तदनुरूप शिक्षण व्यवस्था कर ही समाप्त नही होता अपितु वह क्रमशः विकास की ओर अग्रसर होता है। काव्य-नायक अपने शिक्षण संस्थान का सचालन व्यवहार अपने मित्र-गणेश को सौंप कर कुछ योग्य अन्तेवासी शिष्यों के साथ स्व सिद्धान्तों के प्रचारार्थ प्रस्थान करता है तथा अपने सर्वगुण सम्पन्न छात्र वर्ग के साथ सर्व प्रथम उज्जयिनी पहुँचता है। यहां महाकाल और देवी हरगौरी के दर्शन कर भारत के प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् पं० सूर्यनारायण व्यास के साथ महागणेश के भी दर्शन करता है। महाकाल के दर्शन के समय उनके स्तवन में काल के व्यापक स्वरूप का निरुपण अनुपम है। इसी प्रसग में मानव की व्यापकता के लिए यह आवश्यक माना गया है कि वह आस्तिक बुद्धि से सम्पन्न हो और देवी के दर्शन में किसी तरह का दोषदर्शन न करें क्योंकि इष्ट उपासना एव देवदर्शन से जो सामर्थ्य मिलता है वह अपने आप में अपूर्व होता है:—

> देवान् नमस्कृत्य जनः स्वभावात् निजात्मशक्तिं परिवर्धमानः।
> प्राप्नोति मुख्यं बलमिष्टलभ्यं नान्येन केनाप्यवहेल्यतां यत्॥
> (वि० ग्रं० ८८-४)

देव पूजन से मानव में किसी प्रकार की हीनता की भावना उत्पन्न नही होती अपितु भक्ति भाव का अभ्युदय होता है क्योंकि भक्ति भाव इतना विशाल है कि इससे जीवन में अनेक अद्‌भुत् अनुभवों की प्राप्ति होती है। इससे मनुष्यों का मन खिल उठता है। कुछ लोग अपने इष्ट देव का दर्शन करके सात्विक समाधि में मग्न हो जाते हैं:—

> भावाच्च भक्ते मंधुरो हि लोके, भावः परो रम्यतरो न कश्चित्।
> साधीयसी येन समाधि-सिद्धिः स्वेष्ट-प्रसादश्च सुखेन लभ्यः॥
> (वि० ग्रं० ८८-५)

भगवान् महाकाल के दर्शन के समय स्तवन-सुमनों को अर्पण करते समय कवि विद्याधर कहता है:—

हे रुद्र मूर्ते महाकाल अनादि काल से अनेक बुध-प्रवरों द्वारा स्तुति की गई है। किन्तु तुम्हारे स्वरूप-रहस्य का प्रकटीकरण नहीं हुआ.—

अनादिकालाद् बुधवर्य-धुर्यैःस्तुतोऽपि तत्तत् स्यात् स्तुतिभिः सदैव।
नाद्यापि कैश्चिद् विवृतं रहस्यं रहस्यमेतच्च रहस्यमास्ताम्॥
(वि० ग्रं० ९०-२७)

निरन्तर गतिमान व परिवर्तनशील इस काल के विषय में किसी निश्चित धारणा और स्वरूप का निर्णय दुष्कर है:—

रूपं तयैकं यदि तेऽस्तु किंचित् तदापि तत् स्यात् किमपीह वैषम्।
क्षणे क्षणे यत् परिवर्तमानं ज्ञानं स्थिरत्वेन कथं तदास्ताम्॥
(वि० ग्र० ९०-२८)

काल किसी भी क्षण एक रूप नहीं रहता। अनेक रूपता में उसकी सत्ता की अनुभूति होती है। भिन्न भिन्न प्रकार के क्रिया कर्मों से भिन्न भिन्न देशों में यह एक रूप होकर भी अनेक रूप होता है।

क्रिया-प्रधानं परिवर्तनं चेद् कर्ता स्वतंत्रो नर एव लोके।
तस्माच्च लोकेऽसि स एव मुख्यः कालस्य कर्ताय युगस्य भर्ता॥
(वि० ग्रं० ९०-३१)

काल में यदि एक रूपता की प्रतीति न हो कर भिन्नता का बाहुल्य रहता है तो इसमे कोई आपत्ति नही क्योंकि सांख्य सिद्धान्त के अनुसार अव्यक्त प्रकृति का विकास भेदात्मक विकृति और विकारों के बिना संभव नहीं। इस दार्शनिक तथ्य को प्रकट करते हुए कवि कहता है:—

नियंत्रिता या जगती व्यवस्था भवेत् सर्वथा भिदयैव साध्या।
विना विभिन्नात् विकृते विकारात् विकासमेति प्रकृतिर्न सुप्ता॥
(वि० ग्रं० ९०-३७)

युगो युगो से विभक्त होता हुआ तथा ह्रास व विकास रूप में दिखाई देता हुआ यह काल, महाकाल विद्वज्जनों की दृष्टि में सर्वदा स्थिर, नित्य

ग्रौर ग्रद्वैतरूप ही है:—

वेद्यञ्च वेत्तृत्वमिदं समस्तं ह्रासो विकासोऽथ लयोद्भवौ या ।
भेदा अभेदाश्च ततः समस्ता अद्वैतभावे त्वयि विद्यमानाः ।।
(वि० ग्र० ९१-४१)

४. शक्ति स्वरूप निदर्शना:—

अनुष्टुप् छन्द में विचरित चतुर्थ सर्ग में देवदर्शन के पश्चात् काव्य-नायक ने उज्जयिनी में विद्यमान इतिहास प्रसिद्ध वीर दुर्गादास राठौर की समाधि स्थलिका पर अपनी पुष्पांजलि अर्पित की है। इस राष्ट्र पुरुष के इतिवृत्त प्रसंग में अलौकिक शक्ति विषयक श्री व्यास की जिज्ञासा प्रकट करने पर मानव की अन्तर्निहित शक्तियों के स्फुरण एवं ह्रास के कारणों का विवेचन शक्ति सिद्धान्त की विशिष्ट निदर्शना है। शक्ति विवेचन करते समय काव्य नायक कहते हैं कि भारतीय स्वभाव से ही शाक्त हैं तथा उनकी मान्यतानुसार विश्व व्यापिनी यह शक्ति नित्य रूपा है।

विदुषोक्तं वयं शाक्ता भारतीयाः स्वभावतः ।
नित्याऽस्माकं महाशक्ति र्व्यापिनीः या जगत्त्रये ।।
(वि० ग्र० ९२-१२)

किसी भी निःशक्त कण के द्वारा लोक में किसी वस्तु की उमद्भूति संभव नहीं। प्रत्येक प्रकार के कर्त्तृत्व में सर्वप्रथम शक्तिमत्ता की आवश्यकता है:—

अशक्तै र्हि कणैः कैश्चित् लोके किञ्चिन्न सृज्यते ।
कर्त्तृत्वं शक्तिसापेक्षं तत्तामद्य प्रबोधये ।।
(वि० ग्र० ९२-१०)

किन्तु यह कर्त्तृत्व-शक्ति सर्वत्रएक समान नहीं होती प्रत्येक पदार्थ में अपनी अपनी एक विशिष्ट शक्ति निहित होती है। यह शक्ति उस पदार्थ के आन्तरिक धर्म के पालन से बलवती होती है और उस पदार्थ के विरुद्ध धर्मों के आचरण से क्षीण होने लगती है। इसलिए प्रत्येक पदार्थ की शक्ति उसके वास्तविक धर्म की रक्षा में ही प्रतिष्ठित है।—

स्वधर्मे वर्धते शक्तिः क्षीणा साथ विधर्मिणि।
स्वधर्मस्तत्सदा स्वस्थः परधर्मो भयावहः॥
(वि० ग्रं० ६३-१४)

इस रीति से जगती का प्रत्येक कण अपनी अपनी शक्ति से सम्पन्न होता है। पर इन सब मे शक्ति का सृजन एक ऐसी विशेषता रखता है जो सर्वशक्ति सम्पन्न है। इसमें पांचों तत्त्वों की समस्त शक्तियो का सम्मेलन एक साथ हो गया है और इसमें समस्त तत्त्वों के गुण सार भूत रूप में विद्यमान हैं:—

तेषामेव च योगेन सृष्टेयं महती मही।
यस्यां सर्वे रसास्तेषां मधुरूपेण संस्थिताः॥
(वि० ग्रं० ६३-१८)

तथा इन समस्त मधुमय पदार्थों का पान करने वाला यह मनुष्य ही मधुप है.—

पाता तेषां मनुष्योऽयं मधुपः कोऽप्यलौकिकः।
अन्तर्हिता रसास्तेऽस्मिन् विभाव्यन्ते तपस्विभिः॥
(वि० ग्रं० ६३-१६)

तद् पश्चात् कवि-शक्ति अन्यान्य रूपों की वर्णना की अपेक्षा मानुषी शक्ति की निरूपणा की ओर प्रवृत्त होती है:—

त्यक्त्वा तत् सर्वशक्तीनां वर्णनं हि पृथक्-पृथक्।
मानवस्यैव शक्तेस्तत् कश्चिदंशः समीक्ष्यते॥
(वि० ग्रं० ६३-२०)

मनुष्य मे मुख्य रूप से यह शक्ति अपने द्विविध रूप में विद्यमान रहती है:—

द्विविधा मानुषी शक्तिर्द्विविधे तस्य जीवने।
शारीरे भौतिके बाह्ये दिव्ये चान्तरिके तदा॥
(वि० ग्रं० ६३-२१)

शारीरिक और आन्तरिक शक्तियों के अतिरिक्त मनुष्य की शक्तियों

का विकास उसके वैयक्तिक और सामाजिक रूप में भी है। सामाजिक शक्ति के विकास के लिए वैयक्तिक शक्ति की उपासना सर्व प्रथम आवश्यक है। विकसित व्यक्तित्व वाला मानव ही किसी समाज व राष्ट्र का उद्धार कर सकता है:—

सर्वैः सर्वविधैर्यत्नैः पुरा तद्व्यज्यतामतः।
व्यक्तित्वे समभिव्यक्ते भासतेऽन्यत् स्वयम्पुनः॥
(वि० ग्रं० ६३-२५)

शक्ति का दार्शनिक व वैज्ञानिक विवेचन व वर्गीकरण प्रस्तुत करते हुए कवि कहता है कि अपने स्वयं के गुण दोषों को जानने वाले व्यक्ति का विकास कभी भी अवरुद्ध नहीं होता तथा यह आत्म-गुण-दोष-विवेचिनी शक्ति मनुष्य की विवेक शक्ति है व इसी का अपर नाम सारस्वती शक्ति है तथा विवेकीजन ही समस्त गुणों से सम्पन्न होते हैं।

वैयक्तिकं समुन्नायं मौख्यं सर्वैः विवेकिभिः।
सामर्थ्यैरखिलैः युक्ताः स्वयं सिद्धा विवेकिनः॥
(वि० ग्रं० ६४-३१)

किन्तु आज अपने देश में इस शक्ति का ह्रास विघटित हो रहा है। लोग अपने दोषों को देखे बिना निरन्तर दूसरो के ही दोषों की समीक्षा करते रहते हैं। जो लोग अपने गुण दोषों का विचार किये बिना ही तथा अपनी विकृतियों को अपास्त न कर मात्र केवल परदोष दर्शन शील रहते हैं उनका विकास कदापि किसी प्रकार संभव नहीं। अतः व्यक्ति को चाहिए कि वह सर्व प्रथम अपने में सुधार करे और आत्म सुधार विवेक शक्ति के द्वारा ही कर सकता है किन्तु भारत में आज सर्वसाधारण की यह शक्ति क्षीण हो रही है। इसलिए धूर्त व तस्कर-नेतृत्व-वर्ग का उदय हो रहा है:—

शक्तिरेषा विवेकस्य क्षीणा किन्त्वद्य भारते।
नेतृत्वं तस्करं धूर्तैः सम्प्राप्तुं च प्रयत्यते॥
(वि० ग्रं० ६४-३२)

दुष्ट नेतृत्व को हटाने के लिए व जन कल्याण के लिए विवेकशील व्यक्तियों का संगठन आवश्यक है क्योंकि जनतंत्र में शासन मत संख्याश्रित हुआ करता है फिर कलियुग में तो सगठन में ही शक्ति है:—

मत-संख्याश्रितं सर्वं शासने जनताश्रिके।
विज्ञानां तद् भवेद् मूल्यं दूषितं च खलैं कृतम् ॥
कलौ संगठने शक्तिः सिद्धान्तोऽप्यं सनातनः।
दुर्जनैं स्तद् सतां स्थाने क्रियते किन्तु साम्प्रतम् ॥
(वि० प्र० ६४-३३,३४)

किन्तु आज विद्वानों के स्थान पर दुष्टजन संगठित हैं। इनका संगठन सभी के लिए घातक होता है। इनका एकमात्र कार्य राष्ट्रशक्ति का लुण्ठन ही होता है :—

दुधियां घटनं ह्येतत् प्रोत्साह्यं नैव कर्हिचित्।
भवेत्तद् राष्ट्रसम्पत्ते लुण्ठनायैव केवलम् ॥
(वि० प्र० ६४-३५)

अतः राष्ट्र शक्ति की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि हम शीघ्र से शीघ्र सद् शक्ति को संगठित करें ताकि देश का सर्वांङ्गीण विकास हो सके —

जनतंत्रस्य शोच्येयं वर्तमाना परिस्थितिः।
राष्ट्रसच्छक्ति-रक्षार्थं सद्यः शोध्या बुधैर्जनैः ॥
(वि० प्र० ६४-३८)

इन शक्तियों के अतिरिक्त कवि ने राष्ट्र समृद्धि के लिए इसकी दिव्य महालक्ष्मी आर्थिक शक्ति की संरक्षणा भी आवश्यक मानी है। इस शक्ति के विकास के लिए दुर्गासप्तशती में प्रतिपादित नीति व शक्ति को उत्तम बताया है जिसके अनुसार धन की वृद्धि व उपभोग सम उपभोग से ही होता है:—

आर्थिकमर्थं च समुन्नत्यै दुर्गोक्ता नीतिरुत्तमा।
यो ददाति च यो भुंक्ते तत्र लक्ष्मीः प्रसीदति ॥
(वि०प्र० ६५-४२)

इस नीति के परिप्रेक्ष्य में भारत की स्थिति को देखकर कवि को बड़ी मानसिक पीड़ा होती है क्योंकि हमारे देश की आज की स्थिति उपभोग की है, दान की नहीं। यह स्थिति शुभ नहीं:—

गतिर्नेयं शुभोदर्का निद्धेऽयं-संग्रहे रता।
स्वार्थं सिद्धयै परार्थानां निदंयं च विधातिका॥
(वि० ग्रं० ६५-४४)

संसार में वे ही सुखी रहते हैं जो अधिक तृष्णाग्रस्त नहीं होते और दूसरों के परिश्रम से अर्जित धन की कामना नहीं करते। शक्ति के अपव्यय का कारण भोगैषणा है। जहां जहां इसकी वृद्धि होती है वहां समस्त शक्तियों का ह्रास अवश्यंभावी है:—

स्वार्था-भोगैषणा-वृत्ति यंत्र यत्र समेधते।
तत्र तत्रार्य-शक्तीनां भवेत् नूनमपव्ययः॥
(वि० ग्रं० ६५-४६)

अन्त में काव्यनायक यह कह कर इस प्रसंग को समाप्त करता है कि मानवीय महाशक्ति के दूषित होने का कारण मनुष्य स्वयं ही है:—

स्वयंमद्य विचार्यं नः—सत्तद्वादशतैरियम्।
मानवीया महाशक्ति—र्मानवैरेवावनीयते॥
(वि० ग्रं० ६५-५०)

५. दिग् भ्रमित वैज्ञानिक उत्कर्षः—

मानव की विभिन्न शक्तियों के वर्णन के पश्चात् आधुनिक वैज्ञानिक शक्ति की विलक्षणता का वर्णन कर उसके दुष्प्रयोग से विश्व की जो व्यापक क्षति हो रही है, उसका विस्तृत विवेचन किया गया है। इस वैज्ञानिक शक्ति के कारण मानव ने ईश्वर को सर्वथा अमान्य कर दिया है। किन्तु भौतिकवादी अहं दृष्टि का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह मनुष्य में समष्टि दृष्टि की अपेक्षा व्यष्टि दृष्टि की अधिक उद्भावना करती है। तथा इसके द्वारा वह विश्व के बाह्य रूप को तो सबसे अधिक देखता है किन्तु अपने आन्तरिक स्वरूप को न तो वह आवश्यकता ही समझता है और न ही उसे एतदर्थ अवकाश ही है:—

अहम्मति भौतिकवादिसंगिनो विकासिनो व्यष्टिदृशोऽल्पभाविनी।
परत्र चास्तित्वमतिर्हि दुःस्थितिः क्षणे क्षणे चेह समष्टिसाधिनी॥
प्रतिक्षणं सर्वमिदं बहिः स्थितं निरीक्ष्य विज्ञानदृशाद्य मानवः।
न तेशतोऽप्यान्तरिकं समीक्षते क्षणं तदर्थं यतते क्वचिद् वा॥
(वि० ग्रं० ६६-६७)

किन्तु अनन्त आन्तरिक जगत के समक्ष इस बाह्य जगत की कोई स्थिति नहीं है। यह सर्वव्यापि विशाल आत्मतत्त्व जिसके समक्ष हमारा यह पार्थिव लोक एक कण से भी लघु है फिर भी वह मानव को मोहित करता है:—

अनन्तपारस्य विलक्षणस्थितेः स्थितिर्हि कान्तरिकस्य सम्मुखे।
कणायितस्याखिलबाह्यवर्तिनः-तथापि सन्मोहयतीह मानवम्॥
(वि० ग्र०९६-८)

परन्तु आज का मानव प्रत्येक क्षण इस कण मात्र को घटाने बढ़ाने तथा सजाने व सवारने में ही लगा है तथा इसने विज्ञान के बल से इस कण में उस अद्भुत शक्ति को भी प्राप्त कर लिया है जिससे वह नभस्तल में विहगवत् स्वतंत्र विचरण कर सकता है और उसने अपने शारीरिक सौख्य की वृद्धि के लिए अन्य अनेकानेक उपकरण भी आविष्कृत कर लिये है। मानव की यह शक्ति निश्चित रूपेण अभिनन्दन योग्य है किन्तु कवि विद्याधर कहता है कि मनुष्य का लक्ष्य इतना ही नहीं है अपितु इससे कहीं बढ़कर है:—

तथापि हेया न निजायतिर्जनैं नचापि भाव्यं नितरां मदान्वितैः।
महद्धि लक्ष्यं जनजीवनाश्रितं नवंनं तद् विस्मरणीयमादिमम्॥
(वि० ग्र० ९७-१७)

इसके साथ ही उसे यह भी नहीं सोचना चाहिये कि प्रत्येक पुरातन स्थिति युग के प्रतिकूल हो चुकी है क्योंकि उसका भी अपना स्थायी महत्व है अपने इस कथ्य को और भी स्पष्ट करते हुए श्रीयुत् शास्त्री कहते हैं-नूतन में यदि कोई नूतन रस है तो पुरातन में भी कोई पुरातन रस है न तो सदा नूतन ही सर्व हितकारी रहता है और न ही सकल पुरातन कभी असार हो जाता है.—

नवेऽप कश्चिद्यदि नूतनो रसः पुरातने चापि पुरातनो रसः।
नवं न सर्वं हितकारी सर्वदा न चाप्यसारं सकलम्पुरातनम्॥
(वि० ग्र० ९७-२०)

इसके अतिरिक्त नवीन व पुरातन की अपेक्षा सबसे अधिक ध्यान इस बात पर देना आवश्यक है कि किस पदार्थ के द्वारा विश्व में सात्विक गुण की

वृद्धि हो सकती है अथवा हो रही है। सात्विक विरोधी कोई भी तामस पदार्थ चाहे वह कितना ही नवीन क्यों न हो, हितकारी नहीं हो सकता:—

स्वभावतः शान्तिमयं हि सात्विकं सदा हृदुल्लासि सचेतसां सताम्।
अतो हितं सात्विकशान्तिवर्धकं न तामसं नव्यमपीह सुन्दरम्॥
(वि० ग्रं० ९७-२१)

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आज नवीनता ही नवीनता की रट सुनाई देती है। नवीनता का यह स्वरूप एक उन्माद के रूप में परिलक्षित हो रहा है। अतः इस नवोन्माद के संक्रमण काल में मनुष्य को अपनी विवेक शक्ति से वास्तविक सत्य की पहिचान करनी चाहिये। आज का मानव सर्वजनहित कारी यज्ञों का परित्याग कर अपने स्वार्थ-पोषण में ही रत है। मानव की यह स्वार्थवृत्ति लोक-नाश का कारण बनेगी क्योंकि विधाता ने सृष्टि के पंच भूतों का निर्माण केवल मनुष्य के लिए ही नहीं किया है अन्य जीव भी इसके भागीदार हैं:—

न पञ्चभूतानि जनाय केवलं विकासितानीह भवे विरञ्चिना।
न तद्विना यत् पशवस्तथा खगा वसन्ति लोके सुखिनः क्षणं क्वचित्॥
(वि० ग्रं० ९८-३०)

किन्तु मानव अपनी भोगेच्छा तथा जिह्वा लोलुप्ता के कारण आकाश पाताल और पृथ्वी के सभी मानवेतर जीवों को मारते समय यह नहीं सोचता कि उनका सर्जक पिता भी वही है जो मेरा है:—

स्वर्योनिभिन्नानखिलान् वियच्चरान् समुद्रमग्नानखिलांश्च जीविनः।
निहत्य नित्यं नहि चिन्त्यते नरैःपिता स तेषामपि यः पिता हि नः॥
(वि० ग्रं० ९८-३२)

आज मनुष्य ने विज्ञान की सहायता से जिन कृत्रिम उपकरणों का निर्माण किया है उससे वह भविष्य में किस अधोगति को प्राप्त होगा यह तो भगवान् जाने किन्तु आज उसकी स्वयं की मन:स्थित इस दुरवस्था को पहुँच गई है कि वह व्यर्थ की चिन्ताओं को देखकर चिन्तित रहता है। तथा स्वयं इस विगतगति का उसे ध्यान नहीं:—

अहर्निशं विश्वगतापरिस्थिति निशाम्य तच्चिन्तनमग्नमानसैः।
क्षणं न कैश्चित् स्वगतं विचार्यते विलोक्यते किंचन वाप्यतः स्थितिम्॥
(वि० ग्रं० ९८-४०)

अन्त में कवि मानव को अपनी इस व्यग्र व शोचनीय अवस्था पर स्थिर चित्त से विचार कर अपने वास्तविक शक्ति सम्पन्न स्वरूप प्राप्ति की प्रेरणा देता है.—

क्षणं विरम्याद्य सखे निशम्यतां न धाव्यतामेवमहो प्रतिक्षणम् ।
उपास्यतां चेत् स्थिरचेतसा क्षणं त्वयापि तद्दिव्यमवाप्यतां महः ॥
(वि० ग्रं० ९९-४४)

७ चन्द्रविजय-जय या पराजय ?

मानव ने चन्द्र लोक पर जाकर अन्तरिक्ष पे विजय प्राप्त करली है इससे उसका गर्वित होना स्वाभाविक है। किन्तु अर्थ परायण मानव की इस विजय ने चन्द्र को बड़ी दयनीय स्थिति में पहुँचा दिया है। चन्द्रमा के लिए मानव अब दसवें ग्रह के रूप में उदित हुआ है। जो प्रकृति के सबसे अधिकसुन्दर और हितकारी इस अमृत सरोवर को भी आणविक प्रहारों से क्षतविक्षत कर रहा है.—

जयति सम्प्रति किन्तु मनोः सुते भवति केवलमर्थ परायणे।
परवशस्य सदा हिमांशोऽधुना भृशमियं दयनीयगति गता ॥
समुदिते मनुजे दशमे ग्रहे नरवशास्य तथा विकृताऽधुना ।
अणुशरैर्विषमैः सविपैरसौ भवति हन्त मुहुर्निहतो यदा ॥
(वि० ग्रं० १००-७,८)

मानव चन्द्र पर जाकर उसमें अमृत खोजने की अपेक्षा उस पर एकान्त में आणविक अस्त्रों का परीक्षण करना चाहता है तथा अपनी सैनिक शक्ति के वर्द्धन के किसी उपकरण का प्रयोग स्थल उसे बनाना चाहता है:—

अथ निरीक्ष्य परीक्ष्य च तत्पदं फलमभीप्सितमद्य हि यत्परम् ।
नहि सुधा नच सद् रमणीयता मनुसुतैरधुना यत काम्यते ॥
किमपि सैनिकशक्ति विवर्धकं नव पदार्थगतं वलमीप्स्यते ।
सपदि येन भवन्तु विपक्षिणो विनिहता निभृतं गगने चरैः ॥
(वि० ग्रं० १००, १०१-११, १३)

मानव नित्य नवीन विजय प्राप्त करे इसमें कोई आपत्ति नहीं किन्तु विजयी की वह विजय शुभ नहीं जिसका परिणाम भी शुभ न हो। पार्थिव

जीवन को विषमय बनाकर आज का मनुष्य आकाश के वातावरण को भी विषैला कर रहा है:—

अवनिजीवनमद्य विषावृतं विकृतमत्र विधाय पदे पदे।
नहि करोतु जनो गगने चरन् तदपि सम्प्रति हन्त तदन्वितम्॥
(वि० प्र० १०१-१६)

चन्द्रमा ने पृथ्वी के प्राणियों का कोई भी अहित नहीं किया किन्तु आज हम वहाँ जाकर उस कलानिधि को भी चारों ओर से रौंद और खोद रहे हैं:—

नहि कदापि महीतलवासिना-महितमाचरितं शशिना क्वचित्।
अधुना मनुजैः कृतघात कैरयमपि क्रियतां क्षतविक्षतः॥
(वि० प्र० १०१-१७)

अतः कवि को भय है कि परम स्वार्थी मानव ने यदि चन्द्रमा के सम्पूर्ण रत्नों का अपहरण कर लिया तो वह अपनी चन्द्रिका से भी कहीं हाथ धो न बैठे। यह महान् परहितकारी शशि सहस्रों युगों से निरन्तर अपने सिर पर सूर्य की धूप को सहन कर रहा है इसने अपने इस कठिन व्रत में पवन और जल का भी सेवन नहीं किया है:—

शतसहस्रयुगं सहतानिशम् तपनतापगतिं शिरसाऽखिलाम्।
शशभृता कठिनव्रतधारिणा न पवनो न च वारि निषेवितम्॥
(वि० प्र० १०१-१९)

चन्द्र विजयी यह नरवानर चन्द्रमा को जीत कर भी दुर्बुद्धि कौतुक बालक के समान अपने विनाश की सामग्री जुटा रहा है। हाँ यदि कोई भारतीय सर्वप्रथम वहां पहुंचता तो वह भारतीय संस्कृति के अनुसार उसका सुरभित दुग्ध घृतादि से ही सर्वप्रथम पूजन व अभिषेकादि करता, क्योंकि हमारा उससे परम पौराणिक सम्बन्ध है हमने चन्द्रमा को पृथ्वी का राजा माना है:—

शशिसमो धरणीहितकारको नृपवरो न परो द्विजसत्कृतः।
नहि च रम्यतरोऽपि भवेत् परो भवति येन निशापि विभावरि॥
(वि० प्र० १०१-२३)

वेदों में ऋषियों ने यह रहस्य प्रकाशित किया है कि इस चन्द्रमा के द्वारा पृथ्वी पर निरन्तर सोमरस बरसता है। उस सोमरस के स्थान पर यदि कोई जहरीली वस्तु आ पड़ी तो यहां कोई भी वस्तु सरस न रहेगी। जल मत्स्य-हीन हो जायेगा तथा मानव की मन तरंगें भी लुप्त हो जायेंगी। इस प्रकार की भयावह कल्पना भी अति भयावह है।

विषमयी यदि वृष्टिरिहापतेत् क्वचिदियं सरसा न भवेत् मही।
नहि जले चपला शफरी स्फुरेत् नरि मनोलहरी च नहि क्वचित्॥
(वि० ग्रं० १०२-२८)

मनुष्य के मन के सम्बन्ध में ज्योतिष शास्त्र की मान्यता है कि उसमें अर्थात् मानव मन में कम्पन होने पर राजयक्ष्मा फैल जाता है। इस परिस्थिति के उत्पन्न हो जाने पर अभी दिखने वाले ये अमृत कुण्ड विष-कुण्ड में बदल जायेंगे। अतः हमारे मानव कवि का यह उद्बोधन है कि यदि मानव चन्द्र पर कुछ करना ही चाहता है तो उसे चाहिए कि वह प्राचीन ऋषियों के समान उपनिषदों के वर्णनानुसार सात्विक हवन करे जिससे द्यावा पृथ्वी का वायुमण्डल शुद्ध व सात्विक भावनाओं से परिपूर्ण हो।

कुरुत साग्निकमेव परीक्षणं यजनकर्म हुतं भवपोषणम्।
उभयमेव सहैव फलान्वितं भवति येन धरा गगनं तथा॥
(वि० ग्रं० १०२-३३)

चन्द्रलोक पर भी पृथ्वी का सा व्यवहार करना अनुचित है क्योंकि जगत् का प्रत्येक लोक पृथ्वी की सी शक्ति नहीं रखता तथा न ही जीवन को पार्थिव रीति से पुष्ट ही करता है। चन्द्रारोहणेच्छु के लिये यह आवश्यक है कि प्रथमतः वह अपने अन्तस् को विमल करे। 'चन्द्रमा मनसो जातः' यह चन्द्रमा विधाता का मन है। एतदर्थ मनुष्य को चाहिये कि वह अपने मन को चन्द्र के समान निर्मल व स्वच्छ करे—

निवसितुं यदि चन्द्रतले स्पृहा प्रथमतः स्वमनः कुरु निर्मलम्।
प्रभुमनोजनितो विमलः शशि जनमनोऽपि तथैव समीहते॥
शशिवदेव जनोऽस्तु परार्थभृत् शशिवदेव तपोनिरतस्तथा।
विविधकष्टसहिष्णुगणाग्रणीः समुदितः सततं परमोदकः॥
(वि० ग्रं० १०२-३७,३८)

मनुष्य के लिए यह अपेक्षित है कि वह चन्द्र के समान अनेक कष्टों को सहन करने वाला, गुणों को ग्रहण करने वाला तथा अत्यन्त प्रसन्न रहने वाला हो।

आगे कवि कहता है कि यदि मनुष्य चन्द्रतल पर किसी प्रकार की नई सभ्यता का विकास करना चाहता है तो उसका स्वरूप अपने आप में महान् व अनुपम होना चाहिए। उस पर पृथ्वी की सभ्यता के समान लव मात्र भी दोष नही होना चाहिये। वह विश्व को विमोहित करने वाली तथा सम्पूर्ण दोषों को निवारण करने वाली होनी चाहिये।

कवि की दृष्टि में चन्द्रमा पर पड़े ये भीमकाय गर्त अतीत में घटित किसी भी भौतिक परिवर्तन के फलस्वरूप नहीं है अपितु कृतघ्नी मानव के कुकृत्यों को देखकर उसके दुःख से पड़े प्रतीत होते है। अतः मानव को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह अपने कलंकित कर्मों से इसके वातावरण को दूषित न करेः—

कुरुत किन्तु जना न सुधाकरं निजकलङ्कितकर्म-विदूषितम्।
(वि० प्र० १०३-५०)

शतपथ ब्राह्मण में वर्णन आता है कि चन्द्रलोक की वेदियों पर ऋषियों ने यज्ञ किया था अत. पुनरपि उस सत् क्रिया का सम्पादन करना चाहियेः—

ऋषिवरैरिह पुण्यतमे स्थले क्षितितलांशविभूषित वेदिषु।
शतपथानुगतं यजनं कृतं पुनरपि क्रियतामिह तत्तथा॥
(वि० प्र० १०३-५१)

यदि उपर्युक्त पुन्य क्रिया न कर सके तो कम से कम अपने गन्दे आचरणों से उस पवित्र को दूषित तो न करें। वह केवल पृथ्वी को ही अमृत नही देता है अपितु अन्यान्य ग्रहो के प्राणी भी इससे जीवन लाभ लेते हैंः—

अवनिजीवनमेव न केवलं शशधरादमृतं लभते सदा।
इतरलोक निवासिभिरप्यसौ प्रतिदिनं नितरामुपजीव्यते॥
(वि० प्र० १०३-५४)

अन्त में कवि की प्रार्थना है कि चन्द्रमा की इस दुर्गति को देखकर चन्द्रशेखर शिव विष की उष्मा से भयभीत हो जायेगा तथा चन्द्रमा के शारदीय सुषमा से रहित हो जाने पर राका भी अपना सिर धुनेगी।

परोक्ष पितृलोक–एक परिकल्पना:—

आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धानों का चन्द्रलोक पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों का चिन्तन करता हुआ नायक सो जाता है। स्वप्न में उसे एक दिव्याकृति तेजस्वी पुरुष के दर्शन होते हैं। विनीत भाव से नायक द्वारा परिचय पूछे जाने पर उस आगत दिव्याकृति ने कहा कि मानवों का ही एक पूर्व पुरुष हूँ तथा जहाँ मैं निराधार खड़ा हूँ वह पितृलोक है। हमारा शरीर स्थूल नहीं होता और न ही भारसहित। यह केवल भावों से बना हुआ परम सूक्ष्म होता है। इसकी सूक्ष्म गति का कहीं निरोध नहीं। इस शरीर का पोषण केवल भावों से होने के कारण हम श्रद्धाभावों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं चाहते। यद्यपि हम वायु के समान पृथ्वी और आकाश में सर्वत्र व्याप्त हैं किन्तु अपने कुल के साथ हमारा सम्बन्ध विशेषरूप से बना रहता है। तथा यह कुल सम्पर्क सात पीढ़ी तक बना रहता है:—

न देहो नः स्थूलो न च भवति भारेण सहितः।
स आस्ते भावानां दिवि परमसूक्ष्मो विग्रुणितः॥
सुसूक्ष्मत्वादस्य स्थितिगतिनिरोधो न कुहचित्।
अयम्पोष्यो भावैरभिलषति नान्यत् किमपि यत्॥
(वि० प्र० १०६-८)

पितर आगे कहता है कि हम अपने कुल की कुशलता से प्रसन्न और ताप से तप्त रहते हैं। हम निरन्तर अपने कुल की सुख शान्ति चाहते हैं। कुल की कीर्ति से हम प्रसन्न होते हैं और हमारी दीप्ति बढ़ जाती है तथा कुल की निन्दा हमारी खिन्नता का कारण बनती है.—

सुखं,शान्तिं, कीर्ति निजकुलजनेभ्यः प्रतियुगम्।
समीहन्ते अस्मवत् प्रकृतिकरुणार्द्रा हि पितरः॥
कुले कीर्त्या दीप्ते वयमपि भवामो द्युतिमयाः॥
अकीर्त्या चोल्लासः परिणमति खेदे सपदि नः॥
(वि० प्र० १०६-११)

अहं भाव से ग्रस्त होकर यदि कोई अपने श्रेष्ठ पूर्व पुरुषों का स्मरण नही करता है तो वह अत्यन्त कृतघ्नी होता है। हमारे गुणो के स्मरण चिन्तन करने पर हम प्रसन्न होते हैं विपरीत इसके अह भाव के कारण कोई वंशज अपने स्मरणीय पुरुषो के गुण स्मरण नही करे तो उस कृतघ्नी का विकास संभव नहीं:—

अहम्भावग्रस्तः स्मरति यदि कश्चित् नहि पितृन्।
कुलस्त्रोतो-नेतृन् महितजनकादीनपि निजान्॥
कृतघ्नस्तत्तुल्यो भवति खलु नान्यो भुवि पुमान्।
न यः स्यात् स्वीयानां भवतु स परेषामिह कथम्॥
(वि० प्र० १०६-१२)

अतः प्रत्येक वंशज का यह कर्तव्य है कि वह आत्मबल देने वाले अपने कुल के स्वाभाविक गुणों को न भूले। जो लोग पृथ्वी लोक के अतिरिक्त पितृलोक आदि अन्य लोको में विश्वास नही करते वे यह नही जानते कि यह भू लोक भी जब तक दूसरे लोकों से शक्ति प्राप्त न करे तब तक अपना पूर्ण विकास नही कर सकता:—

विशेषात्सप्तापि श्रुतिमतिमयी भारतधरा।
प्रदीप्तं यस्यां तद् भवति परिपूर्णं श्रुतिमहः॥
धराप्येवा किन्तु प्रभवति न तावत् विकसितुम्।
न यावल्लोकेभ्यो बलमिह परेभ्योऽपि लभते॥
(वि०प्र० १०७-१८)

तथा जो लोग यह समझते है कि मृत्यु के पश्चात् कुछ भी अवशेष नही रहता व प्राणों के साथ ही सब कुछ विलीन हो जाता है, अतः मृत्यूपरान्त सोचना व्यर्थ है:—

परे ये च ब्रूयु "मरणमनु किञ्चिन्नहि भवे,,।
न निर्मूलं चैनां मृतकगति-चिन्तां कुरुत तत्॥
स्फुरत्येतत् विश्वं निखिलमिह जीवज्जन-कृते।
गतासुना सर्वं व्रजति सह तैरेव विलयम्"॥
(वि० प्र० १०८-२२)

ऐसे भोले मानस वाले लोगों के लिए दार्शनिक कवि का कहना है

कि वह ये नही जानते कि उनका यह कथन कितना असार है क्योंकि आत्मा नित्य है वह कभी कही पर भी लीन नही होती:—

मृत्यु से भयभीत होने की आवश्यकता नही। नियत समय से पहले मृत्यु नही आती इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिये कि हमारा यह जीवन श्वास प्रश्वास लेते हुए केवल देह मे ही सीमित नही है। इसका यश रूपी एक शरीर और है उसकी रक्षा करना नितान्त आवश्यक है:—

असारोक्तिस्तेषां कथमपि परं नैयमुचिता।
न नित्यत्वाद् आत्मा: क्वचिदपि लयास्तस्य भवतात्॥
(वि० ग्रं० १०८-२३)

चलच्छ्वासे देहे नहि च विपमाणामनुभवे।
परिच्छेद्यं न्मणां भवति सकलं जीवनमिदम्॥
यशो-देहाद् भिन्नं तनुपरिमिताच्चाप्यय परम्।
पृथक् तन्नो नित्यं भवति विभु वैचारिकमपि॥
(वि० ग्रं० १०८-,२७)

तरगन्याय से जीवात्मा का विचार रूप स्थूल देह के पंचत्व प्राप्त होने पर भी सदा विकासमान रहता है। संसार में विचार शीघ्र ही समाप्त नही होते वे क्षण भर में ही सर्वत्र व्याप्त होने की क्षमता रखते हैं:—

विचाराणां शक्ति र्भवति सबला विश्वजयिनी।
क्षणे स्यात् सा व्याप्ता भुवि नभसि सर्वत्र युगपत्॥
न चेदस्माकं सा बलमिह लभेत स्वकुलजात्।
स्वशिष्याद् वा तस्या भवतिरदयनीया बत गतिः॥
(वि० ग्रं० १०९-२९)

इस प्रकार हम देखते हैं कि विचारों की शक्ति बड़ी प्रबल और विश्वविजयी होती है तथा जब हम देखते हैं कि हमारे वंशजों और शिष्यों द्वारा इनका परित्याग किया जा रहा है तो हमारी स्थिति बड़ी दयनीय होती है। आधुनिक वैज्ञानिक जगत् मे पैदा होने वाले क्षुब्ध वातावरण को भौतिक कारणों से उत्पन्न मानते हैं किन्तु वास्तविकता यह है कि अशुद्ध विचार मण्डल के कारण ही सुखद व दुःखद वातावरण उत्पन्न होता है अत. शुद्ध भावों की चिन्तना नितान्त आवश्यक है.—

सदा शुद्धान् भावानुपनयत नः सत्वगुणजान् ।
रजश्चाद्यत्स्यं नोऽपनयति भृशं शान्तिमखिलाम् ॥
अशान्तेष्वस्मासु प्रकृतिलहरी क्षुभ्यति पुनः ।
विभिन्नाश्चोत्पातास्तत इह भवन्ति प्रकटिताः ॥
(वि० ग्रं० १०९-३१)

बुरे विचारों से हम अशान्त हो जाते हैं और फिर हमारी अशान्ति से पृथ्वी का वातावरण भी अशान्त हो जाता है। हमारा पितृलोक सर्वथा स्वच्छ व विशुद्ध सत्व गुण से उत्पन्न है। अतः इसमें मनुष्य की प्रत्येक कृति का प्रतिबिम्ब पड़ता है जो जैसा कार्य करता है वह वैसे ही फल में परिणत हो जाता है। भू लोक में जिनके उत्तम विचार हैं वे ही दिव्य पितर बनते हैं:—

पवित्रेऽस्मल्लोके वियति विमले सत्वजनिते ।
नराणां कृत्यानां प्रतिफलति बिम्बोऽत्र सहजः ॥
यथा स्यात् यत् कार्यं परिणमति तत् तादृशि फले ।
विलम्बांशः कश्चित् क्षणमपि न तच्चान्तरयति ।
(वि० ग्रं० १०९-३४)

जो अपने नर तनु के समय आदर्श आचारवान तथा पुण्यात्मा होते हैं वे ही मरणोपरान्त दिव्य पितर होते हैं:—

सदादर्शाचारा नरतनुषु येषां सुकृतिनाम् ।
न चोद्वेगं नीताः सहजरिपुकामप्रभृतिभिः
परेषां दुःखैस्ते द्रवितहृदयाः शुद्धमतयः
भवेषु देहान्ते दिवि परिणता दिव्यपितृषु ॥
(वि० ग्रं० ११०-३५)

आगे वह पितृपुरुष काव्य नायक से कहता है कि हम यहां से देखते हैं कि लोग किस किस प्रकार की दशाओं से आरहे हैं। मरने के बाद पितरों की उनके कर्मों के अनुसार अनेक तरह की स्थिति होती है। कुछ तो पृथ्वी के गर्भ में ही निद्रा व तन्द्रामय पड़े रहते हैं और कितने ही आकाश की ओर जाने का प्रयास करते हैं किन्तु वे अपने प्रयास में सफल नहीं होते और धम्म से नीचे गिर जाते हैं। उनकी यह गति पाप के कारण होती है इसलिए उन्हें चाहिये कि वे पतित पावन का स्मरण करें:—

अन्त में वह पितृपुरुष कहता है कि हमारा अपने कुल से यह सम्बन्ध सात पीढ़ी तक बना रहता है। पितृलोक और मनुष्य लोक दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं। दोनों के सद्-असद् भावों से ही यह प्रकृति प्रसन्नता व खिन्नता को प्राप्त करती है:—

मिथः सदिमर्मावैः कुरुत जगतीं हृष्ट चरिताम्।
कुभावैश्चाकृत्यैः कुरुत बत मैमां हि विकृताम्॥
(वि० प्र० १११-४२)

दिविलोक दर्शन की कामना व देव रूपों का वर्गीकरण

दिव्य पितृपुरुष से पितृलोक विषयक पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने पर काव्य नायक की दिवि लोक देखने की इच्छा होती है। अतः वह पितृपुरुष से देवलोक में विचरण की रीति पूछता है:—

निर्दिश्यतां काचन सा सुरीतिः कुर्यां ययाहं हि दिवो विहारम्।
युष्मद्-गतिर्न क्वचनापि दृष्टा युष्मं रहस्यं न विश्व किञ्चित्॥
(वि० प्र० ११२-६)

इस पर पितृपुरुष कहते हैं कि तुम्हारी यह अभीप्सा सहज साध्य नहीं क्योंकि प्राचीन समय से भी एतदर्थ अनेकों ने प्रयत्न किए किन्तु बिना नाना क्रतु सम्पादनों के स्वर्ग दर्शन कदापि संभव नहीं:—

पुरातनेकैर्यतितं बतास्मै न पूर्णकामा ह्यभवन् परे ते।
क्रतुं विना तत्र न कोऽपि गन्तुं मर्त्या क्षमन्ते क्षितिजाः कदाचित्॥
(वि० प्र० ११२-८)

तदनन्तर वह दिव्य पुरुष स्वर्ग की स्थिति वहां के देवजीवन के विषय में बताते हुए कहते हैं कि निश्चय ही वहां भय, मृत्यु और जरा नहीं है और वह लोक पृथ्वी से दिव्य है.—

नूनं पृथिव्याः पृथगेव केचित् लोका हि दिव्याः खलु ते सुराणाम्।
न तत्र भीतिः किल कापि मृत्यो र्न तत्र केचित् जरसा च शीर्णं॥
(वि० प्र० ११२-११)

आगे देवताओं का परिचय देते हुए कहते हैं कि श्रुतियों में जिन पौराणिक देवताओं की वर्णना है वे ही देवता वास्तविक देवता नहीं है। यदि

तुम आदि देवों के विषय में जानना चाहते हो तो पहले जगतो के एकमात्र आदि विधायक को जानो जो विश्वों के विश्व का नाथ है तथा जिसकी व्याप्ति कण कण में है।

आद्याश्च वेद्या यदि सन्ति देवा वेद्यः पुराद्यो जगती-विधाता।
विश्वस्य विश्वस्य स नाथ एको व्याप्तो हि सर्वत्र कणे कणे यः॥

(वि० प्र० ११३-१३)

यह महनीय विभु तर्क के द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता उसकी अनुभूति के लिए आत्मा की विमलता आवश्यक है। यह शक्ति ही प्रकृति के विकास रूप में स्थित है अनल और अनिलादि इसी के अंश रूप हैः—

पृथक् स्वरूपेण महान् स देवो विश्वं-स्वलोकि प्रकृते विकासे।
तस्यैव सर्वेऽनलानिलाद्या अंशात्मकाः सर्ग-विकासलग्नाः॥
(वि० प्र० ११३-१५)

इस शक्ति के सूर्य चन्द्रादि अंशो के संसृति विकास के अपूर्व योगदान तथा लोक हितकारी कार्यो का वर्णन कर पितृपुरुष आज के मानव की भौतिकवादी दृष्टि की भर्त्सना करते हुए कहता है-कि यद्यपि ये देवगण पृथ्वी-वासियों के जीवन व विकास के लिए सतत प्रवृत्तिशील रहते हैं तथा उनकी दान प्रवृत्ति को देखकर महर्षिगण इनका स्तवन करते हैं किन्तु भू-लोकवासी मानव इस वसुधा का खनन करके उससे अनेकानेक वस्तु रत्न निकाल कर भी बदले में इसे कुछ भी अर्पित नही करतेः—

विडम्बनेयं विदमा धरण्या वैज्ञानिके साम्प्रतिके प्रसारे।
संखन्य गर्भान्निखिलं हि तस्याः कणोऽपि नार्प्यं पुनरर्प्यते तैः॥
(वि० प्र० ११२-२०)

अतः कवि को भय है कि मनुष्यों में यदि देवानुकूल दान प्रवृत्ति का उदय नहीं हुआ तो कहीं पृथ्वी का सर्वनाश न हो जाए.—

प्रवृत्तिरेषा बत दानयोगा देवानुकूला न भवेत् कदाचित्।
बिभेमि कश्चित् त्वरयैव भावो स्वयं कृतोऽयं भुवि सर्वनाशः॥
(वि० प्र० ११३-२१)

इच्छा प्रकट करता है। देवर्षि उसकी अभिप्सा जानकर कहते हैं:—"विश्व की सारभूत वस्तु इस वसुन्धरा को छोड़कर तुम जिस देवलोक में जाना चाहते हो उससे कहीं अधिक रमणीय तथा सकल सिद्धियों की दात्री यह धरा है और देव मनुष्य से बढ़ कर नहीं है, तथा तुम बिना तप किए सुख भोगना चाहते हो जबकि बिना तपश्चर्या के सुखानुभूति का वास्तविक आनन्द नहीं:—

अथः नैव तपः कठिनं न जपः न पराक्रम एव तवानुपमः।
न च काचन योगज-सिद्धिरहो सुखमेतु दिवि कस्य बलात् ?॥
(वि० ग्रं० ११८-१८)

किन्तु जब नायक अपना हठ नहीं छोड़ता तो देवर्षि उसकी इच्छा पूर्ति हेतु उसके मस्तक पर अपना हाथ रखते हैं। कर-स्पर्श मात्र से ही नायक की दृष्टि में सारा दृश्य एकाएक बदल जाता है, और वह स्वर्ग की अद्भुतलीला व वहां के विलासमय वातावरण को देख कर आश्चर्यान्वित हो जाता है। चारों ओर मादक व कामुक माहौल से यह विचलित हो उठता है और जब स्वर्ग की अप्सराएं उसका परिरमण के लिए आह्वान करती हैं तो वह घबरा कर देवर्षि से अपनी नाक माया समेटने की प्रार्थना करता है। पुनः कर स्पर्श से देवर्षि अपनी माया को समेट लेते हैं और नायक मुक्ति की सांस लेता है तब देवर्षि कहते हैं कि मित्र तुम राजसी वृत्ति के नहीं हो अपितु सात्विक स्वभाव ही तुम्हारा सहज धर्म है अतः पृथ्वी के किसी शुद्ध शान्तस्थल पर वास कर प्रभु शक्ति के सौरम्य का अनुभव करो। यह भूलोकप्रति श्रेष्ठ है तथा सर्व सिद्धि दायक है:—

भूलोकतः परतरो नहि कोऽपि लोकः निर्व्यहि सौख्यजनकैः सुगुणै-रुपेतः।
विश्व महि प्रियतमा परिपूजनीया सर्वार्थ-सिद्धिरिह यत्र न कैरवाप्या॥
(वि० ग्रं० ११२-५८)

अतः मानव को चाहिये कि वह यहीं रहकर मानवमात्र के अभ्युदय के लिए कार्य करे तथा मनुष्य के मनोबल को उन्नत बनाने का यत्न करे क्योंकि मानव के मन का बल ही सब सिद्धियों का दायक है:—

तन्मानवाभ्युदय एव सदेह कार्यः कार्या नचात्मगततः ववचनापि मन्दाः।
उच्चं हि मानव-मनोबल-मत्र नित्यम् साध्यस्य सिद्धिमखिलां नियतामुपेति॥
(वि० ग्रं० १२२-६४)

निष्कर्ष:—

पूर्व पृष्ठों में 'विश्वमानवीयम्' का भाव, कला और चिन्तन इन तीनों दृष्टियों से आकलन व आलोचन किया। प्रस्तुत काव्य समीक्षा भी कवि की पूर्व विवेचित कृति 'हरनामामृतम्' के समान नाना विचार शीर्षकों में अधिक विस्तार से की जा सकती थी किन्तु प्रबन्ध के विस्तार भय से संकोच करना पड़ा। भाव और कला पक्ष को सामान्य रूप से आलोचित कर इसके चिन्तन पक्ष पर ही विशेष बल दिया गया है क्योंकि शुद्ध चिन्तन उसका मुख्य प्रतिपाद्य है। तथा चिन्तन पक्ष में भी उन विचार बिन्दुओं की अलग से समीक्षा उचित नहीं समझी जिनकी 'हरनामामृतम्' की वैचारिकता से समानता रही, क्योंकि श्री शास्त्री की समस्त रचनाओं में उदात्त भावना का उत्कर्ष पदे पदे उपलब्ध है। दार्शनिक दृष्टि से अद्वैत भावना, विभु ब्रह्म की व्यापकता, भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम, नवीन और पुरातन का समन्वय कवि की चिन्तना के अपने प्रिय आधार हैं। तथा भारतीय संस्कृति के पुरातन स्वरूप व उसकी उच्च, गरिमा का तो हमारा महाकवि महान् गायक है अतः इन सब बिन्दुओं का वैचारिक उन्मेष शीर्षक के अन्तर्गत ही विवेचित समझना चाहिये।

अन्त में निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि भाव, कला और चिन्तन इन दृष्टियों से 'विश्वमानवीयम्' अभिनव संस्कृत साहित्य की एक श्रेष्ठतम महान रचना है। यद्यपि निश्चित रूप से इस कृति में चिन्तन की ही प्रधानता है। किन्तु इसके महान् स्वरूप के अनुरूप ही वस्तु विन्यास पात्र सृष्टि, रस निष्पत्ति व छन्द अलंकार एवं भाषा शैली आदि में भी कवि पूर्ण सफल रहा है। इसके चिन्तन के महत्त्व व उसकी व्यापकता को दृष्टिगत करते हुए यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि यह कृति विश्ववाङ्मय की श्रेष्ठ रचनाओं में श्रेष्ठ सम्मान पाने योग्य है।

इसी क्रम में अग्रिम पृष्ठों पर श्री शास्त्री की सात लघु काव्य कृतियों के भाव पक्ष का विवेचन प्रस्तुत करेंगे जिनका साहित्यिक एवं दार्शनिक महत्त्व भी अपने आप में विशेष है तथा जो अभिनव संस्कृत जगत् में नवीन रचना विधाओं की प्रयोगिकाएं हैं।



श्रीयुत् शास्त्री की लघु-काव्य कृतियां

लघु काव्य परम्परा का स्वरूपः—

खण्ड काव्य प्रबन्ध काव्य का ही एक रूप है। संस्कृत के प्राचीन शास्त्रकार "भामह" और "दण्डी" आदि ने सर्ग बन्ध काव्य का अर्थ विशेष रूप से 'महाकाव्य' ही लिया है तथा खण्ड काव्य के विषय में सर्वथा मौन हैं किन्तु 'रुद्रट' ने सभी प्रबन्धों (प्रबन्ध काव्य तथा आख्यायिका आदि) को महद् और लघु इन दो प्रकारों में विभक्त कर उसका अन्तर इस प्रकार बताया है:—

'तत्र महान्तो येषु च विवस्ते ष्वभि धीयते चतुर्वर्गः सर्वे रसाः क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि ते लाघवो विन्न्या येष्वन्यतमो भवेच्चतु र्वर्गात् असमप्राने-करसा[1]..............

इस प्रकार यद्यपि सर्वप्रथम "रुद्रट" ने प्रबन्ध काव्य के दो रूपो महान् (महाकाव्य) व लघु (खण्ड काव्य) के रूप में मौलिक-ढ़ंग से विचार किया है किन्तु लघु काव्य रचना की परम्परा अति प्राचीन है। वेदों के अनेक सूक्त जिनका वर्ण्य अपने आप में स्वतन्त्र है इन काव्यकृतियों के पूर्व-रूप माने जा सकते हैं। उसके पश्चात् लौकिक संस्कृत काल में शृंगार, वैराग्य, भक्ति तथा प्रकृति के विभिन्न रूपों में वर्णाथित विषयों के अतिरिक्त जीवन की किसी अवस्था विशेष के चित्रण विषयक काव्य भी मिलते

---

१. रुद्रट—काव्यालंकार ६:५:६

है। जैसे कालिदास का "ऋतु संहार", भर्तृहरि के तीनो शतक तथा प० जगन्नाथ की "गगा लहरी" तथा "शृंगार तिलक" आदि। ऐतिहासिक कथानको एव तीर्थ स्थानादि विपयक रचनाएं भी विपुल मात्रा मे मिलती है.—

अभिनव संस्कृत काल में भी यह परम्परा अक्षुण्ण रही है। राजस्थान के अनेक अभिनव कवियों ने भी इस प्रकार की नाना रचनाएं की हैं। श्री पेरु शास्त्री आदि की "अनूप यशोवर्णनम्" आदि अनेक लघु कृतिया इसी प्रकार की हैं। श्री शास्त्री की "मत्त लहरी," "आनन्द मन्दाकिनी," "वैचित्र्य लहरी," "विक्रमाभिनन्दनम्" तथा हिमाद्रि माहात्म्यम्" आदि कृतियां इसी कोटि के अन्तर्गत आती हैं।

लघु काव्य कृतियों का वर्ण्य विषय:—

इन रचनाओं का वर्ण्य सभी विषय हो सकते हैं यथा जीवन की किसी अवस्था-विशेष की विशेष दृष्टि से व्याख्या। किसी महान् पुरुष के गुण विशेष को उन्मेषित करना, किसी की प्रशस्ति, गुणावगुणों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, समाज की किसी मान्यता का प्रतिपादन, प्रकृति सौन्दर्य की निरूपणा अथवा तीर्थस्थान व किसी ऐतिहासिक पुरुष के महनीय कार्यों का का विशद वर्णन आदि। किन्तु अधिकांशतः यही देखा जाता है कि किसी युग विशेष की समस्या विशेष को ही कवियों ने अपने काव्य का वर्ण्य चुना है। इस परिप्रेक्ष्य में श्री शास्त्री की लघु कृतियों का सामान्य परिचय व भाव व्यंजना के कुछेक उदाहरण विशेष द्रष्टव्य हैं:—

१. विक्रमाभिनन्दनम्:—

प्रतिपाद्य एवं सृजन प्रेरणा:—

भारत के इतिहास मे वीर विक्रमादित्य का जो महिमामय स्थान है उससे हम सभी पूर्णतया परिचित हैं। सुराज्य के लिए जहां राम-राज्य प्रसिद्ध है वहां न्याय परायणता के लिए विक्रम का राज्य। इसके अतिरिक्त विक्रम का राज्यकाल संस्कृत साहित्य का तो स्वर्ण युग ही रहा है। महाकवि कालिदास जैसे विश्व कवि जिस प्रतापी राजा के दरबार में विभाजित हो ऐसा यशस्वी राजा निश्चय ही परम तेजस्वी रहा होगा। उनके नाम से विक्रम सम्वत् का प्रचलन उनकी इसी तेजोमयता का प्रतीक है।

क्षत्रिय वंश के गौरव इसी राजा के राज्य की द्विसहस्राब्दि समाप्ति के समारोह पर ४० पदों वाली इस "लघु काव्य कृति" की रचना श्री शास्त्री ने की थी। तथा इसका प्रथम वाचन बीकानेर नगर में भारत के मूर्धन्य राजनयश स्व० के० एम० पन्निकर की अध्यक्षता में मनाये गये महोत्सव में किया गया। इस लघुकाय काव्य कृति के द्वारा कवि ने विक्रमादित्य के समय के भारतीय समाज की सांस्कृतिक परम्परा के स्वरूप का निदर्शन कराया है। विक्रम के समय से लेकर अधुनातन हमारी इस पुनीत-परम्परा की सुरक्षा व संवर्द्धन में जिन भारतीय महान् पुरुषों ने अपना अपूर्व योगदान दिया उनके पावन चरित्र के स्मरण के द्वारा भारतीय जनमानस में नव-स्फूर्ति का संचार करना कवि का सृजन स्रोत व उद्देश्य है।

भाव व्यंजना:—

प्रस्तुत कृति यद्यपि अति लघु काय है किन्तु फिर भी कवि ने जिस त्वरा के साथ विक्रमादित्य से लेकर आज तक के इतिहास पुरुषों के गौरवमय कृत्यों का संक्षिप्त स्मरण किया है वह अपने आप में अपूर्व है। वर्णन-शैली की इस संक्षिप्तता एवं तीव्रता को देखकर गागर में सागर भरने की उक्ति की सत्यता अनुभव होती है।

कृति के प्रारम्भ मे कवि भारत की अपूर्व महिमा व उसके देदिप्यमान स्वरूप का वर्णन करते हुए कहता है:—

यशास्विभि-वीरवरै रसंख्यै-र्महर्षिभि-ज्ञानिदिवाकरैश्च।
प्रकाशितं नित्यमहो त्रिलोक्याम् भूयोऽपि यो भारतवर्षमेनम्॥
(वि० ग्रं० १५९-१)

इस महान् देश मे इस लोक के तेजस्वी सूर्य के समान समस्त भुवनों को प्रकाशित करने वाला महनीय कीर्ति से समायुक्त पृथ्वी का इन्द्र विक्रमादित्य नरेन्द्र हुआ था.—

विभासमानं भुवनेषु चक्रे स विक्रमार्को महनीयकीर्तिः।
ऐतिह्य सूर्योऽत्र यशो प्रतापी विलक्षणः कोऽपि महीमहेन्द्रः॥
(वि० ग्रं० १५९-२)

चाहे इतिहास उसके अस्तित्व के विषय में अनिश्चित मना हो, कवि का कथन है कि उसकी सत्ता रही हो या न रही हो किन्तु उसके नाम से

समस्त भारत में एक नव-स्फूर्ति का संचार सदा होता रहता है :—

आस्तां न वास्तामिह तस्य काचित् सत्ता स्थिरं किन्तु यशोऽस्य लोके।
तस्य व्यवस्था प्रथिताः कथासु न्याय-प्रणाली च भवेऽद्वितीया॥
(वि० ग्र० १५६-७)

विक्रम की पहली शताब्दी में भारत में ग्राम-राज्य थे किन्तु इस समय वे सर्वथा विलीन हो गये हैं तथा उस समय का प्रभु भक्तिमय जीवन भी अब नहीं रहा:—

गतं क्व नः सात्त्विक-जीवनं तत् गता क्व वा सात्त्विक संस्कृतिः सा।
विवेकपूर्णं प्रभुभक्तिमत्तं साधारणं जीवन-यापनं च॥
(वि० ग्र० १६०-११)

विक्रम की सातवी शताब्दी में शंकराचार्य हुए इनके अवतरण से एक ऐसा अलौकिक प्रकाश हुआ कि साधारण जीव भी परमात्मा के रूप में देखा जाने लगा:—

अलौकिकः कः किल स प्रकाशो वेला च सा का स्फुरिता जगत्याम्।
क्षुद्रोऽपि जीवो हि यसेन यस्यां विभोर्महत्त्वं मवमाससाद॥
(वि० ग्र० १६०-१४)

जो मनुष्य मर्त्य था वह अमर हो गया, जिसको शून्य माना जाता था वह आनन्दमय स्थिति में परिणत हो गया:—

मर्त्यश्च सद्योऽमरतां गतोऽयं तमः प्रकाशात्मकमेव जातम्।
भ्रान्तिर्विनष्टा विपदो विलीनाः शून्यं तथा शान्तिमयम्प्रदीप्तम्॥
(वि० ग्र० १६०-१५)

इस काल में भारत ने अनेक विदेशियों को शरण दी थी। इतिहास आगे बढ़ता है और हम मुगलकाल में पहुंचते हैं जिसमें पद्मावती आदि देवी शक्तियों ने अपूर्व जौहर-व्रत किया। कवि इस प्रसग में पद्मावती के नाम पर कल्पना करता हुआ कहता है:-कि पद्मावती का पद्म जिस अग्नि कुण्ड में विकसित हुआ उस कुण्ड की अग्नि यद्यपि आज शान्त है किन्तु उसकी भस्म आज भी हमारे मुख को सबसे अधिक प्रदीप्त करती है:—

पद्मावती-पद्म विकासरीति-र्वन्हो विचित्रा च तवाऽभवत्सा।
शान्तापि तद्वदाह भवा विभूतिः दीप्तां मुखाभां कुरुते न केषाम् ॥
(वि० ग्रं० १६०-१८)

इसके बाद महाराणा प्रताप गुरु गोविन्दसिंह तथा शिवाजी आदि का वर्णन है। इन वीरों के विभासित होने पर भी आज भारत की ऐसी दशा है कि हमें हमारा यह प्रतापी भूत-काल स्वप्न के समान दिखाई देता है:—

अज्ञातवीर्या यशसाम्प्रकाशं ह्यतीत्य ते दिव्यतमा अदीप्यन्।
दशा परं सम्प्रति कीदृशीयं राष्ट्रे प्रिये ते बत जृम्भमाणा ॥
(वि० ग्रं० १६१-२३)

इस समय न किसी प्रकार के ब्रह्मचर्य का आदर्शरूप दिखाई देता है न त्याग और तपस्या वृत्ति है।

न ब्रह्मचर्यं न बलं च तरो न त्यागवृत्ति र्न तपः प्रसक्तिः।
गतां च सेवा नहि साऽद्वितीया नवा गुरूणां चरणेऽनुरक्तिः ॥
(वि० ग्रं० १६१-२५)

यह सब होने पर भी कवि का विश्वास है कि भारत फिर अपनी पूर्णता को प्राप्त करेगा क्योंकि भारत की संस्कृति ऐसी है कि अनेक-बार विधर्मियों के द्वारा आक्रान्त होने पर भी यह कभी समाप्त नहीं होती:—

अभिद्रुता चाप्यसकृद् परैर्या नापाततो वुःपतिता कदाचित्।
(वि० ग्रं० १६१-३०)

किन्तु भारत सदा ज्ञान गरिमा के कारण ही प्रबुद्ध है और इसकी आत्मा सदैव अमर ही रहेगी तथा यह सदा विजयी ही रहेगा। इस प्रकार पद लालित्य व सरल वर्णन-शैली के कारण यह कृति अति "लघु-काय" होते हुए भी एक महान् प्रेरक-काव्य की पूर्ति करता है।

वैचित्र्य लहरी

रचना दृष्टि:—

श्रीयुत् शास्त्री की स्वतन्त्र चिन्तना परक प्रमुख तीन लघु-कृतियों (वैचित्र्य लहरी, मत्त लहरी और आनन्द मन्दाकिनी) में वैचित्र्य लहरी

प्रमुख है। इसके ४५ पदों में कवि ने जागतिक-जीवन के अनेक अभिनव पक्षों पर आक्रोश-विक्रोश प्रकट करते हुए मानव के अपने स्वैराचरण तथा भौतिक-जीवन दर्शन पर पुनर्विचार करने की उत्प्रेरणा दी है। प्रारंभ के तीन श्लोकों में कल्याणमूर्ति सर्वव्यापक परमात्मा तथा सद्ज्ञानामृतप्रदिनी भगवती सरस्वती की भाव-पूर्ण वन्दना कर जगत् व्याप्त पारस्परिक विद्वेष-भावों पर आश्चर्य प्रगट किया है। कवि की मान्यता है कि जब हम सभी में एक ही सत्ता प्रकाशित है तो यह कटुता का कल्मष क्यों? आस्तिक और नास्तिक दोनों में ईश्वरीय-सत्ता है वह विभु दोनों का ही पालक व पोषक है।

प्रकृति का स्वरूप सदा परिवर्तनशील है। अतः यह अशेय है किन्तु यह परिवर्तन चक्र ईश्वर की ही माया है। इस माया के कारण ही हमें नित्य में अनित्य व अनित्य में नित्य का अनुभव होता है तथा जिसे हम शान्ति समझते हैं वह शुद्ध भ्रम है और भ्रम ही वास्तविकता है। तत्पश्चात् मनुष्य को उसकी आजकी अधोगति से अवगत कराते हुए कवि ने कहा है कि प्राप्त काल का उचित ढंग से विवेकपूर्वक उपयोग करना चाहिए।

यद्यपि कभी कभी असत्य की विजय भी देखी जाती है किन्तु वास्तविक शान्ति सत्य के पक्षधरों को ही मिलती है तथा सत्यवादी जनों की वृत्ति व स्वभाव ही निर्मल व सात्विक हुआ करता है। जिनका तन और मन निर्मल है उनके लिए यह संसार ही स्वर्ग है। किन्तु आज हमारी स्थिति पशुओं से भी हीनतर है। इस स्थिति से मुक्ति के लिए हमें आत्म-सुधार के लिए प्रयत्नवान होना चाहिए। आत्मशिल्पन के लिए शास्त्रीजी ने कर्म-परायण जीवन यापन की प्रेरणा देते हुए यमनियमादि के पालनार्थ आह्वान किया है।

चिन्तन प्रस्तुतिः—

विचित्र वैचारिक उद्‌भावना के लिए हमारा मान्य मनीषी प्रसिद्ध है। विश्व-प्रपंच के रंगमंच पर अनेक दृश्यों को देखता हुआ कवि स्वयं भ्रमित मना अनुभव करता है। वह ईश्वर की कृपा महत्ता को भी जानता है तथा उसे इस बात का भी ज्ञान है कि बिना उसकी कृपा कटाक्ष के कुछ भी उपलब्धि संभव नहीं, अतः अपने अस्थिर और भ्रमित मन को शान्ति के लिए

प्रभु से निवेदन करता हुआ कहता है–कि हे प्रभो ! मैं जानता हूं कि जिन्हें तुम्हारी कृपा प्राप्त हो जाती है वे संसार में विचलित नहीं होते तथा तुम्हारे प्रति उनकी भक्ति सदा स्थिर बनी रहती है। मैं मूढ़ हूं तथा मेरी चित्त-लहरी अति चंचल है अतः मेरा कोई दृढ़ लक्ष्य नहीं–मैं क्या करूं ? कुछ नहीं जानता अतः प्रकाश करो:—

मन्ये सन्ति सवे प्रभो, तव कृपा यैः प्राप्यते सत्वरम्।
संसारेऽपि न सन्ति ते विचलिता भक्तौ स्थिराश्चाय ते ॥
मूढोऽहं चपला च चित्तलहरी लक्ष्यं न किञ्चिद् ध्रुवम्।
किं कुर्यामिति नैव वेद्मि कृपया कञ्चित् प्रकाशं कुरु ॥
(वि० ग्र० १४३-१०)

'सत्यमेवजयते नानृतम्' इसी भावना की विस्तृत विभासना करते हुए श्री शास्त्री कहते हैं कि सत्य के पक्ष प्रतिपादन में किसी प्रकार का कोई भय नहीं ऐसी बुद्धिमानों की निश्चित धारणा है यद्यपि कभी कभी प्रायः असत्य की भी जय हो जाया करती है किन्तु वास्तविक शान्ति सत्य के पक्षधरों को ही मिलती है। असत्य पक्ष को नहीं अतः सत्य साधना ही सब के लिए अपेक्षित है:—

सत्ये नास्ति भयं क्वचिन्मतिमता मेधा ध्रुवा सम्मतिः।
मिथ्याचापि यथा तथा विजयते लोके परम् प्रायशः ॥
शान्तिः किन्तु न कापि तत्र मनसा सम्प्राप्यते सुस्थिरा।
शान्तिः सत्यरतैव भाति नितरां सत्यं ह्यतः सेव्यताम् ॥
(वि० ग्र० १४४-१७)

विचार शुद्धि का जीवन में अति महत्व है वैचारिक शुद्धता व सुष्ठुता से स्वतः ही सौख्य मिलता है। जिस व्यक्ति के विचार शुद्ध होते हैं उसके कर्म भी स्वतः ही शुद्ध हो जाते हैं तथा कर्मों की शुद्धता स्वास्थ्य की जननी है एवं स्वस्थ शरीर को ही गहरी अच्छी नींद आती है। अच्छी निद्रा पूर्ण स्फूर्ति की दाता है, तथा स्फूर्ति ही जीवन है, विपरीत इसके दुर्मति जन-लोक में क्षण भर भी किसी को सहन नहीं करता अतः सदैव बुद्धि की विमलता की रक्षा कर पाप रहित बनाना चाहिये.—

शुद्धा यस्य भवेद् विचार सरणिः कर्माणि शुद्धानि च।
स्वस्थोऽसौ भवति स्वतः प्रतिदिनं निद्रा च तस्य स्थिरा ॥

नेयं किन्तु सहेत दुर्मतिमहो कस्यापि लोके क्षणम् ।
तस्मात्त्वं सर्वथ ते सुविमलां बुद्धिं ह्यपापां भवे ॥
(वि० प्र० १४४-१८)

अपने समस्त भयों का मूल अपने मन की निर्बलता है और मन की निर्बलता ही अनेक व्यर्थ संशयों की जननी है अतः यदि हमारा मन शुद्ध व निर्मल है तो किसी प्रकार का भय मन में स्थान नहीं पा सकताः—

जानेऽहं सकलं भयं स्वमनसो नैर्बल्यमात्राश्रितम् ।
नैर्बल्यं मनसस्तयोद्‌गतमिदं तं रतं मृषा संशयैः
यस्तैः कोऽपि निर्मला यदि मतिः संरक्ष्यते साधकैः ।
भीतिः काचन तत्र नैव मनसि स्थानम्पुनः प्राप्नुयात् ॥
(वि० प्र० १४४-२०)

यह संसार अपने आप में न तो सुन्दर है और न असुन्दर ही अपितु अपने कार्यों के अनुसार ही इसकी सम्पूर्ण स्थिति है जैसे कि एक रुग्ण-पुरुष के लिए यह जगत् सर्वथा शून्य रूप है जबकि स्वस्थ के लिए सर्वथा सुन्दर एवं रमणीयः—

सर्वं शून्यमिवेह विकास-रहितं संदृश्यते रोगिणो ।
स्वस्थः सर्वमिदं च हृष्टमनसा हृष्टं जगत् पश्यति ॥
लोकोऽयं नहि तत् स्वयं सुखमयः दुःखाकरो वा क्वचित् ।
अस्मत्कर्मभिरेव सन्ततमयं तत्तत्-स्थितौ नीयते ॥
(वि० प्र० १४५-२१)

संसार को मुक्ति का सदन स्वीकार करते हुए श्री शास्त्री कहते हैं कि वास्तव में यह संसार ही एक मात्र मुक्ति का स्थल है क्योंकि इसमें जो जन सदा स्व कर्त्तव्य परायण रहते हैं उन्हें अन्त में स्वतः मुक्ति मिल जाती है.—

संसारः स्वयमेव मुक्ति-सदनं कश्चिन्न यद्दनान्यतो ।
येऽत्रे कर्मपरायणा जगति ते मोक्षान्विता हि स्वतः ॥
(वि० ग्रं० १४७-३७)

इस प्रकार जो माया मूर्खों को विमोहित कर उनके जीवन को दुःख-मय बना देती है वही माया दृष्टि की शुद्धि पर सत्य को उद्‌घाटित करने वाली होती है—

या माया विदधाति मूढमनसो मर्त्यान् महामोहिनी।
सा मह्यं सततं भवेद्धि सरला सत्यस्य चोद्भासिनी॥
(वि० ग्रं० १४७-३६)

अन्त में श्री शास्त्री कल्याण प्राप्ति का सही मार्ग प्रशस्त करते हुए कहते हैं कि यदि तुम कल्याण कामना करते हो तो अपने चित्त की संकीर्णता का त्याग करके सभी के प्रति बन्धुत्व की दृष्टि रखो:—

कल्याणं यदि भूतलेऽनवरतम् प्राप्तुं सखे ते स्पृहा।
संकोचं त्यज सत्वरं च कुरुते चेतो विशालम् परम् परम्॥
बंधुत्वेन यदीह पश्यसि जनान् प्रेम्णा हि सर्वान् हृदा।
मत्वा त्वामपि ते, स्वबांधववरं भक्ता भवेयुर्हि ते॥
(वि० ग्रं० १४८-४२)

मत्त लहरी

प्रतिपाद्य परिचय:—

मत्त लहरी श्री शास्त्री की एक मधुर व्यंग रचना है। इसमें आज की भौतिक वादी नव संस्कृति व सभ्यता जो कि मानव को पूर्णस्वच्छन्दाचरण की छूट देती है उस पर तीखा व्यंग है। धर्म की वर्तमान आडम्बरपूर्ण स्थिति व विद्वत् वर्ग में व्याप्त व्यर्थ अभिमान तथा समाज के अनेकानेक रुढ़िगत बंधन एवं तथाकथित दार्शनिकों के भ्रमपूर्ण जीवन दर्शन की आलोचना की गई है।

कवि ने "मत्त-लहरी" में विज्ञ पुरुषों द्वारा की जाने वाली गंभीर चिन्तन की प्रवृत्ति तथा सामाजिक बन्धनों का विरोध एक ऐसे माध्यम द्वारा कराया है जो स्वेच्छा पूर्वक जीवन यापन का पक्षपाती है'। उसकी दृष्टि में वही जीवन सच्चा जीवन है, जिसमें किसी प्रकार की चिन्ता व व्यथा न हो जीवन में आने वाली चिन्ताओं के निराकरण हम चाहे जैसे उचित-अनुचित उपायों से कर सकते हैं इसमें कोई पाप या अपराध नहीं हमारा लक्ष्य केवल मात्र सुखोपलब्धि होना चाहिये। इस प्रकार मत्त लहरी में भौतिकवादी विचारों की अभिव्यंजना एक मत्त सुरापायी से कराते हुए सुधी पाठकों के विचारार्थ इसे प्रश्न चिन्ह के रूप में श्री शास्त्री ने प्रस्तुत किया है।

५० पदों में रचित यह "लघु-कृति" अभिनव संस्कृत साहित्य में हिन्दी के मूर्धन्य कवि बच्चन की 'मधुशाला' तथा "उमर खयाम" की

रुबाइयों के समान ही एक नव प्रयोग है किन्तु इसकी पूरक-कृति "ग्रानन्द-मन्दाकिनी" को देखने पर इसकी रचना का कवि मन्तव्य स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक जीवन के खण्डन के लिए ही पहले उसकी प्रस्थापना मधुर शब्दों में की गई है।

व्यंजन कौशलः—

मत्त लहरी में स्थित मद्यप सभी जनों को मधु-पान के लिए ग्राह्वान करता है–कि बन्धुग्रों ! ग्राग्रो मैंने मन को उल्लसित करने के लिए एक नव शक्ति केन्द्र की स्थापना की है :—

ग्रायाहि बन्धो ! परिहाय खेदम् सद्यः समुल्लासयितुं मनस्ते।
संस्थापितः कोऽपि मयाऽद्वितीयः सुरालयोऽयं नवशक्ति-केन्द्रः॥
(वि० ग्रं० १४६-१)

मद्यपायी किसी से किसी प्रकार का द्वेष नहीं रखता। वह सब को निमंत्रण देता है और कहता है कि जो सुरा देवताग्रों को भी प्राप्त नहीं होती ग्राज उसे वह सबको समर्पित कर रहा है ग्रतः वे ग्रावें और उसका ग्रानन्द से पान करें:—

सुरासुरैस्त्वापि न या सुजन्या तां ह्येव कुर्वेह सुखेन लभ्या।
समर्प्यते स्नेहभृते हि सर्वं स्निग्धाः समायान्तु पिबन्तु कामम्॥
(वि० ग्रं० १४६-३)

हमारा जीवन स्थायी नहीं है यह क्षणिक है ग्रतः ग्रपनी मूर्खता से उसे व्यर्थ की बातों में समाप्त न करें ग्रपितु जो कुछ भी प्राप्त है उसे सरस बनावें:—

महत्कृपा लब्धमिदं कथंचित् दिन द्वयं क्वापि घटीं च याते।
तामेव कर्तुं सरसां स्वमौर्ख्यात् न चेष्टसे किं हृदयापमर्दिनम्॥
(वि० ग्रं० १४६-५)

यदि तुम्हें इस बात का भय हो कि सुरा के पान करने से तुम्हारा परलोक बिगड़जाएगा तो बन्धुग्रों ग्राग्रो ग्रौर उठ कर यह घोषणा कर दो कि स्वर्ग की सुधा वास्तव में यह सुरा ही है। सुरालय ही वास्तविक स्वर्ग है इसके ग्रतिरिक्त ग्रन्य कोई स्वर्ग नहीं:—

उत्थाय शीघ्रं खलु घोषये रतत् सुरैव नाके प्रथिता सुधेति ।
नाकश्च नान्योऽस्ति सुरालयान्मे लेशोऽपि दुःखस्य न यत्र कश्चित् ॥
(वि० ग्रं० १४६-८)

क्योंकि मधुशाला में नाम-मात्र को ही दुःख नहीं होता और संसार में यदि कोई रमणीय स्मृति है तो वह एक मत्त को ही होती है, क्योंकि एक मात्र मत्त ही अपने आप में मस्त होकर नाचने लगता है उसकी स्मृति में किसी प्रकार की कोई चिन्ता नहीं होती.—

मत्तंय काचित् स्मृतिरत्र रम्या चित्तप्रमत्तं हि यया स्वतः स्यात् ।
तुल्या तया काऽस्त्वपरा स्मृति नंः स्मृतौ स्मृतौ यत्र नचास्ति चिन्ता ॥
(वि० ग्रं० १४६-१०)

मत्त को अपनी स्मृति से प्रिय कोई स्मृति नही। अतः वह कहता है कि इस भूलोक को छोड़कर हमारे इस नये देश में आओ जिसमें कभी कोई भयभीत नही होता। अपितु सभी उसमें सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं:—

भूलोकमेनं परिहाय जीर्णम् अयस्व तद्देशमतो नवीनम् ।
भीतिं जना जातु न यान्ति यस्मिन् प्रफुल्लचित्ताश्च वसन्ति नित्यम् ॥
(वि० ग्रं० १५०-१२)

यदि तुम्हें समाज का भय है कि मद्यपान से समाज क्या कहेगा ? तो वह कहता है कि समाज से हमें डरना नही चाहिये क्योंकि समाज ही वास्तव में हमारे शोक और पाप का मूल कारण है वही हमें अनेकानेक व्यर्थबन्धनों में आवद्ध करता है जबकि इस "आपान-शाला" में हम सामाजिक-भावना का सही विकास पाते हैं क्योंकि यहां पर बड़े प्रेम के साथ मिलकर एक साथ सुधा पान करते हैं:—

शोकस्य मूलं प्रथमं समाजः पापस्य मूलं च स एव नित्यम् ।
यस्मिन् मियो बंधन-वृद्धिहेतो र्यत्नः समाजः स मतो जनानाम् ॥
आपानशालैव विकासयित्री स्थितेः समाजस्य-सुखप्रदाया ।
परस्परं प्रेमसुधा प्रकामम् समर्प्यते यत्र समादरेण ॥
(वि० ग्रं० १५०-१६,१७)

धर्म की चर्चा मधुशाला में नहीं होती क्योंकि अनेकानेक असत्यों के प्रसारण के अतिरिक्त धर्म कुछ नही करता:—

धर्मस्य चर्चा च सुरालयेऽस्मिन् क्षणाय कैश्चिन्न कदापि कार्या।
(वि० प्र० १५१-२८)

मद्यप की दृष्टि में वास्तविक धर्म वही है जो सौहार्द की वृद्धि करे और जिसका फल इस मर्त्य-लोक में ही प्राप्त किया जा सके:—

स एव धर्मो हि महान् मतो नः सौहार्द-वृद्धि नियतास्तु यस्मिन्।
प्राप्यं फलं यस्य च मर्त्यलोके न च प्रतीक्ष्या परजन्म-लब्धिः॥
(वि० प्र० १५१-२९)

तथाकथित धार्मिक जनों की भद्द उड़ाते हुए मद्यप कहता है कि जिसके मन और वचन में अन्तर होता है उनसे बढ़कर पापी कौन? जबकि हम बाहर और भीतर से एक रूप होते हैं अतः सच्चे धार्मिक हम ही हैं:—

अन्तस्तले किञ्चन भिन्नमेषाम् बहिश्च किञ्चित् पृथगेव नित्यम्।
तेभ्यः परः पापपरोऽस्तु कोऽन्यो वयं तु सर्वत्र सदैक भावाः॥
(वि० प्र० १५१-३१)

अतः लाघव की जन्मदात्री सुरा की उपासना सभी को करनी चाहिये जिससे जगत् में वे हर्ष के अनुपम प्रकर्ष का अनुभव कर सकें:—

जनैरतो नित्यमुपासनीया हृद्या सुरा लाघव-जन्मदात्री।
लभ्यो यतः स्यात् स्वयमेव कश्चित् हर्ष-प्रकर्षोऽनुपमो जगत्याम्॥
(वि० प्र० १५१-३६)

विद्वानों की गंभीरता पूर्ण चिन्ताओं पर कटाक्ष करते हुए उन्हें चतुर व चालाक बताकर उनके द्वारा प्रचारित सभी दर्शनों पर आघात किया है, मद्यप कहता है कि सांख्य में महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धि से ही सब विश्व का विकास बताया है। वहां इस विकास का नाम विकृति है और यह विकास बेचारे पुरुष को सदा बांध देता है:—

अनादिकालात् प्रकृति विधत्ते योगेन यस्याः पुरुषं भ्रमन्तम्।
विकारसर्गस्य विशिष्ट हेतोः बुद्धे विकासोऽभिमतः कथं ते॥
(वि० प्र० १५०-२३)

कवियों ने भावों में मुख्य भाव प्रेम रस को ही माना है और शुद्ध रूप से यह प्रेम मत्तों को छोड़ कर अन्य किसी में भी सुलभ नहीं:—

भावेषु मुख्यश्च रसेन्द्रवर्ती प्रेम्णो हि भावः कथितः कवीन्द्रैः।
विहाय मत्तान् न परत्र लभ्यः शुद्धो ह्ययं क्वापि सुधीन्द्र गोष्ठ्याम्॥
(वि० ग्रं० १५२-४८)

अन्त में वह मधुपायी सभी को पृथ्वी पर स्वच्छन्द स्वाधीन विचरण करने की सलाह देते हुए कहता है कि हमें किसी प्रकार के सामाजिक बंधनों को स्वीकार नहीं करना चाहिए और एक मात्र सुरापान से ही हम सब प्रकार से मुक्त हो सकते हैं:—

स्वाधीनाः स्वमनोऽनुकूल-रतयः सर्वे वसेयु र्भवे।
बद्धाः सन्तु न ते तथा प्रतिपदं सामाजिकै र्बन्धनैः।
भीतिः कापि विधेश्च नहि तान् भीतान् विधत्तां क्वचित्।
मुक्तानां समयोऽखिलः सुखमय श्चास्तां हि पानेन नः॥
(वि० ग्रं० १५३-५०)

आनन्द मन्दाकिनी:—

प्रतिपाद्य विषय:—

प्रस्तुत रचना मत्त लहरी की पूरक कृति है। उसके परिचय में निवेदन किया था कि "मत्त लहरी" में मद्यप के माध्यम से कवि ने आज के भोग परायण दूषित जन-मानस का निरूपण कर जिन विचारों का पोषण करते हुए हमारे सामने मद्यपान की महत्ता को प्रश्न चिन्ह के रूप में प्रकट किया है उन्हीं आरोपों का "आनन्द मन्दाकिनी" में निराकरण कर शाश्वत जीवन मूल्यों की प्रस्थापना की है। मद्यप का साथी वह अपर-जन जिसे वह अपनी मान्यताओं से अवगत कराता हुआ सुरापान के लिए आह्वान करता है एक सच्चामनोवेत्ता है। वह मद्यप की बात को ध्यान से सुनता है तथा उसके चिन्तन प्रवाह व भावनाओं का शालीनता से स्वागत करते हुए शनैः-शनैः उसकी समस्त मान्यताओं का मनोवैज्ञानिक विधि से बिना कष्ट पहुंचाये खण्डन करता है तथा इसके साथ ही वास्तविक जीवन मूल्यों की सही प्रकल्पना भी प्रस्तुत करता है। श्री शास्त्री की यह सिद्धान्त प्रतिपादन शैली वस्तुतः अति रमणीय व मौलिक है।

प्रतिपादन शैली:—

"मत्त लहरी" के मत्त की बातों को सुनकर उसका दूसरा साथी जो शान्त प्रकृति व सात्विक स्वभाव का था उसे प्रेम पूर्वक कहता है:—कि बन्धु तुमने अपने हृदय के जो विचार स्पष्ट रूप से प्रकट किए उन्हें सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। विद्वानों के मतानुसार दोष उस समय दोष नहीं रहता जब उसका स्पष्ट कथन कर दिया जाता है:—

दोषः स दोषो न मते बुधानां स्पष्टोक्ति-सौन्दर्य गुणोज्ज्वलोयः।

(वि० ग्रं १५४-१)

तथा यह बात भी सर्वथा सत्य है कि इस जगत् में मानव देह सदा सुलभ नहीं है तथा गुण भी दोषानुविद्धि ही है:—

सत्यं जगत्यां नहि मानवीय दिव्यं सदेदं सुलभं शरीरम्।
गुणाश्च ते ते बहुधात्र सर्वे दोषानुविद्धाः सहसा भवन्ति॥

(वि० ग्रं० १५४-२)

किन्तु तुमने जो मार्ग बताया है वह हितकर नहीं है। उस पथ का अनुकरण करने पर जगत् प्रसन्नता प्राप्त नहीं कर सकता:—

त्वयोपदिष्टेन पथा न किन्तु प्रसन्नता सा जगतीह लभ्या।

(वि० ग्रं० १५४-३)

क्योंकि तुम जिस सुरा की प्रशंसा कर रहे हो वह वास्तविक सुरा नहीं है उससे मन का क्षणिक विकास तो हो सकता है किन्तु स्थाई आनन्द की प्राप्ति नहीं.—

या ते सुरा सा न सुरा विशुद्धा क्षणाय यस्यां मनसो विलासः।
मुहूर्त कस्तत्र विहाय मुद्रान् क्षणद्वय यत्र रसानुभूतिः॥

(वि० ग्रं० १५४-८)

अतः आओ मैं तुम्हें एक दिव्य-रस का पान कराता हूँ जो कभी विरस नहीं होता तथा जिसका पान करने पर केवल तुम ही नहीं अपितु अन्य सब भी मुदित होंगे:—

आगच्छ दिव्यं पिब तन्मदीयम् रसं न यः स्यात् विरसः कदाचित्।
पानेन यस्याय न केवल त्वं परेऽपि सर्वे मुदिता भवेयुः॥

(वि० ग्रं० १५४-९)

तुम यह कहते हो कि दो पलों का जीवन है किन्तु वास्तव में जीवन दो पलो का नही अपितु यह जीवन यात्रा बड़ी लम्बी है इसका कभी भी अन्त होने वाला नही है और यह सदा पग पग पर बढती रहती है.—

विगाह्य चानन्तमपीह नान्तो यस्याः कदाचिद् भुवनेषु भावी।
पदे पदे सा परिवर्धमाना क्षणद्वयायैव न लोक-यात्रा ॥
(वि० प्र० १५४-५)

यदि तुम ससार को प्रसन्न देखना चाहते हो तो अपनी दृष्टि में स्नेह भावों का सचार करो, ऐसा करने पर तुम देखोगे कि क्षण भर भी यदि किसी ने तुम्हें देख लिया तो वह तुम्हारा हो जायेगा.—

स्नेहेप्रर्णां मधुरां च हृद्यां तामद्य संचारय मित्र-दृष्टिम्।
क्षणाय यः कोऽपि तयास्तु दृष्टः स एव जायेत तवानुगामी ॥
(वि० प्र० १५४-११)

तथा यदि तुम किसी की वास्तविक प्यास ही बुझाना चाते हो तो मरु-प्रदेश की गर्मी मे जलते हुए प्रदेश मे जाकर एक जल पियासा शान्ति केन्द्र (प्याऊ) खोलो जहा पर शीतल जल का पान कर क्लान्त पथिक तुम्हें आशीश देंगे.—

क्वचिन्मरौ तापमय-प्रपायां तदंक्ष शीतं मधुरञ्च वारि।
निपीय यत् पान्थिक-शीतलात्मा शुभाशिषां सत्स्रुतिमादधीत ॥
(वि० प्र० १५५-१२)

तुम्हारी इस नव शीतल जल रूपी सुरा का पान कर प्यास से तड़फते हुए पक्षियो के बच्चे, सूखे कण्ठ वाले मृग-शावक वहां आकर जो नृत्य दिखायेंगे उसमें तुम ही नही सारा जगत् आनन्द से मस्त हो जायेगा:—

निदाघ-दाहाकुलपक्षिपोताः प्रशुष्क-कण्ठा मृग-शावकाश्च।
आचम्य तां ते मदिराम्प्रसन्नाः किं किं हि नृत्यं न च दर्शयेयुः ॥
(वि० प्र० १५५-१३)

इसके अतिरिक्त यह विश्व तुम्हें अच्छा नहीं लगता है तो तुम अपने मनोऽनुकूल किसी ऐसे नव सर्ग की रचना करो जिसमें इस जगत् के दोष न हों:—

मनोऽनुकूलःस्व-विधिर्विधेयः सर्गस्य दोषाः परिमार्जनीयाः।
(वि० ग्र० १५५-२३)

तथा यदि तुम इस समाज में अनेक दोषों को देखते हो तो तुम्हारा यह कर्तव्य है कि इसके दोषों को दूर करो, उपेक्षा से दोष नहीं मिट सकते:—

स्वार्थेन पूर्णा विविधा हि दोषाः सर्वं समाजं यदि दूषयन्ति।
अपेक्ष्यते मार्जनमेव तेषाम् निपीय नैवां हि भवेन्निरोधः॥
(वि० ग्र० १५६-२४)

क्योंकि सामाजिक जीवन के बिना मनुष्य का काम नहीं चल सकता, एक साथ मिलने पर ही लोक यात्रा चलती है। एकता पर ही सर्व कार्य सिद्धि की सम्भावना है। यज्ञात्मिका यह जीवन-गति पारस्परिक सौख्य भावों पर ही आधारित है।

संभूय लोके भवतीह यात्रा संभूय सर्व—व्यवहार-सिद्धिः।
परस्परं भावय सौख्यभावम् यज्ञात्मिका जीवगतिः समाप्ता॥
(वि० ग्र० १५६-२५)

तुम्हें संसार की निन्दा नहीं करनी चाहिये क्योंकि इस अगाध संसार में न जाने कितने रत्न छिपे हुए है उनके पाने के लिए गहरे निमज्जन की आवश्यकता है निन्दा की नहीं:—

अगाध संसार समुद्र गर्भे गुप्तानि रत्नानि न कानि कानि।
निमज्जितं चेन्न तदाप्ति-हेतो-र्न निन्दनीया रचना विधातुः॥
(वि० ग्र० १५६-२६)

यदि तुम जीवन को दुखःमय मानकर विस्मृति की शरण में जाना चाहते हो तो इसका कारण यही है कि तुमने कभी कोई ऐसा पुनीत कार्य नहीं किया जिसकी मधुर स्मृति तुम्हें सदा आनन्द देती रहे:—

मन्त्रापि निन्दां कुरुषे स्मृतीनां कृतं प्रशस्तं किमु जीवने ते।
लोकोपकारेऽर्पितता त्वया चेत् स्मृतिः सदानन्दमयी हि तस्याः॥
(वि० ग्र० १५६-३०)

तथा तुमने जो विज्ञजनों की जो निन्दा की यह भी उचित नहीं क्योंकि विज्ञजन ही माया के बहु रूपों को ज्ञान दृष्टि से देखकर अपने साथ अपर

जनों को भी माया से विमुक्त करते हैं:—

विज्ञः स्वपाशांश्च परस्य पाशान् विच्छेद्य सर्वान् कुरुते विमुक्तान् ।
(वि० ग्रं० १५६-३४)

जिसमें सौन्दर्य का सार तथा पूर्ण उल्लास छिपा हुआ है ऐसी लघिमा तुम्हें प्रिय है वैसी ही अनिन्द्य गंभीरता मुझे प्रिय है क्योंकि गंभीरता से, रहित सरोवरों में तरगों की राशि क्षणिक रहती है:

गांभीर्य - हीनेषु सरोवरेषु-क्षणं तरंगालि-गति-विभाति ।
(वि० ग्रं० १५७-३६)

अन्त में कवि कहता है कि कर्मयोगी बनो और तुम्हें जो कुछ करना है उसे शीघ्र ही सम्पादित करलो क्योंकि यह काल कराल मदिरालय में दिया हुआ अपना समय वापिस नहीं देता। अतः तुम्हे वह मदिरा पीनी चाहिये जिससे मृत्यु भी मृत्यु को प्राप्त हो जावे और मर्त्य मानव जिसका पान कर अमर हो जावे तथा मन का स्वयं विकास हो जावे:—

मर्त्योऽपि येनामरतां प्रयातु मृत्युः स्वयं येन मृतो भवेत्तें।
सुरा हि साऽनन्दमयी मदीया पेयाऽद्यतत् सर्वसुखाभिरामा ।।
(वि० ग्रं० १५८-४८)

हिमाद्रि माहात्यम्

प्रतिपाद्य परिचय

'हिमाद्रि माहात्यम्' व्यास की कथा शैली में १२० अनुष्टुप छन्दों में रचित तथा चार अध्यायों में विभाजित कवि का एक कथात्मक लघु काव्य है इसके वक्ता श्री मदनमोहन मालवीय हैं। इसकी रचना के दो महत्वपूर्ण कारण व आधार हैं प्रथम जब इसकी रचना की गई उस वर्ष मालवीय महोदय की शताब्दी मनाई जा रही थी और दूसरा हमारे शाश्वत प्रहरी हिमालय पर उसी साल दुर्भाग्यवश चीन ने आक्रमण किया था। अतः कवि ने मालवीयजी के द्वारा हिमालय रक्षा के लिये भारतीयों का आह्वान व उद्‌बोधन कराना उचित समझा जो सर्वथा सामयिक व समीचीन था। श्री मालवीय भारतवासियों को हिमालय की रक्षा के लिये उद्‌बोधित करते हुए कहते हैं कि प्रत्येक भारत वासी का यह कर्त्तव्य है कि वह हिमालय के महत्त्व को

कभी न भूलें। भारतीय इतिहास में इसका महत्त्व सर्व विदित है। इसके कण कण में हमारे सहस्रों तीर्थ विद्यमान है। हमारे अनेकानेक प्राचीन महापुरुषों ने अपने जीवन के महान् लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए इस पावन-पर्वत राज पर कठिन तपश्चर्याएं की थी, एतदर्थ यह हम सब के लिए सदा सम्माननीय है।

अपने देश के सम्यक् उत्थान के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने दोषों को दूर कर गुणों का विकास करें, इसके लिए यह आवश्यक है कि दैनिक कार्यक्रम यम नियमानुसार व्यवस्थित एवं आचरित हो। सब प्रकार की सफलता के लिए शक्ति की समुपासना नितान्त आवश्यक है अतः हम उसकी उपासना करें एक ही शक्ति की नहीं अपितु तीनों ही शक्तियों काली, लक्ष्मी और सरस्वती (बल, अर्थ और ज्ञान) सभी को सिद्ध करें। तीनों शक्तियों की समन्वित साधना एवं जीवन में सात्विक वृत्तियों के अभ्युदय से ही इस देश का अभ्युदय संभव है और तभी हम विश्व रंगमंच पर अपना परम-पराक्रम प्रदर्शित कर सकते हैं।

विचार प्रस्तुति

नगराज हिमालय जो हमारे देश का अनादिकाल से प्रहरी ही नहीं अपितु रक्षक, पोषक तथा सब प्रकार से विकासक रहा है उसे शत्रु-राष्ट्र चीन से आक्रान्त देखकर कवि की आत्मा व्याकुल हो उठती है और वह अपने देशवासियों को सम्बोधित करते हुए कहता है कि वे हिमालय की शक्ति को क्यों भूल बैठे हैं? यह उसकी समस्त शक्तियों का रक्षक और पोषक तथा सदा से यह भारत भू के सौख्य का निधान है:—

एषः नः सर्वशक्तीनां पोषकः पालकस्तथा।
युगेभ्यो रक्षकोऽस्माकं सर्वसौख्य प्रदायकः॥
(हि० प्र० १८६-६)

जिन्हें हम भारत भू की माता कह सकते हैं ऐसी सब नदियां हिमालय से ही उद्‌गत हुई हैं तथा इस पर स्थित मानसरोवर झील में हमारे पूज्य पुरुष सप्तर्षि स्नान करते रहे हैं:—

देवनद्योऽत्र संभूताः मान्या भारतमातरः।
स्नान्ति सप्तर्षयः—ह्यास्मिन् नित्यं सरसि मानसे॥
(हि० प्र० १८६-७)

तपस्वियों की यह तपो-भूमि- सर्वथा शुद्ध एवं शुभ्र हिम से आवृत्त है तथा यह सब की शक्ति की सतत कामना करता है:—

तपस्विनां तपोभूमिः शुक्लः शान्तो हिमालयः।
युगेभ्योऽपेक्षते शान्ति लोके सार्वत्रिकों स्थिराम् ॥
(वि० ग्र० १८७-१२)

अतः प्रत्येक भारतीय का यह कर्त्तव्य है कि वह इसकी शुक्लिमा को कदापि कलुषित न होने दे। मालवीयजी के इन वचनों को सुन कर विक्षुब्ध श्रोता कहने लगे कि आज के भारत में तो इस महान् नगराज के प्रति ऐसा आदर भाव परिलक्षित नहीं होता। इस पर खिन्न होकर महामना ने कहा कि तपस्या के क्षीण होने से लोग अपनी संस्कृति को भुला देते है और अपने शास्त्रों का अभ्यास न करने से राष्ट्र का पतन हो जाता है:—

तपसां क्षीयमाणत्वात् विस्मृते-निजसंस्कृतेः।
स्वशास्त्राणामनभ्यासात् राष्ट्रमस्तं हि गच्छति ॥
(वि० ग्र० १८७-१८)

अतः राष्ट्र रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि हम सदा भागीरथ प्रयत्न करें:—

यत्नो भागीरथो नित्यं राष्ट्रभक्तैरपेक्ष्यते :
(वि० ग्र० १८८-२३)

पार्वती के समान ही ये पर्वत श्रेणियां ही हमारी मुख्य रक्षिका है, इनके बिना हम जीवित नही रह सकते:—

अस्माकं जननी मुख्या माता देवी हि पार्वती।
पयसाऽस्या वियुक्ताश्चेत् जीवितुं नैव शक्नुमः ॥
(वि० ग्र० १८८-२४)

फिर मालवीयजी कहते है कि सशक्त बनने के लिए गायों का पालन करो और उनके दुग्ध पान से अपने शरीर को सफल बनाओ क्योंकि दुर्बलता ही धर्म की घातिका है:—

गवां सेवा सदा कार्यात् पयः पानञ्च नित्यशः।
दुर्बला सततं दीना दौर्बल्यं धर्मघातकम् ॥
(वि० ग्र० १८९-५)

यह ठीक है कि अहिंसा परम धर्म है और साम-नीति सदा उत्तम नीति है किन्तु फिर भी समय-समय पर हिंसा भी धर्म का काम देती है और दण्ड नीति भी सबसे उत्तम नीति होती है:—

अहिंसा परमो धर्मः सामनीतिश्च शोभना।
काले काले क्वचित् हिंसा दण्डनीतिश्च सेव्यते॥
(वि० ग्रं० १८६-६)

किसी दुष्ट के साथ मैत्री मत करो तथा नीति निर्धारण में सदा दूरदर्शिता दिखाओ, किसी पर भी अति विश्वास मत करो और अविश्वासी पर तो विश्वास करने का प्रश्न ही नहीं।—

शठैः सम्पादिता मैत्री प्रायशः प्राणहारिणी।
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नाति विश्वसेद्॥
(वि० ग्रं० १६०-११)

राष्ट्र पर यदि कोई शत्रु आक्रमण करता है तो उसका कारण यही है कि हमारे स्वयं के दोष बढ़ जाते हैं, अतः सर्व-प्रथम उन्हें ही दूर करना आवश्यक है—

स्वदोषा एव लोकेऽस्मिन् शत्रवः प्रबला मताः।
ते ह्युत्पाताः पुरा सम्या संहेया मूलत-स्तराम्॥
(वि० ग्रं० १६२-४)

हम इस समय विश्व शांति की बात करते हैं किन्तु दुनिया निर्बल की बात नहीं सुनती, सशक्त ही विश्व शांति करा सकते हैं—

विश्वशान्ति—कृते नित्यं शक्ति-रेव गरीयसी।
विना शक्ति बुवाणानः वार्ता काञ्चिन्न शृण्वते॥
(वि० ग्रं० १६२-८)

मालवीयजी इसके लिए भी खिन्न है कि भारत इस मायान्मय जगत् के साथ समय-समय पर मायावी नहीं बनता और कुछ क्षणों के लिए आकुल होकर फिर शान्त हो जाता है राष्ट्र-रक्षा के लिए इस नीति को बदलना होगा। सज्जनों को तो सज्जनता से वश में किया जा सकता है किन्तु दुष्टों को वश में करने के लिए दण्डनीति परम आवश्यक है—

सज्जना वशमायान्ति सत्कार्यैश्च सदाशयैः ।
अनार्या दस्यवो वश्याः दण्डेनैव हि दुर्जनाः ॥
(वि० ग्र० १९३-१७)

यदि भारत अपने स्वरूप को फिर से समझले तो यह पुनः सब प्रकार से शक्ति सम्पन्न हो सकता है। इसका आत्मबल और मनोबल बड़ा उन्नत है यहां की नारी भी अति शक्ति रूपा है:--

प्रसिद्धा भारती नारी दुष्टदर्प विमर्दिनी ।
शक्तिरूपा स्वभावात् सा रणे चण्डी भयंकरी ॥
(वि० ग्र० १९६-४)

अन्त में मालवीय जी ने उपदेश दिया है कि प्रत्येक भारतीय प्रतिज्ञा करे कि उसके जीते कोई भी हिमाद्रि को दूषित नहीं कर सकेगा:--

संकल्पः प्रत्यहरतस्मात् ग्राह्यो भारतजै-र्जनैः ।
नैवदेशः शत्रैः कैश्चित् तेषु जीवत्सु दूष्यताम् ॥
(वि० ग्र० १९८-२४)

शाकुन्तल विज्ञानम्

परिचय प्रस्तुति

कालिदास के विश्वप्रसिद्ध शाकुन्तल नाटक में घटित घटनाओं की पृष्ठ-भूमि पर आधारित इस लघु कृति की रचना श्री शास्त्री ने 'कालीदास काव्य मञ्जरी' नामक अपने कालीदास की कृतियों के संग्रह की भूमिका में 'शाकुन्तल नाटक की आलोचना-क्रम में' की। तत् पश्चात् इसे काव्य के रूप में विकसित कर स्वतंत्र कृति के रूप में प्रकाशित किया। इसमें उपर्युक्त घटनाओं के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और प्राकृतिक कारणों को कवि ने अभिव्यक्त किया है। रचनाकार की मान्यता है कि शाकुन्तल नाटक में प्रेमपूर्ण वातावरण की अपूर्व क्षमता है। यद्यपि कवि की यह पूर्णकालिक ५० पद्यों की एक लघु रचना है, किन्तु भाव व्यंजना व आलंकारिक चित्रण की दृष्टि में बड़ी सशक्त तथा प्रभावपूर्ण है।

भाव व्यंजना

कृति के प्रथम श्लोक में ही श्री शास्त्री जी कहते है कि कालिदास ने

अपने इस नाटक में जिस प्रेम-दृश्य को चित्रित किया है वह प्रेम संसार में अद्वितीय है। इसमें खग, मृग, वृक्ष, नर तथा नारी सब समान रूप से पारस्परिक प्रेम में मग्न दिखाई देते हैं:—

प्रेक्ष्यं क्व तादृक् मनुजेन दृश्यं प्रेमैव यस्मिन् विकसेत् समन्तात्।
खगामृगा मानव पादपाद्याः परस्परं यत्र समान भावाः॥
(शा० वि०-१)

इस शान्त प्रेमाश्रम में सभी का जीवन शान्त था और सभी लोग अपने अपने नियत कर्मों को करते हुए सदा सुख पूर्वक रहते थे:—

सुखं व्यतीयु र्विपिने दिनानि वृक्षप्रसेकैः कुसुमोच्चयैश्च।
तीर्थाभिषेकैः श्रुतिचिन्तनैर्वा मनोऽपि विश्रान्ति सुखं सिषेवे॥
(शा० वि०-२)

परन्तु इस आश्रम में जब आश्रम धर्म के विरोधी हिंसा के भाव से युक्त मृगया करता हुआ एक पौर (नागरिक) आता है तो आश्रम का समस्त वातावरण बदल जाता है —

शान्ति प्रधाने 'निजरूपमत्ते' तस्मिन्नरण्ये निभृतं स्थितेऽपि।
कुतोऽपि हिंसारसमुग्धवृत्तिः पौरः परं कश्चन सविवेशः॥
(शा० वि०-३)

तपोवन के निवासियोंने राजा को रोका और कहा कि मृगों को बाणों से आहत मत करो परन्तु राजा ने वहां पर मृगों के स्थान पर मृगनयनी शकुन्तला को ही आहत कर दिया। इस अधर्म के कारण आश्रम में एक प्रकार का विप्लव हो गया और स्वाभाविक विकास के स्थान पर वहां चिन्ता और विस्मृति ने स्थान ले लिया अर्थात् शकुन्तला को राजा भूल गया और शकुन्तला केवल चिन्ता मग्न हो गई।

दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला के प्रेम का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि नदी का प्रवाह अन्य सब तीरों को छोड़ कर एक तीर पर आ गया था किन्तु केवल संयम के उपासक दुर्वासा के शाप से नदी के उस प्रवाह को नदी ने भी शरण नहीं दी —

विहाय सर्वानितरप्रदेशान् नदी प्रवाहस्तटमेकमायात्।
नाप्ता परं केवलमयमेन तेनापि तीरेण न लालिता सा॥
(शा० वि०-८)

जब धर्म और काम में पारस्परिक संघर्ष होता है तो सर्व प्रथम धर्म की रक्षा करनी चाहिए। धर्म पराश्रित काम गति सफल होती है उससे रहित होने पर भयंकर शोकजनक बन जाती है:—

धर्मस्य कामस्य तथोपमर्दे धर्मस्य रक्षा प्रथमं विधेया।
यदाश्रिता कामगतिः फलाय भीमाय शोकाय च यद् विहीनः॥
(शा० वि०-१०)

इसके अतिरिक्त जो लोग अपनी शक्ति में मत्त होते हैं ऐसे लोग दूसरों की व्यथा की परवाह नहीं करते, वे केवल अपने स्वार्थ की सिद्धि में ही सफल होते है। दुष्यन्त इन शक्तियों से मत्त होकर शकुन्तला को भूल गया, किन्तु सच्ची बात यह है कि जो वस्तु युगों की साधना के पश्चात् प्राप्त हो सकती है उसे लोग क्षण भर में पाने के लिए विकल हो उठते हैं तो वहा भयकर प्रमाद होना स्वाभाविक है। इसी परिप्रेक्ष्य में हम देखते है कि प्रेम की प्राप्ति अत्यन्त त्याग और तपस्या के फलस्वरूप ही संभव है। प्रेम प्राप्ति की अभिलाषा अमूल्य रत्नों और मधुर मुस्कान मात्र से ही पूर्ण नही होती:—

धैर्येण धातुः कृपया कदाचित् त्यागैः तपोभिः परिपूर्यते या।
न पूर्यते सा मनसोऽभिलाषा रत्नैरमूल्यैर्मधुरैः स्मितैर्वा॥
(शा० वि०-१३)

इसके पश्चात् कवि कहता है कि परम त्यागी पुरुषों में भी वात्सल्य भाव का अभाव नहीं होता मुनिजन अन्य रसों का तो परित्याग कर सकते हैं किन्तु उनसे वात्सल्य रस नहीं छोड़ा जा सकता:—

वनेऽन्न किं कोऽपि वने गृहे वा वात्सल्य भावः प्रकृति स्वभावः।
अन्यान् रसान् भूरि विशोधयन्तः न तेन शून्या मुनयोऽपिलोके॥
(शा० वि०-१५)

शकुन्तला जब दुष्यन्त के दरबार में पहुँची तो राजा धर्मासन पर बैठा हुआ था, इसलिए उसके रूप पर मुग्ध होकर भी धर्म की भीति से और पुत्र से रहित होकर भी उस गर्भवती भार्या का वरण नहीं किया। अर्थात किसी को भी अपने आप किसी के प्रति समर्पण नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसे समर्पण से संशय उत्पन्न होता है। अतः जब शकुन्तला का परित्याग

किया जाता है तो कवि इस प्रकार के लोक प्रपच की निन्दा करता है। लोक प्रपच के लिए कवि का कथन कि यह सब मिथ्या बातों पर आश्रित है यह लोगो को गलत मार्गों पर चला देता है इसमें विडम्बना के अतिरिक्त कुछ भी नही —

मिथ्यावलारेण विमार्गनेत्रा विडम्बनासार मतेन नित्यम्।
लोकप्रपचेन विसर्जिताऽपि सालौकिकं तापसवाससमापे ॥
(शा० वि०-१८)

उसके बाद लोक प्रपच से दूर आश्रमो का वर्णन है इसके पश्चात् कवि विद्याधर कहता है कि तपोवन के सौन्दर्य की रक्षा तपोवन ही कर सकता है। हिमालय के पास बहने वाली गगा नगरो के पास पहुंच कर अपने सब सौन्दर्य को खो बैठती है:—

तपोवनाद्धा तरभा सदाया तपोवनेनैव विपोषणीया।
हिमालयारण्यवहा हि गगा न 'शोभते' पत्तन पार्श्ववाहा॥
(शा० वि०-२०)

आश्रमो में पृथ्वी के कोई पाप नही रहते। इसके बाद जब शकुन्तला के भरत पैदा होता है तो कवि का विचार है कि स्मरण करे या न करे प्राकृतिक नियम यह है कि जब कभी किसी के साथ मेल हो जाता है तो मनुष्य उसको याद करता ही है और सन्तान के रूप में उसको अभिव्यक्ति देता है। दो हृदयो का पारस्परिक मिलन ही पुत्र के रूप में प्रकटित होता है। उसके उपरान्त होने पर किसी प्रकार का भेद नही रह सकता, उसके दर्शन में माता-पिता फिर नहीं रह सकते वहा प्रकृति और पुरुष का स्वाभाविक सम्बन्ध हो जाता है.—

द्वयोर्हृदोर्मेलनमेव सुनु: यस्मिन् प्रजाते बचनु कोऽपिभेदः।
तद्दर्शनात्तत्पितरावभिन्नौ सर्गे पृथक् नो प्रकृते हि यस्य: ॥
(शा० वि०-२३)

अन्त में शाकुन्तल के समस्त तत्वो का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि शकुन्तला में प्रवृत्ति और निवृत्ति भोग और योग प्रकृति और विकृति त्याग और राग सब एक साथ रहने वाले बन गये हैं:—

प्रवृत्तिमार्गोऽथ निवृत्तिमार्गं भोगश्च योग: प्रकृति पुरो च।
त्यागोऽथ रागोऽनुपमो जगत्यां शाकुन्तलायां सहजौ प्रजा तौ॥
(शा० वि०-२५)

अलिदुर्ग दर्शनम्

प्रतिपाद्य तथा रचना दृष्टि:—

सन् १९५६-५७ में श्री शास्त्री ने राज्य सेवा से निवृत्त होने पर उत्तर प्रदेश के प्रसिद्ध नगर अलिगढ़ में वारासनेय महाविद्यालय में संस्कृत विभागाध्यक्ष पद पर कुछ समय कार्य किया था। वहा जाने के पूर्व कवि ने कल्पना की थी कि यह नगर हमारे देश के उन बड़े नगरों में से एक है जिनका साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक दृष्टि से बड़ा महत्व है। अतः निश्चय ही यहां का समस्त वातावरण बड़ा रमणीय होगा। पास ही कृष्ण की लीला भूमि व्रज है, विशाल "विश्वविद्यालय" है अतः वहा के नागरिको की उन्नत साहित्यिक रुचि होगी। विद्वानों का अच्छा सम्मेलन स्थल होगा। बड़ा व्यापारिक स्थान तथा मुस्लिम धर्मावलम्बियो का सम्मेलन स्थल होने के कारण बड़ा स्वच्छ सुन्दर व हरा भरा होगा। किन्तु वहा जाने पर कवि के मन को बड़ी निराशा हुई। न तो साहित्यिक वातावरण मिला न स्वच्छता व सुन्दरता ही। शास्त्री जी ने सोचा था कि छोटे-छोटे उद्यानों में मधुओं की मधुर-गुंजार सुनने को मिलेगी किन्तु मिली गन्दी गलियों मे भटकते व दौड़ते सूकरो की हुरहुराहट। सौहार्द के स्थान पर कटुता तथा साहित्यिक अभिरुचि का तो नाम भी नहीं। अलीगढ़ के दर्शन की इस विचित्र अनुभूति को रूप दिया श्री शास्त्री ने 'अलिदुर्ग दर्शनम्' में। अनुष्टुप छन्द मे रचित श्लोको की इस रचना में कवि ने यथा तथ्य वर्णन किया है। इस वर्णनात्मक कृति का पूर्वार्द्ध उक्त महाविद्यालय की वार्षिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था।

रचना प्रस्तुति:—

अलीगढ़ के समीपस्थ ग्रामाञ्चलों में नित्य प्रति कुछ न कुछ लोकोत्सव चलते ही रहते हैं। उन्ही का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि मैं अपने मित्रों की कृपा से वहा नित्य प्रति कोई लोकोत्सव (मेले) तथा तथा उनमें लगने वाली प्रदर्शनियों को देखा करता था जो बड़ी रम्य हुआ करती थी।

सुहृदां कृपया नित्य नित्यं किंचन् दृश्यते।
दृष्टा मेलापका केचित् तुष्टा स्याता प्रदर्शनी॥

क्वचित् काष्टस्य संभारे क्वचित् वेश्मस्व संकुला।
क्वचित् नाना विधैः शिल्पं स्ततस्ते क्रीडा रसैरतथा॥
(अलिदुर्गदर्शनम्-२६-२७)

मुस्लिम विश्वविद्यालय के कारण ज्ञान विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में अत्यन्त प्रबुद्ध व व्यक्तित्व वाले विचारशील विशाल हृदय मनीषियों की विद्यमानता की अपेक्षा करने वाले शास्त्री जी को भारतीय या मुस्लिम किसी भी सभ्यता या संस्कृति विशेष के सुष्ठु स्वरूप का दर्शन नहीं होता है। साहित्यिक मण्डली और सांस्कृतिक कला केन्द्रों की अपेक्षा वहां सद्विधा के प्रभाव का अभाव ही परिलक्षित होता है.—

नातः परस्पर काचित् स्थिरा साहित्य मण्डली।
संस्कृति पेक्ष्यतो नित्यं यत्र साहित्य जीवने॥
विद्या क्षेत्रे विद्यालेऽपि विशालं नास्ति तत्फलम्।
सद् विद्याया प्रभावेण वर्धते सात्विकी मतिः॥
(अलिदुर्गदर्शनम्-५१,५२)

निष्कर्ष:—

चिन्तन पक्ष की प्रधानता के कारण इन कृतियों के भाव व वैचारिक पक्ष ही विशेषरूप से विवेच्य रहे। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इनका कला पक्ष प्रभावशाली व सशक्त नहीं है। चूंकि कला पक्ष में भाषा, शैली, छन्द और अलंकारादि की प्रमुखता होती है और कवि के इस पक्ष पर पूर्व दो महाकाव्यों में पर्याप्त विवेचन हो चुका है। अतः विस्तार भय से इस विषय में इतना ही निवेदन है कि इन कृतियों की भाषा अपने भावों की गरिमानुकूल प्रसाद व माधुर्य गुण समन्विता है। तथा अनुष्टुप, शिखरिणी, उपजाति, उपेन्द्रवज्रा और इन्द्र वज्रा आदि छन्द एवं अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा तथा काव्य लिंग व अन्योक्ति आदि अलंकारों की योजना भी सहज व स्वाभाविक है। इस प्रकार इनका कला पक्ष भी सर्वतो भावेन सशक्त एवं समुन्नत है।

यद्यपि ये काव्य कृतियें अति लघ्वाकार है किन्तु फिर कवि ने इनके विषय वस्तु की प्रतिपादना में जिस त्वरा निरूपण कौशल दिखाया है यह त्वरा वर्णन विधा संस्कृत जगत् के अभिनव साहित्य सर्जकों के लिए दिशा बोधिका होगी। विश्वास है कि श्री शास्त्री की इस नवीन वर्णना को नव सर्जक स्वीकार करेंगे।

प्रकीर्ण गीतिकाएं

महाकाव्य तथा लघुकाव्य कृतियों के अतिरिक्त श्रीयुत शास्त्री की अनेक स्फुट रचनाएं भी सामयिक विषयों पर विभिन्न अवसर विशेषों पर रचित मिलती हैं। यद्यपि उनका समग्र सम्पादन अभी मुद्रित नहीं हुआ है किन्तु उनमें से कुछेक रचनाएं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। इन प्रकीर्ण पदों की सम्पूर्ण सूची तो बड़ी लम्बी है किन्तु उनमें से 'तर्को विश्वासश्च', 'शाश्वती काव्य धारा', 'न नैर्बल्यं कदाचन', 'जाने न दोः कथमेवनश्येत्', 'सर्वोऽपि सर्वस्य भवेत् सुबन्धुः', 'विपृच्छा', 'विश्व-भारती', 'उद्बोधनम्', 'प्रेम प्रकृति', 'चिन्ता परित्याग', 'राकाविहार', 'समुद्र', 'भग्न हृदय', 'काव्योद्भूतिः', 'किंजिवत्तुरेमानव', 'चिन्तमाद्य' तथा 'पुनः प्रभावी प्रखरो विधेयः' आदि प्रमुख हैं।

इन प्रकीर्ण रचनाओं में कवि ने अपने मौलिक चिन्तन के द्वारा नाना विषयों के उज्जवल पक्ष को उद्भासित किया है। कवि की जीवन के प्रति दार्शनिक दृष्टि उनमें भी पूर्ण सशक्तावस्था में ही प्रस्फुटित हुई। जीवन में निराशा और दैन्य का कोई नाम नहीं होना चाहिए तथा हम अपने प्राचीन गौरव के अनुरूप ही वर्तमान और भविष्य का निर्माण करें। ऐसे भावों की गुंफना ही आपके प्रकीर्ण पदों में उपलब्ध है।

कुछेक प्रकीर्ण पदों का व्यंजन वैभव प्रस्तुत है.—तर्क का बुद्धि के विकास के लिए तथा सत्य के उद्घाटन में जो विशेष महत्त्व है वह तो सर्व-विदित है किन्तु जहां विश्वास और तर्क की समता व अन्तर का प्रश्न आता है वहां विश्वास का स्थान व महत्त्व तर्क से बढ़ कर है। श्री शास्त्री ने 'तर्कोविश्वासः' शीर्षक अपनी रचना में तर्क की विपुल शक्ति को स्वीकार करते हुए विश्वास की महत्ता प्रतिपादित की है:—

तर्केण वेत्तुं गहनं रहस्यं कि कोटमे संशय नष्ट बुद्धे।
विवेक गर्व कुरुते वृथैव प्रमा यथार्था न जने जगन्याम्॥

चूंकि तर्क का सम्बन्ध बुद्धि से होता है और बुद्धि परिस्थिति विशेष से प्रभावित होने के कारण कब तथा किस रूप में परिवर्तित हो जाए पता नहीं:—

क्षणे नवे क्रोध पराक्षणे च लोभेन लुब्धा गत चेतना च।
क्षणे क्षणे या परिवर्तमाना रूपं न किं किं लभते महीया॥

"शाश्वती काव्य धारा" शीर्षक मे कवि ने काव्य सृष्टि के विचित्र विधि विधानो की अपूर्व व्यंजना की है। काव्यधारा के प्रवाह रूप का हम कवि गिरा में अनुभव करते हैं:—

निनादयन्ती सततं स्व वीणां मूका कदा तिष्ठति किन्तु वाणी।
स्वरा कदा वा स्वरतां न यान्ति नित्यं प्रमत्ता प्रकृति स्वभावे॥
मौनेऽपि नादोऽनुपमो जगत्यां शुष्के रसः कोऽपि विलक्षणश्च।
योगे वियोगे जगतिः समाना दृष्टि विशाला कविता विधेया॥

इस विचित्र साहित्य सृष्टि में धनी और गरीब चेतन और अचेतन में कोई भेद नही तथा अधीनता तो इसमें विधाता की भी नहीं स्वीकारी जाती:—

न यस्य लोके धनिनो धनस्य न चेतना चेतनयोश्चभेदः।
साहित्य सृष्टि पृथकेव काचित् नाधीनतां गच्छति सा विधातुः॥

'सर्वोऽपिऽसर्वस्य भवेत् सुबन्धु' के माध्यम से कवि ने वैदिकभावना 'सहनाववतु सहनौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै' की भावना का विभावन किया है:—

वित्तेन चित्तं रच करं करेण स्कन्धेन स्कन्ध मुपवाह्य नित्यम्।
सर्वोऽपि सर्वस्य करोतु सेवाम् सर्वोऽपि सर्वस्य भवेच्च बन्धुः॥

प्रेमास्पदों को प्रेम प्राप्ति के लिए अति धैर्य व प्रतीक्षा रखनी पड़ती है अतः अपनी 'प्रेम प्रकृतिः' शीर्षक प्रकीर्ण गीति में शास्त्री जी कहते हैं:—

त्वरो मा भव मित्र कर्म न हि तत् तत्काल साध्यं भवे।
प्रेम्णोलक्षणमेव 'धैर्यसहिता शान्ता प्रतीक्षा यतः॥

जीवन में सतत प्रवाह गति से विपरीत स्थितियों मे भी मनुष्य को उत्कर्षशील बने रहना चाहिए। न जाने कब और किस परिस्थिति में अनुकूलता की प्राप्ति हो जावे, क्योंकि इस सृष्टि के रहस्य को कोई नहीं जानता:—

को जानाति कदा हि कर्दम तलात् जायेत् कः पङ्कजः।
कस्माद्दुर्दिन काल-चक्र निलयात् वृष्टि सुधा वर्षिणी॥

इस प्रकार मंजुल तथा मौलिक भावो से समन्वित श्रीयुत् शास्त्री द्वारा 'प्रकीर्ण पद' भी विपुल मात्रा मे रचे गये हैं।

□□□

स्तवन तथा नीति काव्य कृतियां

(क) स्तवन काव्य

विश्व-विकास की कहानी संत्रास जन्य है। मानव अपने जन्म से लेकर अवसान पर्यन्त संत्रासों से त्रस्त रहता है। ये संत्रास कभी उसके स्वयं के निर्मित होते हैं तो कभी प्रकृति प्रदत्त। कभी कभी वह उनसे अति भयाक्रान्त होकर जीवन में पलायन वृत्ति स्वीकार कर लेता है तो कभी बड़े आत्मविश्वास व दृढ़ संकल्प से उन पर विजय भी पाता है किन्तु जब वह अपने आपको शक्ति-शून्य अथवा असहाय पाता है तो अपने चिन्तनशील स्वभाव से उस महान् शक्ति के साथ तादात्म-स्थापित करने का प्रयास करता है जिस विश्वेश्वर ने इस विश्व की सरचना की है और यह समस्त लीला चक्र जिससे चालित है। तादात्म्य-स्थापन के अनेक मार्गों में उस महान् शक्ति के समक्ष भक्ति-भावना के साथ स्वयं को समर्पित करना एक सरलतम मार्ग है जिसे हम भक्ति मार्ग के नाम से अभिहित किया करते हैं। विह्वल व विचलित मानव अपने आप को जिन व्यंजनाओं के द्वारा ईश के समक्ष समर्पित करता है वह अभिव्यक्ति अथवा अभिव्यंजना ही स्तवन है।

हमारा संस्कृत का "स्तवन साहित्य" विश्व के स्तवन साहित्य में अपनी अनन्य शरणागतिकता, विश्व जनीनता तथा दार्शनिक गांभीर्य के लिए प्रसिद्ध है। इसकी परम्परा वेद से लेकर आज तक अजस्र व अबाध गति से अनेक आधुनिक रूपों में परिवर्तित व परिवर्द्धित होती हुई प्रवहमान है। 'वैदिक ऋषियों के स्तोत्रों में जहां प्राकृतिक देवी देवताओं से सुख व समृद्धि आदि ऐहिक कामना पाते हैं वहां पौराणिक युग में रचित स्तवनों

शिव, विष्णु, राम और कृष्णादि अवतारों के समक्ष भक्तको समर्पण भावना व्यंजित हुई है। वही स्तोत्र साहित्य शंकराचार्य तक पहुंचते पहुंचते उपर्युक्त वर्ण्य विषयों के साथ दार्शनिक अनुभूतियों से भी समन्वित हो जाता है। अपने आराध्य देव के आदर्शों के अनुरूप राष्ट्र का चरित्र निर्माण करने में स्तोत्रों का बड़ा महत्व है।[1]

अर्वाचीन स्तोत्र साहित्य में उन सब का समन्वित रूप सन्निहित है। अभिनव स्तोत्रो में आत्म निवेदन, पद माधुर्य, अलकार, काल्पनिक उड़ान तथा दार्शनिक दृष्टि प्रभृति-स्तोत्र साहित्य की अनेक विशेषताओं के अनुसरण के साथ जिस रूप में उपास्यों की स्तुति मानव जीवन की चित्र-विचित्र अनुभूतियो तथा विभिन्न प्राकृतिक दृश्यों का मनोहारि चित्रण मिलता है, यह उसकी अपनी मौलिकता है।

श्रीयुत् शास्त्री की सरस्वती स्तवनादि प्रकीर्ण प्रस्तुतियों के अतिरिक्त स्तवन साहित्य विषयक तीन कृतियां प्रकाशित हैं (१) शिव पुष्पांजलि, (२) सूर्य स्तवन तथा (३) लीला लहरी। इनमें से प्रथम दो रचनाओं मे केवल २१-२१ श्लोक ही है किन्तु लीला लहरी में १०० श्लोक हैं। "ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय" की विद्वत्समिति ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है। पूना के विद्वान श्री पी० के० गोडे आदि भारतीय मनीषियों की दृष्टि में यह स्तवन रचनाओ मे अप्रतिम है और उन्होंने इसे 'शाश्वत प्रेरणाओं से परिपूर्ण रचना माना है' नि.सदेह यह रचना उच्च प्रेरणाओं की प्रसारिका ही है। इसमें हमारी जिन दैनिक समस्याओं का एक सामान्य संकेत मिलता है उन सबका समय समय पर प्रत्येक प्रबुद्ध-जन अपने जीवन में अनुभव भी करता रहता है। कवि के अनुसार 'इन आवश्यकताओं की पूर्ति और अनुभूति के क्षेत्र मे किसी तरह के आस्तिक और नास्तिक अथवा भौतिक एव आध्यात्मिक दृष्टिकोण का भेद नही हो सकता। हृदय में जो भाव और जैसा विश्वास हो अहंकार शून्य होकर उसको उस रूप मे ही व्यक्त कर देना प्रार्थना का ध्येय होता है'। डा० मदन केवलिया के अनुसार 'नि.संदेह लहरी का एक एक श्लोक मनन व अध्ययन करने योग्य है'।[2] इस प्रकार लीला लहरी में शास्त्री जी के स्तवन भावों का चरम विकास है।

१: डॉ० रामजी उपाध्याय : 'संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' —पृ०-६८

२. मधुमति १९६७—'भारती मन्दिर के मौन साधक प० विद्याधर शास्त्री' पृ०—८८

अब अग्रिम पृष्ठों में आलोच्य स्तवनकार के स्तवन गुच्छों की सुरभि का आनन्दानुभव व पर्यालोचन उसके स्तवन विकास क्रमानुसार प्रस्तावित है:-

शिव पुष्पांजलि

सामान्य परिचय

श्रीयुत् शास्त्री की यह प्रथम स्तवन रचना ही नहीं अपितु समस्त रचाओं में प्रथम प्रकाशित कृति है। इसका प्रकाशन सन् १६१५ ई० में हुआ था। इस स्तोत्र कृति का रचना प्रकार किसी प्रचलित स्तोत्र शैली की अपेक्षा एक भिन्न विधि का है। इसमें अपने इष्टदेव के प्रति पौराणिक पद्धति अथवा अन्य भक्ति परक भावों को प्रकाशित करने वाले श्लोकों के स्थान पर कवि का अपना नव्य कल्पना कौशल मिलता है। इसमें न तो किसी एक ही छन्द का प्रयोग है और न ही इष्टदेव के साकार अथवा उसके किसी आध्यात्मिक स्वरूप की कल्पना विशेष ही है। इसकी रचना कवि अपने किसी अभिन्न मित्र (जो शिव का परम उपासक था) की मनोकामना पूर्त्यर्थ की थी। इस प्रकार एक सरस्वती के वरद पुत्र के भावोन्मेषों से एक सुहृद के इष्ट लाभार्थ यह रचना सामान्य होते हुए भी कवि के कवित्व की उद्गमिका होने के कारण अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। २१ श्लोकों की इस पुष्पाञ्जलि में द्रुत-विलम्बित, उपजाति, शार्दूलविक्रीडित और शिखरिणी आदि छन्दों के साथ प्रचलित गजल व कव्वाली शैली का प्रयोग भी कवि ने किया है।

भाव व्यंजना

इस रचना में स्तवन का कोई क्रमिक विकास नहीं है। प्रथम दो श्लोकों में प्राकृतिक सौन्दर्य से समन्वित हिमवान पर्वत व मानसरोवर में वास करने वाले शिव से रक्षा करने की प्रार्थना अवश्य है किन्तु बाद के श्लोकों में ऐसा लगता है कि कवि की कल्पना ने स्वच्छन्द विचरण करना प्रारम्भ कर दिया है।

चतुर्थ श्लोक में कवि शिव से पूछता है कि हे भगवन् आपको 'ङ'युक्त नाम वाली सभी वस्तुएं प्रिय हैं, जैसे अर्धाङ्गिनी, गङ्गा, भुजङ्ग, तथा भङ्ग आदि तो फिर बेचारे 'अनङ्ग'के'ङ्' ने ऐसा कौनसा पाप किया था जिसे आपने भस्म कर दिया ?

अर्धाङ्गिनी ङ्गेन युताऽथ गङ्गा मङ्गा-भुजङ्गे च युतस्तथायं।
किं दूषणं तस्य पुनस्त्वनङ्गे-यद्भस्मसात् त्वं कृतवान् कुरङ्गम् ॥
(वि० ग्रं० १६३-४)

किन्तु फिर पचम श्लोक में कवि स्वयं ही इसका समाधान पा जाता है और कहता है कि दुष्ट सत् चिन्हों से युक्त होने पर भी दुष्टता का परित्याग नही करते। अतः उसके लिए दण्ड अनिवार्य ही है:—

न दोषभाक्त्वं परमत्र वाच्यः दुष्टा यतः सज्जन-चिन्ह भाजः।
नालक्षिताः कुत्र-चिदत्र दुष्टा दण्डार्पिनो दण्डभृतः सदा स्युः ॥
(वि० ग्रं १६३-५)

इस प्रकार हमारे कवि का बाल-कवि मन अपनी कल्पना कल्लोलो से उड़ान भरता हुआ शिव से उसकी अपनी प्रिय लीला-भूमि भारत की दयनीय दशा निवारणार्थ प्रार्थना करते हुए उसे उपालंभ देने में भी नही चूकता और कहता है कि—सम्पूर्ण जीव लोकों के कल्मष को नाश करने की क्षमता रखने वाले शिव आप हमें मद, मोह और माया आदि से मुक्त करते रहते हैं किन्तु अन्यों के लिए सतत जागरूक आप अपने स्वदेश की उन्नति तथा अपने गृह प्रबन्ध के विषय मे इतने उदासीन क्यों रहते हैं? फिर हमारा हास्य प्रिय कवि भोले शिव के भोलेपन की तथा भगवान विष्णु के स्वागतार्थ तत्परता तथा व्यग्रता-जन्य असावधानी स्थिति का चित्रण कर अपनी विचित्र कल्पना शक्ति का परिचय देता है। भगवान् शिव विष्णु के आने पर उनके स्वागतार्थ शीघ्रता मे अपने कौपीन में पाश के स्थान पर नाग को बाँध कर उनकी अगवानी करने जाते हैं किन्तु वहा गरुड़ को देखकर नाग खिसक जाता है और शिव नग्नावस्था को प्राप्त हो जाते हैं.—

समायाते विष्णौ पशुपतिरगात् स्वागत कृते।
गुबद्धा कौपीनं विषधर-गुणे कृत्ति वसने ॥
गरुत्मन्तं दृष्ट्वा भय विचकितः कम्पित तनुः।
महानागो यातः सच परम-नग्नोऽभवत् सदा ॥
(वि० ग्रं० १६४-११)

इस प्रकार इस स्तवों मे कवि का ध्यान भक्तिभावो की अपेक्षा कल्पना के उड़ान पक्ष की ओर ही अधिक है तथा रचनाकार की प्रारंभिक

रचना होने के कारण इसके कलापक्ष का स्वरूप भी सामान्य ही है। भाषा और भावों की सहजता है। एक प्राथमिक रचना की दृष्टि से यह पूर्णतः सफल कृति कही जा सकती है।

सूर्य स्तवन

सामान्य परिचय

यह रचना भी "शिव पुष्पांजलि" के साथ ही प्रकाशित हुई थी। इसकी रचना भी उसी मित्र की इच्छा पूर्ति एवं प्रेरणा से की गई। इसमें तोटक, द्रुत, विलम्बित तथा शिखरिणी आदि छन्दों में २१ श्लोकों में सूर्य की स्तुति व्यंजना है। इसमें भी "शिव पुष्पांजलि" के समान किसी प्रकार का समर्पण भाव अथवा भक्त हृदय की कोमल क्षीण-वृत्ति का प्रदर्शन नहीं है, कवि की रचना प्रक्रिया का प्रारम्भिक रूप होने के कारण ऐसा होना अस्वभाविक भी नहीं।

भाव व्यंजना

कवि ने अपने प्रारम्भिक श्लोकों में सविता के दिव्य व प्रखर तेजस्वी रुप का ध्यान व उसके शाश्वतिक स्वरूप की गरिमा का प्रतिपादन तो किया ही है जिसे हमारे वैदिक मंत्र द्रष्टाओं ने "गायत्री" आदि गुरुमंत्रों में किया है किन्तु उसमें हम इनकी कल्पना की मौलिक उड़ान नहीं पाते किन्तु हां, एक प्रसग जिसमें असूर्यापश्या स्त्रियों से सम्बन्धित है जो वस्तुतः सर्वथा नवीन उद्‌भावना लिये हुए है। भारतीय नारियों के लिए हमारा मध्यकालीन इतिहास एक कल्मषकाल रहा है जिसमें मुगल संस्कृति के प्रभाव के फलस्वरूप उन्हें चार दीवारी में हमने बन्द कर दिया और उन्हें छिपाया, इतना छिपाया कि वे सूर्य को भी न देख सके और न सूर्य ही उन्हें देखे। कवि ने इसी ओर सकेत करते हुए कहा है :—

जो लोग "असूर्यम्पश्या" स्त्रियों की प्रशसा करते हैं ऐसे लोग जड़-बुद्धियों को भी विद्वानों की कीर्ति से युक्त मान बैठते हैं। विद्याधर ऐसी स्त्रियों को अधन्य मानता है क्योंकि दिनकर की किरणों से वंचित रहने के कारण वे कभी भी विकसित नहीं हो सकतीः—

असूर्यम्पश्या या जगति वनिता तासु ललिताः
वदन्त्येवं ये ते कथमिह जड़ाः प्राप्त यशसः

अधन्यास्ता मन्ये दिनकर हृतो या विरहिताः
क्षणं नास्मिंल्लोके कदमपि कदाचित् विकसिताः
(सूर्य स्तवन श्लो. ११)

इस प्रकार इन दोनों स्तवन कृतियों में कवि की कल्पना की प्रारम्भिक रूप-व्यंजना का प्राथमिक प्रयास तथा भाषा के विभासन का शैशव रूप देखने को मिलता है जो अपनी बाल-सुलभ-सौम्यता व सरलता लिए हुए है।

लीला लहरी

सामान्य परिचय

"शिव पुष्पांजलि" और "सूर्य स्तवन" के रूप में स्तोत्र रचना की ओर प्रवृत्तिशील श्रीयुत् शास्त्री का स्तवन् अभिनव स्तवन काव्य जगत में एक नव्य प्रभा व विभा के रूप में विकसित होता है। उसका उन्नत व उज्ज्वल रूप हम "लीला लहरी" में पाते हैं। इसमें स्तोता का स्तवन प्रकार ५-७ श्लोकों को छोड़कर जिनमें स्पष्ट रूप से महिम्नस्तोत्र के श्लोकों की छाया है, स्वतंत्र शैली और नव्य कल्पना व दार्शनिक चिन्तन दृष्टि पर आश्रित है। १०० शिखरिणियों से समन्वित इस स्तवन भक्ति रचना का प्रत्येक छन्द व पद अपने नव्य नवीन भावों से प्रदीप्त है। इसमें "विश्वेश्वर" के जिस रूप और उसकी रचना तथा उसकी पालन और संहार प्रक्रिया के साथ जीवन के अनेक रहस्यों और गहन समस्याओं के समाधान का गम्भीर प्रयास सरल व प्रसाद-मयी भाषा में प्रस्तुत किया है वह अप्रतिम है। श्री शास्त्री का यह प्रयास अनेक स्थलों पर उच्च दार्शनिक भूमि पर पहुंचने के साथ-साथ जीवन की गहराई की दार्शनिक व तात्विक विवेचना करता हुआ उसके सम-विषम द्विविध एवं नानाविध रूपों का व्यापक चित्रण प्रस्तुत करता है। इस लघुकाय कृति में कवि ने ईश्वर और उसकी सृष्टि के विचित्र चक्र को २३ शीर्षकों में समझने व समझाने का कवित्वमय प्रयास किया है।

रचना दृष्टि

लीला लहरी की रचना में कवि की प्रवृत्ति एक विशेष लक्ष्य दृष्टि लिये हुए है। वैसे इसकी रचना किसी एक काल खण्ड में न होकर दीर्घ

कालीन की चिन्तन-प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप हुई। कवि का छव दर्शन अद्वैत वेदान्त के अभिनव प्रहरी व प्रचारक स्वामी रामतीर्थ से विशेष प्रभावित है। इनके जीवन प्रसग में ओंकारोपासना मे हम इसका उल्लेख भी कर चुके हैं। अतः ऐसे प्रबुद्ध चिन्तक की स्तवन रचना का लक्ष्य उसकी गरिमा के अनुरूप ही होगा। परमब्रह्म परमात्मा के साथ साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले भारतीय हृदय की प्रार्थना स्वभाव से परम विशाल एवं परम विश्वास पूर्ण होती है। 'प्रार्थना की सार्थकता इसी में है कि वह अपने विश्वास मे अचल हो और जिसकी प्रार्थना की जा रही है वह प्रत्यक्ष रूप मे प्रार्थयिता के सम्मुख उसकी प्रार्थना को सुनता हुआ प्रतीत हो'-श्री शास्त्री ने इस विषय में लहरी के भूमिका भाग में स्पष्ट लिखा है :—

'सा प्रार्थना या हि विधाय लोकः सद्यः स विश्वास सुखं।
विर्मात प्रभु प्रसन्नश्च दयार्द्र-चेताः स्वयं स्व हस्तं जन मूर्ध्निधत्ते ॥
(लीला लहरी भू० पृ० ३)

हमारा आज का वैज्ञानिक जगत् भी प्रार्थना के इस स्वाभाविक प्रभाव से वंचित नही रह सकता क्योंकि आत्म विज्ञान ही विश्व का सबसे महत्तम विज्ञान है, जो विज्ञान और दर्शन का सर्वोपरि द्रष्टा होता है वही व्यक्ति वास्तविक रूप से जीवन और जगत के रहस्य को जानकर मानव जीवन की सफलता का अनुभव अपने जीवन मे कर सकता है। जगत् के प्रत्येक कण-कण में व्याप्त सत्ता का आलोक देखकर प्रत्येक क्षण उससे अपने आपको आलोकित कर सकता है। मानव के मनोयोग व उसके आत्म-विकास के लिए इस अज्ञात सत्ता के आश्रय की नितान्त आवश्यकता है। इस आश्रय के आश्रित होने पर वह परम तत्व स्वतः ही मनुष्य का मार्ग प्रशस्त करता है।

श्रीयुत् शास्त्री ने "लीला लहरी" मे इस अमृत व परम तत्व के प्रति मानव के स्वाभाविक आकर्षण और उसके साथ होने वाले आकस्मिक मनोयोगाभ्यास की तरंगो का ही एक चित्रांकन किया है। इस विषय में स्तवनकार ने स्पष्ट लिखा है कि प्रस्तु लहरी मे 'अनादिकालीन भारतीय साहित्य स्तोत्र रूपी सनातन सगीत (Eteranal Song of India) की स्वर लहरी से लहराता हुआ आ रहा है। इस सामान्य लहरी में उस सनातन गीत की श्रुति तो दुर्लभ है, परन्तु इसमें हमारी उन दैनिक समस्याओं और अभ्यर्थनाओं का एक सामान्य सकेत अवश्य मिलता है जिसका अनुभव समय समय

पर प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में करता रहता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति और अनुभूति के क्षेत्र में किसी तरह के आस्तिक और नास्तिक अथवा भौतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण का भेद नहीं हो सकता। हृदय में जो भाव हो और जैसा विश्वास हो अहंकार शून्य हो कर उसको उस रूप में ही व्यक्त कर देना प्रार्थना का प्रधान ध्येय होता है। लहरी में सरल से सरलतम शब्दों में इन्हीं भावों को निवेदित करने का प्रयत्न किया गया है।

इस प्रकार स्तवनकार ने अपने इस स्तवन काव्य की रचना दृष्टि में उस महत् शक्ति के प्रति अपने विश्वमानस के अहंकार शून्य यथातथ्य को ही निवेदित करने का लक्ष्य रखा है और निःसंकोच यह स्वीकारा जा सकता है कि स्तोता अपनी इस स्तवन प्रक्रिया में पूर्णतया सफल काम भी हुआ है।

लहरी का प्रतिपाद्य

अभिनव संस्कृत साहित्य की श्री वृद्धि करने वाले श्री विद्याधर शास्त्री की रचनाओं में 'लीला लहरी' एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त महान् स्तवन काव्य कृति है। इनमें लहरीकार ने अलक्ष्य लक्षय की अज्ञेयता, उसकी प्रत्यक्षानुभूति और उसके द्वैविध्य के वर्णन के साथ साथ मानव की जीवन समस्या, अशान्त जगती, एवं अहंरूप व्याधि, आधुनिक पतित जीवन एवं असन्तोष का विशद् चित्रण कर अन्त में सृष्टि की पूर्णता, अभिनव आशा और अपनी नव आशंसा के साथ जिन आत्म समर्पण के भावों को अभिव्यक्त किया है वे अद्वितीय हैं। "महिम्नस्तोत्र" और "गंगा लहरी" की उच्च दार्शनिक भूमिका में पहुँचने के साथ सरलता को फिर से आस्वादित करा देने वाली इस लहरी के शिखरिणी छन्दों में प्रस्फुटित कवि के उपर्युक्त भावों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह स्तोत्र अपने उपास्यदेव जगदीश्वर के सगुण स्वरूप वर्णन की अपेक्षा उसके साथ एकात्म-सम्बन्ध स्थापित करना अधिक उचित समझता है।

सर्व प्रथम 'स्तुति सौख्यम्' शीर्षक के अन्तर्गत स्तवनकार ने विभु के स्तवन गान से मिलने वाले अपूर्व आत्मानन्द की पीयूष पान मधुर मादकता से समता कर उसके रसिकों की भावातीत मन:स्थिति का द्योतन किया है। तत्पश्चात् उस अज्ञेय विभु की महती अज्ञेयता का चित्रण करते हुए 'अज्ञेया गति:' चिन्तन में यह स्पष्ट और महत्रूप से स्वीकार किया है कि अज्ञेय

को ज्ञेय रूप में परिगिणत करना मर्त्य मानव के लिए कदापि संभव नहीं है। अतः उसका अनुभव व दर्शन तो उसके द्वारा रचित इस सृष्टि विधान के प्रत्यक्ष दर्शन के माध्यम से अनुभव गम्य ही हो सकता है। 'प्रत्यक्षानुभूतिः' चिन्तन में श्री शास्त्री ने इसी प्रकार की अनुभूति अभिव्यंजना पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की है। ईश्वर के विराट रूप और विराट सर्जन का व्यापक रूप हम इस विशाल जगत् में ही देख सकते हैं। यह जगती ही उसकी विशाल रंगस्थली है अतः कवि ने 'विशाल रंगस्थली' में जगत् के व्यापक स्वरूप व उसकी गरिमामयी महिमा से हमें परिचित कराया है।

कवि अद्वैतवादी है, अतः जब वह इस रंगस्थलिका पर उस अद्वैत-ब्रह्म के अनेक रूप विधानों को विविधरूप-रूपान्तरों में अवलोकित करता है तो पहले कुछ विचलन अनुभव करता है किन्तु फिर उस अनेक रूप-रूपाय में एक रूपता स्वीकार कर उसके 'द्वैविध्य' स्वरूप की सत्ता की भी सार्थकता स्वीकार करता है, किन्तु इसके बाद रचनाकार जागतिक–जीवन की जीवन-समस्या से परिचित कराता हुआ अनुभव करता है कि यद्यपि एकही परम पिता की हम सब प्रिय सन्तानें हैं किन्तु अपने स्वय के दूषित-दृष्टि-कोणों से अपने आप में अनेक समस्याओं से सदा आवृत्त हो जाते हैं और निरन्तर न जाने एक भ्रमित के समान क्यों और कैसे इस पावन सृष्टि को दूषित करते रहते हैं?

यह पावन पुरी ईश्वर निर्मित है और मानव इसकी पावनता को सतत दूषित कर रहा है, अपनी अनेक न तृप्त होने वाली ऐषणाओं से आसक्त-जन ने इस शान्त जगती को अशान्त बना रखा है। कवि को इस बात का अति खेद है कि ईश्वर यह सब देखता हुआ भी क्षीर सागर में शान्तिपूर्ण निद्रा में लीन है। अतः अनेक उपालंभ उन्हें देता हुआ रचनाकार इस जगती के परिपूर्ण रूप को देखता हुआ उसके सम्यक् और सुन्दर स्वरूप की कल्पना 'परिपूर्ण सृष्टि' में प्रस्तुत करता है। यह परिपूर्ण सृष्टि जिसमें सात्विक भावों की सरिता सतत प्रवाहित होती रहती है कवि को अति प्रिय है किन्तु इसे और भी अधिक सुन्दर और शिव रूप में परिणित करना चाहता है। एतदर्थ 'नवीना व्यवस्था' के अन्तर्गत वह कुछेक आचार नियम इसकी रमणीयता एवं सात्विकता प्रस्तुत करता है। किन्तु वह इस बात से भी अच्छी प्रकार से भिज्ञ है कि सभी प्रकार के पतनों का मूल व हेतु अहंकार ही है। यह कभी भी मानव मन को कलुषित कर नवीन सृष्टि की कल्पना को धराशायी कर सकता है अतः 'अहरूपो व्याधिः' शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तुत

विचारों से इस दूषित अहं से आत्म-रक्षण की चेतावनी देता हुआ वह आज पतित-मानव की दयनीय स्थिति पर करुणा के अश्रु 'अद्यतनः पतितो मानवः' में बहाता है। मानव केवल अहं व्याधि से ही आज त्रस्त एवं ग्रस्त नहीं है अपितु उस पर अनेक पिशाचिनी-तृष्णाओं ने आधिपत्य जमा रखा है। जबतक वह इन दुरित-चरितागना रूपी ऐषणाओं से मुक्त नहीं होगा तब तक उसमें विशुद्दर्शन क्षमता उत्पन्न नहीं हो सकती। अतः वह मनुष्य के अवगुणों को उससे दूर करने के लिए उसे प्रेरित करता हुआ सद्गुणों व सदाचार ग्रहण का आह्वान करता है, एतदर्थ वह सम्यक् शान्ति के जनक 'सन्तोष' प्राप्ति के लिए प्रेरणा देता है किन्तु इसके साथ ही कवि मर्त्य मानव के काल की अविगत गति से परिचित कराने के लिए 'भीमा काल-गतिः' विचार शीर्षक में काल के अप्रत्याशित आक्रमण से बचने के लिए उसे पूर्व में ही आगाह कर देता है। फिर भी यदि मानव अपने आपको इन अज्ञान तिमिर से मुक्ति पाने में असमर्थ अनुभव करे तो हमारा अभिनव स्तवनकार ने अपने प्राचीन ऋषि महर्षियों की तेजस्वी वाणी "तमसो मा ज्योतिर्गमय" के वैदिक उद्बोधन द्वारा प्रेरित कर मानव को ज्ञान, कर्म और उपासना की त्रिवेणी-संगम में भाव स्नान कराने की प्रेरणा दी है। ज्ञान, कर्म और उपासना की समन्वित साधना के फलस्वरूप जीवन-जगत् में किसी भी प्रकार का अभाव नहीं रहता। अतः 'अभावस्याभाव' के माध्यम से यह उद्बोधन देता हुआ रचनाकार 'आशा सूत्रम्' के स्वर्णिम विचार सूत्रों का रक्षा बन्धन बांध कर निर्भय होकर विश्व की शुभ कामना 'आशंसा' वचनों में करता है इन आशंसा वचनों से ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे स्तवन कार को अपनी वास्तविक तथ्यानुभूति हो गई है तभी वह 'नास्ति तत्वम्' से ईश्वर के सम्पूर्ण सत्ता का प्रत्यक्ष अनुभव कर उसे 'मातृभावः' शीर्षक में मातृशक्ति के रूप में स्वीकार कर स्वयं का आत्म-समर्पण 'आत्मसमर्पणम्' में कर देता है। सम्पूर्ण समर्पण के पश्चात् मातृ-शक्ति की सारस्वती शक्ति का उसमें उद्भव होता है और वह सरस्वती के शिव, सत्य और सौम्य रूप का अनुभव करता हुआ अन्तिम निवेदन 'उप-निवेदनम्' में इन शब्दों से अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता है।

सुखं किं नो भुक्तं तव सुखमये शान्तिसदने।
न किं किं विज्ञातं धनममनुभूतं न च नवम् ॥
सुखं दुःखे दुःखं पुनरपि सुखौघे परिणतम्।
तथाप्यन्ते दृष्टा परमिह न काचिद् विरसता ॥
(य० प्र० १८२-९१)

श्रीयुत् शास्त्री यहां गहराई के साथ एक प्रश्न भी उठाते हैं कि प्रत्येक ज्ञाता उस बात को ही जान सकता है जो उसके स्वभाव के अनुकूल हो किन्तु तुम्हारा स्वभाव और तुम्हारी गति-विधियां मानव स्वभाव से सर्वथा भिन्न व विलग है। अतः हमारे लिए तुम्हारा परिज्ञान कैसे संभव व ग्रहण हो सकता है? क्योंकि तू निरन्तर निरीह और शान्त है जबकि हम अनिश्चय नाना प्रकार के भयों, चिन्ताओं और कामनाओं से विचलित हैं। हम प्रति-पल काम क्रोधादि दोषों से घिरे रहते हैं और अनिश्चय हमारी बुद्धि प्रकृति के गुण दोषों से परिपूर्ण रहती है। तू सर्वथा प्रकृति से परे है। इस परिस्थिति में हमारे स्वभाव के साथ तुम्हारे स्वभाव का कोई भी मेल नहीं बैठता तो हमारी बुद्धि तेरे को समझने में कैसे समर्थ हो सकती है—

अनन्तास्त्वन्मार्गा विविधविषमो यामि कतमम् ।
न जाने तन्मूढ़ः सरलसरलं चेन्न दिशसि ॥
यमेवालम्बे वा भव सहचरस्तत्र सहसा ।
मयान्वेष्टुं शक्यो नहि कथमपि त्वं युगशतैः ॥

(वि० प्र० १६८-१०)

कवि फिर व्यग्र होकर कहता है कि वह कहीं पर तो स्थिर दिखाई पड़ता है और कहीं पर अपने सम्पूर्ण रूप में क्षणिक दृष्टि-गोचर होता है। कहीं पर उसकी प्रतीति व अनुभूति शून्य रूप में होती है तो कहीं प्रकृति के साथ आह्लाद स्थिति में आभासित होता है, अतः कवि इस अज्ञात सत्ता से कहता है कि कुछ विद्वानों की दृष्टि में कभी तुम अपने एकही रूप में विकसित होकर दिखाई देते हो तो कहीं अन्य रूप में, किन्तु मेरी दृष्टि में तो तुम वैसे हो भी और नहीं भी हो तथा कुछ न होकर भी सर्वत्र विद्यमान तथा विभासित व आभासित हो। किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी उस व्यापक विभु का कोई निश्चयात्मक स्वरूप व स्थिति का अवबोधन नहीं हो सका। उसके स्वरूप के सम्यक् परिज्ञान के लिए अब तक न जाने कितने प्रयत्न हुए हैं, इसी ओर कवि संकेत करता हुआ कहता है:—हे प्रभो तुम्हारे अनुसंधान में क्या युगों के युग नहीं बीत गये ? न जाने कितने प्रयत्न हुए हैं मैं किन किन का वर्णन करूं किन्तु हे वरप्रद ! क्या क्षणमात्र भी तुम अपने वास्तविक रूप में कभी आभासित हुए ?

व्यतीता साहस्री ननु नहि युगानयां न कियती।
कियन्तो वा यत्ना ननु नहि कृतास्त्वां मृगयितुम् ॥
तथापि त्वं दृष्टः क्षणमपि भवे केन भगवन् ।
सदैवादृष्टो यः प्रविशसि दिशो नः प्रतिदिशम् ॥

(वि० प्र० १६६-१२)

इस प्रकार हमारे स्तवनकार ने जीवन व जगत् और उसके नियन्ता की अति निकटता व दूरिता, शिव और अशिव सुन्दर और असुन्दर रमणीय और रौद्र इन सभी स्वरूपों की एक साथ अतिसुन्दर अभिव्यंजना "लीला लहरी" में प्रस्तुत की है जिसका अभिनव संस्कृत साहित्य की स्तवन काव्य विधा में अपने नवीन शिल्प कौशल व मौलिक ऊहात्मक उद्भावनाओं के कारण सम्माननीय स्थान है।

दार्शनिक भक्त श्री शास्त्री, अनन्त की इस अनन्त लीला को देखकर चकित है। वह यह अनुभव करता है इस लीला का विधायक विदित और अविदित अवस्था में सर्ववन्द्य है तथा न जाने कौन स्तवनकार को उस ओर अभिप्रेरित कर रहा है:—

अनन्तेयं लीलाललितलहरी यस्य वितता।
स कः सर्ववन्द्यस्त्वमसि विदितस्चाप्यविदितः॥
अज्ञातन्त्वं तन्मां स्तवमिमुरवैवोन्नयति यत्।
अलक्ष्यं तल्लक्ष्यं किमपि तव नित्यं विजयते॥
(वि० प्र० १६७-१)

यह अलक्ष्य ईश्वर सर्व व्यापक एवं नित्य है उसकी सत्ता को निषेध करने का किसी में सामर्थ्य नहीं है क्योंकि वह विभु सर्व व्यापक है अतः उस परमतत्व को किसी एक रूप में कैसे संकुचित किया जा सकता है:—

निषेद्धुं कः शक्तो जगति तव सत्तामिह विभो।
त्वमेकस्मिन् रूपे कथमिह समाकुञ्चतु परम्॥
(वि० प्र० १८०-८०)

ऐसे अनन्त सत्ता सम्पन्न सर्व व्यापक विभु के स्तवन सुख की गरिमा अनुपम व अद्भुत है। स्तुतीकार इसी अनुपमता को निरूपण करते हुए कहते हैं कि प्रभो तेरी यह स्तुतिमयी मदिरा कितनी सशक्त व प्रबल है इसका पान करने पर या करते समय जराक्रान्त शान्त तपस्वी भी जिसका सम्पूर्ण जीवन-क्रम ज्ञानरूप हो गया है वे भी इतने स्वराधान हो जाते हैं कि संसार की सारी मान मर्यादा को विस्मृत कर बैठते हैं। तुम्हारी स्तुती में तवलीन होने पर जिस विह्वल स्थिति को वे प्राप्त होते हैं वह विह्वलता अनुपम है:—

अहो केयं हृद्या प्रबलमदिरा त्वत्स्तुतिमयी।
जराजीर्णानां या स्थिरतमुनीनामपि मनः॥
हठादाकर्षन्ती सपदि च नयन्ती विवशताम्।
विपत्ते सर्वास्ताम् निजपरपरिवर्तांश्च नितराम्॥
(वि० प्र० १६७-२)

कवि की दृष्टि में यह पृथ्वी और उसका यह पार्थिव मानव दोनों ही धन्य है, जिनको इस भगवत् स्तुती और सौख्यानुभूति का अपूर्व अवसर इस पृथ्वी पर प्राप्त होता है। सभवतः स्तुति में लीन एक भक्त की आनन्दानुभूति के समक्ष जगत् के किसी भी आनन्द की तुलना नही की जा सकती, जो भक्त हैं वे ही इस तादात्म्य स्थिति में पहुंच कर उसे जान सकते हैं। उस स्थिति का चित्रण करते हुए कवि कहता है—यह पृथ्वी धन्य है, जिस पर रहकर हम निरन्तर भगवत्-स्मरण के अमृत का पान कर सकते हैं। अखण्ड शान्ति से परिपूर्ण इस आनन्द के समक्ष जगत् का कोई भी आनन्द इस कोटि में नही पहुंच सकता। जब भक्त इस तादात्म्य स्थिति में पहुंचता है उस समय उसे अपने पराये का भान नही रहता:—

धरा धन्या सेयं यदूपरि वसन्तो वयमिह।
पिबामः कामं त्वत् स्मरणसुधापीयूषमनिशम् ॥
जगत्यामानन्दः सम इह परस्तेन ननु कः।
यमेत्यायं प्राणी स्मरति हि निजात्मानमपि न ॥
(वि० प्र० १६७-४)

इसके बाद कवि इस विधाता की अज्ञेयगति पर चकित होकर प्रश्न उठाता है कि यदि तू निर्गुण है तो गुणों का ज्ञान कैसे हो सकता है और यदि तू सगुण है तो तेरे अनन्त गुणों की गणना कैसे हो सकती है? जब कि तू किसी भी रीति से मानव के मन और वाणी का विषय नहीं है। इस परिस्थिति में तेरे पास पहुंचने का कोई भी मार्ग तब तक कैसे मिल मिल सकता है जब तक तू स्वयं अपने आपको अगम्य होकर भी गम्य न बनाले:—

कथंकारं ज्ञेया अथ तव गुणा निर्गुणतनोः।
अगण्यानां तेषां भवतु गुणिनः का च गणना ॥
अवाच्ये वाचाम्या गतिरपि कथं स्याद् गति परे।
अगम्यो गम्यस्त्वं स्वयमिह न चेदत्र भवसि ॥
(वि० प्र० १६८-७)

श्रीगुरु शास्त्री यहां गहराई के साथ एक प्रश्न भी उठाते हैं कि प्रत्येक ज्ञाता उस बात को ही जान सकता है जो उसके स्वभाव के अनुरूप हो किन्तु तुम्हारा स्वभाव और तुम्हारी गति-विधियां मानव स्वभाव से सर्वथा भिन्न व विलग है। अतः हमारे लिए तुम्हारा परिज्ञान कैसे संभव व सहज

हो सकता है ? क्योंकि तू निरन्तर निरीह और शान्त है जबकि हम प्रतिक्षण नाना प्रकार के भयो, चिन्ताओं और कामनाओं से विचलित हैं। हम प्रतिक्षण काम क्रोधादि दोषों से घिरे रहते हैं और प्रतिक्षण हमारी बुद्धि प्रकृति के गुण दोषों से परिपूर्ण रहती है। इस परिस्थिति में हमारे स्वभाव के साथ तुम्हारे स्वभाव का कोई अंश नही मिलता तो हमारी बुद्धि तेरे को समझने में कैसे समर्थ हो सकती है ?

निरीहं त्वां शान्तं विविधभयचिन्ताहृतधृतिः।
विधानवतं षड्भिः प्रबलतमदोषैररभिवृतः॥
कथं ज्ञातुं शक्तः प्रकृतिरहितं प्राकृतमतिः।
स्वभावद्भिन्ने हि प्रसरति न भावे मतिगतिः॥
(वि० ग्रं० १६८-८)

आगे कवि कहता है कि मैं तो मनुष्य हूं मेरे लिए तो मनुष्य की कथा जानना भी कठिन है। मानव जीवन निरन्तर विचार तरगों से ग्रस्त-मन की चपल गति से चलायमान और सुख दुःख से व्यग्र रहता है मनुष्य स्वभाव से ही चंचल, संशयशील व असत्यमुखापेक्षी होता है ऐसी स्थिति में इस स्वभाव द्वारा सत्य और शिव रूपी तुम्हें कैसे देख सकता हूं ?

मनुष्योऽहं जाने मनुजनिकथामेव कठिनाम्।
मनोवीचिव्रातैर्विचलितगति द्वन्द्वमुखराम्॥
असत्यैः पूर्णैवा प्रकृतिचपला संशयमयैः।
कथं पश्येत् साथ किमपि तव भावं शिवमयम्॥
(वि० ग्रं० १६८-९)

इसके बाद कवि कहता है कि हे प्रभो ! मैं यह भी नही समझ पा रहा हूं कि आपके पास पहुंचने के अनन्त मार्गों में से कौन से मार्ग को अपना कर आपके पास पहुंचूं तथा आपके कौनसे स्वरूप को मैं ध्यान के योग्य बनाऊं ? मैं सर्वथा महामूढ़ हूं। आप ही मुझे कोई ऐसा सीधा सा मार्ग बताइये अथवा यह कृपा कीजिये कि मैं जिस किसी भी मार्ग पर चल पड़ूं उस पर आप स्वयं आकर मेरे साथ साथ चलने की कृपा करें:—

अनन्तास्त्वन्मार्गा विविधविषयो यामि कतमम्।
न जाने सम्मूढः सरलसरलं चेन्न दिशसि॥

यमेवालम्बे वा नव सहचरस्तत्र सहसा।
मयान्वेष्टुं शक्यो नहि कथमपि त्वं युगशतैः॥
(वि० प्रं १६८-१०)

कवि फिर व्यग्र होकर कहता है कि वह कहीं पर तो स्थिर दिखाई पड़ता है और कहीं पर अपने सम्पूर्ण रूप में क्षणिक दृष्टि-गोचर होता है। कहीं पर उसकी प्रतीति व अनुभूति शून्य रूप में होती है तो कहीं पर प्रकृति के साथ आल्हाद स्थिति में आभासित होता है, अतः कवि इस अज्ञात सत्ता से कहता है कि कुछ विद्वानों की दृष्टि में कभी तुम अपने एकही रूप में विकसित होकर दिखाई देते हो तो कभी अन्यरूप में, किन्तु मेरी दृष्टि में तो तुम हो भी और नहीं भी हो तथा कुछ न हो कर भी सर्वत्र विद्यमान तथा विभासित व आभासित हो। किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी उस व्यापक विभु का कोई निश्चयात्मक स्वरूप व स्थिति का अवबोधन नहीं हो सका। उसके स्वरूप के सम्यक् परिज्ञान के लिए अब तक न जाने कितने प्रयत्न हुए हैं, इसी ओर कवि संकेत करता हुआ कहता है:-हे प्रभो तुम्हारे अनुसंधान में क्या युगों के युग नहीं बीत गये ? न जाने कितने प्रयत्न हुए हैं, मैं किन किन का वर्णन करूं, किन्तु हे वर प्रद! क्या क्षण मात्र भी तुम अपने वास्तविक रूप में कभी आभासित हुए ?

व्यतीता साहस्री ननु नहि युगानां न कियती।
कियन्तो वा यत्ना ननु नहि कृतास्त्वां मृगयितुम्॥
तथापि त्वं दृष्टः क्षणमपि भवे केन भगवन्।
सर्वंबाहस्तो यः प्रदिशसि दिशो नः प्रतिदिशम्॥

(वि० प्रं० १६६-१२)

तत्वचिन्तक कवि उस सर्व व्यापक विभु के वैभव की सर्वत्र प्रत्यक्षानुभूति करता हुआ कहता है कि हे स्वामिन् यद्यपि तुम अदृष्ट हो किन्तु दूर नहीं हो। इस संसार में तुम्हारे समान सुगमता से मिलने वाला अन्य सहायक कौन हो सकता है ? जगतो के प्रत्येक कण में तुम्हारी सत्ता स्पष्ट-स्फुरित है। वह ऐसा कौनसा क्षण है जिसमें तुम मेरे साथ नहीं रहते हो ? अर्थात् सदैव तुम्हारा सानिध्य मुझे प्राप्त रहता है:—

अदृष्टोऽपि स्वामिन् नहि परमसि त्वं परतरः।
त्व सार्थो त्वत्तुल्यः पर इह भवे कोऽपि सुलभः॥

मरुदेश की धूलि में भी हम तरंगित नृत्य देख सकते हैं और तमसा रात्रि के तारावलि युक्त रूप में भी कोई रमणीय रहस्य छिपा हुआ अनुभव करते हैं। श्मशानों में धधकती चिताओं की ज्वालाओं में भी तो एक कान्ति है, चाहे वह भयावह व भीषण रूपा ही क्यों न हो? इस प्रकार प्रकृति के प्रत्येक विधान में ईश्वरीय सत्ता का नर्तन व निदर्शन है:—

समिष्या घोरापि प्रतिहसति नक्षत्रनिवयैः।
श्मशानेऽपि ज्वाला यमति यदि कान्तिश्च रहसि॥
मरौ शुष्का धूली नटति यदि चेयं सरलिता।
क्व नास्ते नृत्यन्ती सहजचपला ते नु रचना॥
(वि० प्र० १७०-१९)

कवि विभु की इस विशाल रंगस्थली को देखकर मंत्र-मुग्ध है जहाँ प्रकृति अपने नाना क्रीडा कौतुकों से विश्व को रिझा रही है:—

कियद्रम्यं चेदं लसति खलु ते रंगभवनम्।
विचित्रं नीलाभं यदुपरि वितानं परिततम्॥
सुखं यस्मिन् धीरो वहति पवनो गन्धसुरभिः।
विपश्यच्चन्द्रार्कौ सततमिह यत्र द्युतिमयम्॥
(वि० प्र० १७०-२०)

कवि यह अनुभव करता है कि इस विचित्र रंगस्थलिका पर एक अति मादक मोह-मदिरा का पान सभी करते रहते हैं किन्तु यह पान कराता कौन है? इसे कोई नहीं जानता? तथा इसे पीने वाले कभी परितृप्त भी नहीं होते, सदा तृषित ही रहते हैं, यह भी आश्चर्य है:—

सदा यस्मिन् पेया निभृतनिभृतं मोहमदिरा।
न कश्चित् प्रत्यक्षं प्रतिरलमिमां पाययति कः॥
न तृप्तः कश्चित्तां मुहुरिह निपीयापि नितराम्।
परं नृत्यन् सर्वः परिसरति मत्तः प्रतिदिनम्॥
(वि० प्र० १७०-२२)

किन्तु प्रकृति के इस मोहक रूप के साथ ही उसका रौद्र, भीषण व भयावह रूप भी कवि की दृष्टि में ओझल नहीं है और उसमें भी वह दिव्य सत्ता का दिव्यत्व ही अनुभव करता हुआ कहता है:—

देव ! तुम अपनी अति प्रबल भीमाकृति व रौद्ररूप दिखाते हो जिसे देखकर हम सभी के मूर्धा (सिर) भी भय की भावना ने भयभीत होकर नत मस्तक हो जाते हैं। हे देव विविध 'धी' धारकों के लिए भी तुम्हारा यह रूप जानना संभव नही क्योंकि इसमें दयार्द्रता और मृदुलता का लेश मात्र भाव भी परिलक्षित नही होता:—

क्वचिद्रौद्रं रूपं प्रकटयसि तत् किन्तु विषमम्।
समेषां मूर्धानो विनमति यदग्रे स्तु भिया ॥
न बोद्धुं तत् शक्यं विविधविधिबुद्धेरपि बुधैः।
दयार्द्रा यस्मिंस्ते न च मृदुलता क्वापि लसति ॥
(वि० ग्रं० १७१-२६)

यही ईश्वर परमात्मा के रूप मे सर्व-नियन्ता है। उसकी इच्छा के विरुद्ध इस विश्व में कुछ भी नही हो सकता। इसका आश्रय समाप्त होने पर समस्त जड़ पदार्थ आश्रयहीन हो जाते हैं यह परम दयावान और भक्तों को अभय प्रदान करने वाला है:—

कदाचित् कल्पान्तप्रलयविकलैः सर्वभुवनैः।
शृणोषि त्वं घोरं कृतमपि नहि क्रन्दनमहो ॥
कदाचित् क्षोदिष्ठं कृमिमपि परित्रातुमगलम्।
त्रिलोकीं सन्त्यज्य द्रवसि सपदि त्वं करुणया ॥
(वि० ग्रं० १७१-२८)

प्रकृति की ओर से सभी को सुखोपादान मिले हैं किन्तु मानव मन अपनी स्वार्थ भावना से विचलित होकर अपनी द्वेषाग्नि को प्रज्वलित कर स्वयं को तथा अन्यों को भी जलाता है ये सारे सम विषम भाव मानव निर्मित ही हैं.—

वयं सृष्टाः सर्वे समविषमभावैर्विचलिताः।
अशान्ता दुष्प्रेस्ता . दुरितसदनैर्द्वेषदहनैः ॥
समानोपादाने प्रकृतिकृतसर्गेऽपि किमु नः।
स्वभावोऽयं भिन्नः प्रभुवर ! न तद् वेद्मि सुतराम् ॥
(वि० ग्रं० १७२-३२)

लहरी का प्रणेता इसलिए चकित है कि प्रकृति प्रतिक्षण-परिवर्तनशील है। एतदर्थं कभी तो वह सौम्य रूप में प्रतिभासित होती है तो कभी भीषण

ग्रोर रौद्र रूप में। यह द्वैविध्य रूप जड़-प्रकृति के समान ही मानव की ग्राम्यन्तर प्रकृति में भी परिलक्षित होता है यही कारण है कि कभी तो यह अति स्वार्थान्ध होकर घृणिततम कार्य करने में भी संकोच नहीं करता ग्रोर कभी करुणार्द्र भावों से द्रवित होकर पर-हिताय प्राणोत्सर्ग करने में नहीं चूकता—

क्वचिद्रम्यं सौम्यं प्रतिजनमनोहारि मृदुलम्।
हसत् खेलत् चंचत् निखिलमपि रूपं तव शिवम्॥
(वि० ग्रं० १७१-२५)

क्वचिन्नग्नः स्वार्थः कणकणकृते नृत्यति जने।
क्वचित् प्राणांश्चापि त्यजति च परोऽयं परहिते॥
(वि० ग्र० १७२-३४)

शान्ति विमुख मानव की तथा प्रतिपल चपल जगती की अशान्त स्थिति को देख कर उसके रचयिता भगवान विष्णु को उपालंभ देने में भी नहीं चूकता। बहुत कुछ विचारने के बाद कवि इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि वह जिस सृष्टि में रहता है वह अच्छी व उत्तम है। उसकी दृष्टि में उसकी अपनी जगति सब प्रकार से सुन्दर व परिपूर्ण है:—

भदयं रम्यास्ते प्रतिपदमियं ते च जगती।
कथ गन्तव्यं दूरे क्वचिदपि परेऽस्याः खलु मया॥
इयं भुक्तेर्मुक्तेरपि च परमा प्रेमवसतिः।
इहैवच्छेद्या मे सपदि भव-पाशाः स्वकृपया॥
(वि० ग्रं० १७४-४५)

वह मृत्यु को एक ध्रुव सत्य मान कर निश्चिन्त होकर तप के सुख में लीन होने की कामना भगवान् से करता है वह चाहता है कि गंगा के सुखमय समीर युक्त वातावरण में रह कर अथवा रहते हुए हृदय में भगवान् के चरणों का स्मरण सुख पाता रहे.—

क्वचित् गंगातीरे सुखमयसमीरे परिवसन्।
ममैव कामं मे निहितहृदयस्ते चरणयोः॥
प्रशान्तात्मा नित्यं मुहुरसुकृतो संयुतमतिः।
प्रतीक्षे स्नेहानां अननतपमार दग्धदुरितः॥
(वि० ग्रं० १७५-४८)

श्री शास्त्री के विचार में यह सृष्टि कदापि हेय नहीं है और न वे इस सुन्दरतम सृष्टि को महाशून्य में लीन होते हुए ही देखना चाहते हैं। इस विषय में उनका मन्तव्य है कि इस लोक का समस्त लोकों से प्रत्यक्ष संबंध होने के साथ-साथ पृथ्वी लोक के निवासी समस्त लोकों में स्वच्छन्द होकर विचरण करें:—

न याचे तेऽद्वैतम् व्रजति निखिलं यत्र विलयम् ।
न वा कश्चिद् यस्मिन् प्रणयसरसामस्यति दृशम् ।।
स योगो लोकानां भवतु सहजः सम्पति भुवा ।
यतोऽहं निर्बाधो दिशि दिशि चरेयं वशगयः ।।
(वि० प्र० १७५-४६,)

यह अपने परम आराध्य से इस कुन्ठाग्रस्त विश्व के लिए एक नवीन व्यवस्था स्थापनार्थ प्रार्थना करता है, जिसमें सभीजन शुभ कार्यों में रत रह कर अपने विमल वैभव से संतुष्ट-मना होते हुए स्वधर्म में निरत रहें:—

इमामेव त्वं तत् सुरचय तथा नव्यविधिना ।
यथा सर्वेऽप्यरमां निजनिजशुभे कर्मणि रताः ।।
जनाः शुद्धात्मानो विमलविभवैस्तुष्टमनसः ।
स्वधर्मे सन्नद्धाः स्वसुखमधिगच्छन्ति सुधियः ।।
(वि० प्र० १७५-५०)

न तो कोई किसी के अधीन हो और न ही किसी पाप से प्रभावित हो क्योंकि इस संसार में पराधीन वृत्ति से बढ़कर कोई बड़ा पाप व दुःख नहीं। यह वृत्ति अति विकट है। पराधीन जन का पतन निश्चित ही होता है।

आज के भौतिकवादी जगत् संघर्ष का मूल 'अर्थ' को मानकर तथा जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि इसी में मानकर एतदर्थ समविभाजन के लिए संघर्षरत है किन्तु कवि कहता है कि जगत् में जीवन की गति धनाधीन न होकर गुणाधीन होनी आवश्यक है। धनाधीन जीवन अज्ञान का सूचक है। अतः धन पर गुण की विजय आवश्यक है। इस जगत् में न तो कोई दरिद्री हो और न किसी के हृदय में कृपणता रहे और न ही कोई दुष्ट जनों की कुसंगत का भोगी रहे :—

धनाधीना चेयं नभवतु निखिला जीवनगतिः
गुणानां संघर्षे भवतु न च तामिस्रविजयः ।

॥ हीनः स्यात् कश्चित् हृदि न च पुनर्दुर्लिकृपणः ।
न कश्चिद् दुष्टानां खलबलकुचक्रं च सहताम् ॥
(वि० ग्रं० १७५-५३)

इस नवीन व्यवस्था के स्थायित्व के लिए कवि यह आवश्यक मानता है कि शांति और सत्य तथा विकास का बाधक षड्-दोषों में प्रमुख 'अहं व्याधि, से सभी जन मुक्त रहें जिससे आक्रान्त होकर जड़मति मानव स्वयं को ही सर्वोत्कृष्ट मान लिया करता है।

मानव की अद्यतन पतित-अवस्था के विषय में कवि उस परम-सत्ता से निवेदन करता है कि हे प्रभो ! यह कुबुद्धि व पापी मनुष्य इस अखिल भुवन का अधिष्ठाता बन गया है, इस दुष्ट को अन्य जीव-जन्तुओं की स्थिति भी नहीं सुहाती। इस नीच जन में यह नीच वृत्ति कैसे उदित हो गई ? यही कारण है कि वह तुम्हारी स्तुति करने योग्य भी नहीं है :—

मनुष्योऽसौ पापोऽखिलभुवमधिष्ठाय कुमतिः
परेषां जन्तूनां स्थितिमपि न खेदय सहते ।
कुतः केयं नीचा दुरितहृतके वृत्तिरदिता
स कर्तुं भूतात्मन् स्तुतिमपि न योग्यस्तव यथा ॥
(वि० ग्रं० १७६-५७)

अतः स्तोता परम-पिता से यह प्रार्थना करता है कि वह इस दुर्विध्य से मानव को रहित कर ऐसे जीवन का विकास करें कि जिसमें अहंकार जनित दुःखों से मुक्ति मिले तथा सन्तोष का अभ्युदय हो:—

इयं दुष्टा तृष्णा जनयति कुकृत्यं न नहि किम् ।
न वा के तज्ज्वालाज्वलितमनसोऽशान्तमतयः ॥
स्वनाशं लोकेऽस्मिन् नहि विदधते हन्त मनुजाः ।
क्षणं संशयेमां वितर परितोषं सुखकरम् ॥
(वि० ग्रं० १७७-६०)

मनुष्य को आत्मतोष व सन्तोष का आश्रय लेकर अपने इसी जीवन को सुखमय बनाना चाहिये न कि व्यर्थ में चूहे की तरह पृथ्वी को निरन्तर खोदते रहना चाहिये।

इदं चेतस्थं स्यात् किमु पुनरहो काम्यमिह नः ।
वृथा पृथ्वीं सर्वां खनति मनुजाखुः स्म खलः ॥
(वि० ग्रं० १७७-६१)

श्री शास्त्री कर्मवाद के कट्टर समर्थक है, उनके मतानुसार शुभाशुभ कर्म को सुखात्मक एवं दुःखात्मक फल अवश्य ही भोगना पड़ता है इसलिये वे फल भोग से मुक्त होने के लिए ईश्वर से कहीं प्रार्थना नहीं करते। उन्हें तो ईश्वर में अटूट श्रद्धा है और उसके आश्रय में रहकर मानव में सहन-शक्ति स्वतः ही परिस्फुटित होती है ऐसा उनका विचार है। अतः वे कहते हैं, कि हे प्रभो! मेरा जो कुछ भी ज्ञान है वह सब कृति-परायण हो। कर्तव्यशील हृदय स्वभाव से ही उल्लासशील होवे, कोई भी अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं होवे, प्रकृति द्वारा नियत कथा में किसी भी प्रकार का कालक्षेप न हो।

मदीयं यद् ज्ञानं भवतु सकलं तत् कृतिपरम्।
स्वभावादुल्लासो लसतु च कृतौ कर्तृहृदये॥
स्वकर्तव्यात् कश्चित् क्वचिदपि न जायेत विमुखः।
न कालक्षेपो वा प्रकृतिनियते कर्मणि भवेत्॥
(वि० ग्रं० १७९-७०)

इन कतिपय उदाहरणों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि "लीला लहरी" में महनीय विभु से तादात्म्य-स्थापन के लिए जो विचारणा प्रस्तुत की है उसकी शैली एवं प्रस्तुत सर्वथा अभिनव तथा स्तुत्य तो है ही, किन्तु उसके साथ ही स्तवनकार के गम्भीर ज्ञान और अगाध अनुभूति की परिचायका भी है।

कला पक्ष

निःसंदेह प्रस्तुत रचना लहरी काव्यों के नैसर्गिक गुणों से पूर्णतया ओतप्रोत है। पूर्व पृष्ठों में इसके भाव गाम्भीर्य उच्चता एवं गंभीरता का आस्वादन व परिवीक्षण कर पाया, कि भाव प्रवणता इस कृति की अपनी महं विशिष्टता है, समस्त काव्य में संगीत तथा काव्य की दोनों धाराएं एक साथ सतत प्रवाहित हैं। कला पक्ष की दृष्टि से भी इसकी सफलता द्रष्टव्य है।

इसकी भाषा सरल व प्रसादमयी है भावों की अनुगामिनी सरल व वैदर्भी शैली अपने माधुर्य रूप में एक विशेष आकर्षण लिए हुए हैं। भाव व अर्थ ग्रहण में कहीं पर भी पाठक को श्रम नहीं करना पड़ता। यद्यपि

'शिखरिणी" छन्दों की ही इसमें प्रमुखता है किन्तु "अनुष्टुप" और उप-जाति" छन्दों में भी कुछेक श्लोकों की रचना है।

सूक्ति सौन्दर्य

अल्प शब्दों में अधिक भावों का संग्रह करने वाली इस लहरी की सूक्तियां भी अर्थ गाम्भीर्य तथा सरलता में अद्वितीय हैं।

१— न जिज्ञासावृत्तिः कथमपि परं शाम्यति जने।
(वि० प्र० १६८-६)

मनुष्य की जिज्ञासा वृत्ति का समन किसी भी प्रकार संभव नहीं।

२— स्वधर्मे सन्नद्धाः स्वसुखमभिलष्यन्ति सुधियः।
(वि० प्र० १७५-५०)

स्व धर्म पालन में निरत सुधीजन अपने इच्छित सुखभोग को आवश्यक पाते हैं।

३— परायत्तात्लोकाद् भवति नहि दुःखं परतरम्।
(वि० प्र० १७५-५१)

पराधीनता से बढ़कर दुःख संसार में अन्य नहीं।

४— जगत् कल्याणार्थ शिवमयमिदं मातृहृदयम्।
(वि० प्र० १८१-८४)

माँ का शिवमय हृदय जगत् के कल्याणार्थ ही है।

५— तथा नित्यं यायो भव ! भुवि यथा प्रेरयति नः।
(वि० प्र० १८१-८६)

जैसे ईश्वर हमें प्रेरित करता है वैसे ही हम संसार में विचरते हैं।

६— विरागे रागे वा वयमिह परायीनमतयः।
(वि० प्र० १८३-९२)

इस जगत में हम राग और विराग में पराधीन हैं।

७— न सद्दुःखं दुःखं यदिह परिणामे सुखकरम्।
(वि० प्र० १९३-९३)

सरस भाषा की सक्षमता सूक्तियों के अतिरिक्त अलंकार प्रयोग में भी द्रष्टव्य है.—

अनुप्रासः—

धरा धन्या सेयं यदुपरि वसन्तो वयमिह ।
विधामः कामं त्वत् स्मरणसुमपीयूषमनिशम् ॥
(वि० ग्र० १६७-४)

इसमें 'ध' 'व' 'स' और 'प' वर्णों की आवृत्ति दर्शनीय है ।

काव्यलिंगम्:—

कथं ज्ञातुं शक्तः प्रकृतिरहितं प्राकृतमतिः ।
स्व भावाद्भिन्ने हि प्रसरति न भावे मति गति ॥
(वि० ग्र० १६८-८)

प्राकृतिक मति का प्रकृति रहित को जानना सभव नही, क्योंकि स्वभाव से भिन्न गति मति की संभव नही ।

यमक:—

सर्वदाहृष्टो यः प्रविशसि दिशो नः प्रतिदिशम् ।
(वि० ग्र० १६९-१२)

इसमें दिशा शब्द का अनेक प्रयोग अर्थों में होने के कारण यमक की सुन्दर निदर्शना बनी है ।

वृत्यानुप्रास:—

वृथा पृथ्वीं सर्वां खनति मनुजाणुः खलु खलः ।
(वि० ग्र० १७७-६१)

इसमें 'ख' वर्ण की अनेका वृत्ति द्रष्टव्य है ।

गुण

गुणों की दृष्टि से देखें तो इसमें माधुर्य और प्रसाद गुणों की छटा

"शिखरिणी" छन्दों की ही इसमें प्रमुखता है किन्तु "अनुष्टुप" और "उपजाति" छन्दों में भी कुछेक श्लोकों की रचना है।

सूक्ति सौन्दर्य

थोड़े शब्दों में अधिक भावों का संग्रह करने वाली इन लहरी की सूक्तियां भी अर्थ गाम्भीर्य तथा सरसता से मण्डित हैं।

१— न जिज्ञासावृत्तिः कथमपि नरे शाम्यति क्वचे ।
(वि० ल० १६८-६)

मनुष्य की जिज्ञासा वृत्ति का शमन किसी भी प्रकार संभव नहीं।

२— स्वधर्मे सन्नद्धाः स्वगुणमधिगच्छन्ति सुधियः ।
(वि० ल० १७५-५०)

स्व धर्म पालन में निरत बुद्धिजन अपने इच्छित सुखभोग को अनायास पाते हैं।

३— पराधीनत्वात्स्यात् भवति नहि दुःखं परतरम् ।
(वि० ल० १७५-२१)

पराधीनता से बढ़कर दुःख संसार में अन्य नहीं।

४— जगत् कल्याणार्थं शिवमयमिदं मातृहृदयम् ।
(वि० ल० १८१-८४)

माँ का शिवमय हृदय जगत् के कल्याणार्थ ही है।

५— यथा नित्यं स्वामी भव ! भुवि यथा प्रेरयसि नः ।
(वि० ल० १८१-८६)

जैसे ईश्वर हमें प्रेरित करता है वैसे ही हम संसार में विचरते हैं।

६— विरागे रागे वा वयमिह पराधीनमतयः ।
(वि० ल० १८३-९२)

इस जगत में हम राग और विराग में पराधीन हैं।

७— न सद्दुःखं दुःखं यदिह परिणामे सुखकरम् ।
(वि० ल० १९३-९३)

अलंकार विधान

सरस भाषा की सक्षमता सूक्तियों के अतिरिक्त अलंकार प्रयोग में भी दृष्टव्य है:—

अनुप्रास:—

धरा धन्या सेयं यदुपरि वसन्तो वयमिह।
पिवामः कामं स्वत् स्मरणसुखपीयूषमनिशम्॥
(वि० ग्र० १६७-४)

इसमें 'ध' 'व' 'स' और 'य' वर्णों की आवृत्ति दर्शनीय है।

काव्यलिंगम्:—

कथं ज्ञातुं शक्तः प्रकृतिरहितं प्राकृतमतिः।
स्व भावाद्भिन्ने हि प्रसरति न जाये मति गति॥
(वि० ग्र० १६८-८)

प्राकृतिक मति का प्रकृति रहित को जानना सभव नही, क्योकि स्वभाव से भिन्न गति मति की संभव नहीं।

यमक:—

सर्वदादृष्टो यः प्रदिशसि दिशो नः प्रतिदिशम्।
(वि० ग्र० १६६-१२)

इसमें दिशा शब्द का अनेक प्रयोग अर्थों मे होने के कारण यमक की सुन्दर निदर्शना बनी है।

वृत्यानुप्रास:—

वृथा पृथ्वीं सर्वां खनति मनुजाशुः खलु खलः।
(वि० ग्र० १७७-६१)

इसमे 'ख' वर्ण की अनेका वृत्ति दृष्टव्य है।

गुण

गुणों की दृष्टि से देखें तो इसमे माधुर्य और प्रसाद गुणों की छटा

पढ़े पढ़े गति ललित होती है। किन्तु कहीं कहीं कठोर वर्णों का प्रयोग भी दृष्टव्य है:—

> रणत्—सीमाधामप्रहृतारकाणां प्रगल्भैः ।
> प्रहारैर्ध्वंसानां चलति च गिरिव्याप्यमनसा ॥
>
> (लि० ल० १७१-२७)

इस प्रकार सारा रस भी रसोल्लसिनी को अपने अन्दर प्रवाहित करने वाली इस लहरी कृति का चमत्कार भी सर्वथा अपने प्रतिपाद्य विषयानुकूल है।

लीला लहरी का दार्शनिक पक्ष

लहरी की रचना पृष्ठ-भूमि तथा इसकी भाव व्यंजना के आलोचन से हमने इसके चिन्तन प्रवाह में अवगाहन किया और "लहरीकार" की दार्शनिक मान्यताओं की बहुत कुछ जानकारी से परिचित हुए। आत्म-परमात्मा तत्त्व की विवेचना ही दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य होता है। दार्शनिक मनीषियों ने इस तत्त्व को जीवन और ब्रह्म के द्वैत या जीव और ब्रह्म के एकात्मक रूप अद्वैत-रूप में मानकर इसे विवेचित किया है, चूंकि लहरीकार समन्वयवादी व और सच्चे तत्त्ववेत्ता हैं अतः आत्म-तत्त्व के अद्वैत और द्वैत इन दोनों ही रूपों के अस्तित्व को स्वीकार किया है। किन्तु उनकी दृष्टि में सर्व व्यापक परमात्मा की सत्ता नित्य है अतः उसके अस्तित्व का निषेध उन्हें सह्य नहीं।

> निरिन्द्रय रसो सतो भवति विलसत्त्वं प्रतिक्षणम् ।
> कथं कश्चित् क्षिपेत् निगमनिगदितं रसो निरतरसा ॥
>
> (लि० ल० १८०-८०)

तथा इस परमात्मा तत्त्व का किसी एक रूप में परिसीमित न होना भी इसकी अपनी विशिष्टता है क्योंकि सर्वव्यापी तत्त्व को किसी सीमा में समाकुञ्चित करना कदापि सम्भव नहीं। समस्त संसृति का उत्स एक मात्र यही परम तत्त्व है। यह रस रूप है इस आह्लादमय रस से ही जड़ और चेतन रस ग्रहण कर विकसित और परिणमित होते हैं। यही प्रकृति के सौम्य व रमणीय तथा भीषण और वीभत्स दोनों ही रूपों में अपने विविध विभावों से विभावित होता रहता है। चन्द्रमा इसी से रस ग्रहण कर

अपनी सुधामयी शुभ्र ज्योत्स्ना से समस्त संसार को दिव्य जीवनदान देता है। जलद पटलों में वर्षा रूप मे धवल हिम-गिरी में तथा सुर सरिताओं मे प्रवाह रूप में यही परम-रस प्रवाहित होता है और यही तमिस्र निशा में तमस् और नक्षत्रों की चमक तथा श्मशान की धधकती ज्वालाओं में भी इसी का अपना एक उद्योतन है।

तवैवेमो लोके विकिरति सुधामेव च शशी।
प्रकामं पीत्वा यां पय इव जगत्यां परिसृताम् ॥
(वि० ग्रं० १६९-१७)

तवैवायं मोदो गतिमय - जडस्यापि कुरुते
भृशं हर्षोन्मिश्रता जलदपटलो वर्षति यतः।
स्मितोऽसौ संहृष्टो धवलहिमहासैर्हिमगिरीः
प्रमत्तेवामोदात् प्रवहति तथेयं सुरसरित् ॥
(वि० ग्रं० १७०-१८)

तमिस्रा घोरापि प्रतिहसति नक्षत्रनिचयैः।
श्मशानेऽपि ज्वाला वमति यदि कान्तिश्च रहसि ॥
(वि० ग्रं० १७०-१९)

यद्यपि श्री शास्त्री मूलत. अद्वैतवादी हैं किन्तु अपने उदार दृष्टिकोण से वे वैष्णवी भक्ति के उपासना मार्ग का भी पूर्ण सम्मान करते हैं और परम तत्व के परिज्ञान मे इस मार्ग को भी एक श्रेष्ठ मार्ग मानते हैं। लहरीकार के भक्ति-विषयक विचार रामानन्दी वैष्णवी भक्ति से पूर्णतया प्रभावित हैं। "आनन्द लहरी" और "अलक मन्दा" के विचारों का भाव इनकी भाव तरंगो पर स्पष्ट है।

प्रस्तुत रचना में जीव को अंश रूप में स्वीकार किया है और ब्रह्म को अंशी माना है। इस प्रकार वैष्णव, मीमांसक तथा शैव मत की मान्यतानुसार लहरी में जीव की पृथक सत्ता स्वीकार की है। माया का यद्यपि पृथक् रूप से स्पष्ट उल्लेख कही पर भी नही है किन्तु मानव स्वभाव की विभिन्नता एवं प्रकृति के विभिन्न रूपो मे उसके ही अस्तित्व और कर्तव्य की प्रस्थापना की है। अद्वैत वादी होने पर भी कवि ने ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या के स्थान पर जगत् को मिथ्या न मानकर उसे सत्य और यथार्थ ही माना है किन्तु जड़वादियो के समान भौतिक भोगों का

भोग त्याग न मानकर इसे मात्र सनातन परमेश्वर की प्राप्ति का उचित माध्यम मानता है। इसीलिए कवि के लिए यह पृथ्वी प्रत्येक पद पर परम प्रिय है।

शतककार प्रकृति के द्वैविध्य रूपों व चमत्कारिक दृश्य को देख-कर उन पर मोहित है एवं आश्चर्यचकित है और उनके विभिन्न रूपों का चमत्कारिक चित्रण भी करता है किन्तु विशेषता यह है कि दोनों ही रूपों को सदा किसी न किसी एक सूत्र में आबद्ध रखता है ताकि पाठक सदा यह जान सके कि इस रूप और उस रूप दोनों के ही पीछे कोई अन्य क्रिया व शक्ति भी है। जो अमेय व अगम्य है। ग्रन्थकर्ता उस पृष्ठवर्ती अदृश्य रूप से प्रार्थना करता है और कहता है, हे प्रभो! अब तक तुम्हारी रचना में द्वैविध्य का ही प्राधान्य रहा है किन्तु अब कृपा कर आप ऐसी सृष्टि की रचना करें, एक ऐसा संसार बनायें जिसमें मानव विकास में बाधक अहं और तृष्णादि का प्रभुत्व न हो, वे मानव मन पर हावी न हों। क्योंकि इस तृष्णा ने न जाने कितने ही कितने कुकृत्य किये हैं। इसी प्रकार अहंकार के वश होने पर मनुष्य के मन में जो विकृतिए उत्पन्न होती हैं, वे अनिर्वचनीय हुआ करती हैं। अहं भाव से मोहित मानव अपने को ही इस जगत् का नियन्ता भोक्ता व सर्वस्व मानकर मनमाना स्वच्छन्द आचरण करने लगता है जिसका परिणाम उसके लिए व अन्यों के लिए सदैव ही पीड़ा जनक हुआ करता है।

> मदान्धान्तो लोके प्रलपति न किं किं विलपितः
> खले लीनो घोरे तमसि मनुजोऽयं जडमतिः।
> "अहं कर्ता हर्ता त्रिभुवनपतिः सर्वगतिकः
> सर्वेषायं सृष्टेः प्रभुरिति जनैः गच्छति वृतः" ॥
> (वि० श० १७६-२५)

गीता के कर्मवाद पर शतककार का अटूट विश्वास है जो व्यक्ति जैसा करता है वैसा फल उसे भोगना ही पड़ता है अतः कवि भी शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने हेतु सर्वथा प्रस्तुत है और इसीलिए वह अपने विश्वेश्वर से भोग मुक्ति की प्रार्थना व याचना कभी नहीं करता अपितु प्रत्येक परिस्थिति में प्रभु चरणों का एक मात्र आश्रय ही चाहता है। ऐसा होने पर स्वतः ही समस्त भवपाशों से मुक्ति संभव है।

दयासिन्धो ! बन्धो ! त्रिभुवनभयानामनुपदम्
अपारे संसारे तव चरणयोरेव शरणम्
प्रकामं भोक्तव्यं निजनिजकृतीनामिह फलम्
तवाधारः स्वामिन् भवतु सुहृदः किन्तु सततम्
(वि०प्र० १८३-८४)

इसके साथ ही पंचीकरण प्रक्रिया, अहंकार और गुणों की चर्चाकर वेदान्त योग और भक्ति के समन्वयार्थ भी कवि ने दिशाबोधन किया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस पुरुषार्थ चतुष्टय के निष्पादन में अपनी निष्ठा दिखाकर वैदिक धर्म की आर्ष-जीवन-परम्परा की रक्षा का औचित्य भी बताया है। धर्म से अर्जित अर्थ चिर-स्थायी व शुभद होता है जबकि धर्म भावना से रहित तथा अन्यायोपार्जित अर्थ का परिणाम सदा दुखदायी है अतः शास्त्री जी अपनी नवीन व्यवस्था में अर्थोपार्जन की शुद्धता पर विशेष बल दिया है।

भक्ति शरणागति का एक रूप है। "छान्दोग्य उपनिषद" में भी इसकी विशेष विवेचना मिलती है। नारद याज्ञवल्क्य, भरद्वाज तथा शुकदेव आदि ऋषियों ने इसकी सिद्धि व प्राप्ति को ही परम-पुरुषार्थ माना है। इसका स्वरूप विवेचन करते हुए उन्होंने इसे आनन्द व परम प्रेम रूपा मानकर चित्त की द्रुति से इसका सम्बन्ध स्वीकार किया है। भक्त अपना सम्पूर्ण स्वत्व भगवान् के चरणों में समर्पित कर उसमें तादात्म्य स्थापित करता है और फलस्वरूप भक्त और भगवान् में दो रूप होने पर भी व तत्त्वतः एक रूप हो जाते हैं। यही इसकी चरम स्थिति है। हमारे आलोच्य कृतिकार ने इसी प्रपत्ति-स्वरूपा भक्ति का अपने 'आत्म समर्पणम्' और 'उपनिवेदनम्' आदि विचार शीर्षकों में निरूपण कर वैष्णव सम्प्रदाय के अपने गंभीर ज्ञान तथा गहन तत्वान्वेषिणी प्रज्ञा का परिचय दिया है।

इस प्रकार लीला लहरी में भारतीय दर्शनों की अनेक उदात्त शाखाओं प्रशाखाओं व उन पर लगने वाले विभिन्न सुरभि-मय सुमनों की सुमधुर सुगन्ध के पान का एक साथ अवसर पाठक को मिलता है किन्तु वह पाठक इस बात को अच्छी प्रकार जान जाता है कि इस विचित्र-वृक्ष का मूल अद्वैत की धरा पर ही आधारित है। यही कवि की सफलता है। कवि ने उपनिषदों जैसी स्वच्छ सरल ,भाषा में जिस जीवन दर्शन को

प्रस्थापना की है वह रचयिता के स्वयं के अनुभूति पूर्ण जीवन की सुसंस्कृत विचार की परिचायका है। दर्शन की गम्भीरतम युक्तियों का सरलतम भाषा में समाधान लहरी का मौलिक व्यंजना-शिल्प है। क्रान्तदर्शी कवि के रूप में श्री शास्त्री को नीति, औचित्य, राष्ट्रीय तथा सम्प्रदाय निरूपण में जो सफलता मिली है वह स्पृहणीय है। इस प्रकार हम निःसंकोच भाव से कह सकते हैं कि लहरी का दार्शनिक रचयिता आज के भारत का एक सुलझा हुआ व्यावहारिक तत्व ज्ञानी, सन्त, भक्त और एक उदार दृष्टिकोण वाला विचारक है।

लहरी पर अन्य स्तवन काव्यों का प्रभाव

प्रत्येक नवीन काव्य पर अपने प्राचीन तथा समकालीन काव्य-कृतियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। कवि व कृतिकार की कुशलता व सफलता भी इसी में है कि वह अपनी रचना में अपने पूर्ववर्ती तथा समवर्ती मनीषियों के भावों व विचारों को किस प्रकार नवीन व उचित प्रोज्ज्वल रूप में प्रस्तुत करता है। सीमा लहरी पर भी विभिन्न स्तवन रचनाओं का प्रभाव है इस विषय में श्री शास्त्री ने स्वयं स्वीकार किया है :-

श्री पुष्पदन्तस्य महामहिम्नः स्तोत्रस्य पाठे नितरां नियम्य
महेशगाथा रस-तादात्म्येन भावकान्तिः कोऽपि समर्पितोऽयम्
(शि० ल० १०५-१०६)

इस प्रकार लहरी की प्रेरणा का मूल स्रोत "महिम्न स्तोत्र" है। इसके लगभग सात श्लोकों की स्पष्ट छाया लहरी के विभिन्न श्लोकों पर है किन्तु पूर्णरूपेण भाव-ग्रहण न होकर उनके केन्द्रीय भावों को ही हमारे "स्तवनकार" ने अपने चिन्तन में विस्तार से मुखरित किया। विस्तार-सङ्कोच के कारण यहां महिम्न स्तोत्र के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं:-

अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो
रतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि
(शिव महिम्नस्तोत्र श्लो० २)

उपर्युक्त श्लोक के भावों व विचारों की उद्भावना लहरी के इस श्लोक में द्रष्टव्य है :-

निरीहं त्वां शान्तं विविधमयचिन्ताहृतधृतिः
क्रियावन्तं पश्यन् प्रबलतमबोधैरभिवृतः।

इन्हीं भावों को रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी "गीतांजलि" में भी ष्ट किया है।

……………तूने मुझे अनन्त बनाया…………
……………ऐसा है तेरा आनन्द……………

प्रार्थना विश्वास के धरातल पर उपस्थित होती है। इसके बिना वह र्वथा असम्भव है ईसामसीह ने कहा है कि वह जो विश्वास करता है और सीहयत को स्वीकार करता है वह बचा लिया जावेगा किन्तु जो विश्वास हीं करता उसे दण्डित किया जायेगा।

भगवान कृष्ण ने भी गीता में कहा है :—

"संशयात्मा विनश्यति" इन्हीं विचारों की अभिव्यक्ति हम लहरी के म्न लिखित श्लोक में पाते हैं।

न लक्ष्यं नः किञ्चित् क्वचिदपि भवेऽस्मिन् स्थिरतमम्
न विश्वासः कश्चित् किमु परपने चेह घटताम्
(वि० ग्रं० १७२-३५)

इसी प्रकार शंकराचार्य के "देव्यापराध क्षमापन स्तोत्रम्" के

न मोक्षस्याकांक्षा भव विभव वां चापि च न मे
न ज्ञानापेक्षा शशि मुख सुखेच्छापि न पुनः
[illegible] संयाचे जननि जननं यातु मम वै
[illegible]रुद्राणी शिव शिव भवानीति जपतः
(देव्यापराध क्षमापन स्तोत्रम-८)

[illegible]ी लहरी का यह पद द्रष्टव्य है :—

व्रजति निखिलं यत्र विलयम्
प्रणवसरसामस्यति इयम्
सहजः सम्प्रति भुवा
दिशि चरेयं दशरयः
(वि० ग्रं० १७५-४६.)

[illegible] पर प्राचीन और अर्वाचीन

इन्हीं भावों को व्यक्त करने वाला सूर का निम्न लिखित पद द्रष्टव्य है :-

करुणामय तेरी गति लखि न परै
आगम उगम अगाध अगोचर केहि विधि बुधि संचरै
अति प्रचण्ड रूप पौरुषता में केहरि भूख मरै
अनायास बिनु उद्यम किये अजगर पेट भरै
कबहुंक तृन डूबत पानी में कब हुक शिला तरै
सागर में सागर कर बांधे चहुं दिशि नीर भरै
रीते भरै भरे ढरकावे महर करै तो फेर भरै
पंकज जिमि कमल परागनि जल में अमल धरै
राजा रंक रंकते राजा ले सर छत्र धरै
सूर पतित तर जाये छनक में जो प्रभु नैक ढरै

तथा गीता के "एकादश अध्याय" के विराट रूप की छाया तो प्रकृति के घोर और रमणीय रूप तथा सभी के आश्रय-भूत परम रस में स्पष्ट ही है।

महर्षि अरविन्द ने अपने अतिमानवीय रूप की जो कल्पना की है उसे शास्त्री जी के नवीन व्यवस्था के आदर्श मानव में देख सकते हैं।

विजेता दोषाणां प्रभुचरणसंलग्नकरणः
निसर्गे दृष्टिं मायां जन इह यथेष्टञ्च भुङ्क्ताम्।
न संकल्पं तस्या फलतु हृदि संसारजननीम्
न पद्मानां सीमां त्यजतु नियतामत्र च निजाम्॥
(वि० प्र० १७५-५२)

इसके चतुर्थ चरण में पद्मगों के सीमोल्लंघन का निषेध की कल्पना स्पृहणीय है।

इसी प्रकार "भारत सूत्रम्" में आबद्ध "निर्झरिणियों" में विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ के विचारों के दर्शनों की छाप पाते हैं।

शरीरं मे कार्यं प्रचुरतमदोषैकसदनम्
विशुद्धैः सद्भावैर्न च मम मनश्चापि विमलम्।
न योग्यं तत्स्थानं क्वचिदपि भवान् यत्र विशतु
स्पृशेच्चैतत् दृष्टिः स्वयमिह न पङ्केऽपि पतितम्॥
(वि० प्र० १७१-७५)

इन्हीं भावों को रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी "गीतांजलि" में भी स्पष्ट किया है।

..................तूने मुझे अनन्त बनाया..................
..................ऐसा है तेरा आनन्द..................

प्रार्थना विश्वास के धरातल पर उपस्थित होती है। इसके बिना वह सर्वथा असम्भव है ईसामसीह ने कहा है कि वह जो विश्वास करता है और ईसाइयत को स्वीकार करता है वह बचा लिया जावेगा किन्तु जो विश्वास नहीं करता उसे दण्डित किया जायेगा।

भगवान कृष्ण ने भी गीता में कहा है :—

"संशयात्मा विनश्यति" इन्हीं विचारों की अभिव्यक्ति हम लहरी के अग्र लिखित श्लोक में पाते हैं।

न लक्ष्यं न: किञ्चित् क्वचिदपि भवेऽस्मिन् स्थिरतमम्
न विश्वासः कश्चित् किमु परपले चेह घटताम्
(वि० ग्रं० १७२-३५)

इसी प्रकार शंकराचार्य के "देव्यापराधं क्षमापन स्तोत्रम्" के

न मोक्षस्याकांक्षा भव विभव वांछापि च न मे
न ज्ञानापेक्षा शशि मुखि सुखेच्छापि न पुनः
अतस्त्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै
मृडानी रुद्राणी शिव शिव भवानीति जपत:
(देव्यापराध क्षमापन स्तोत्रम्-८)

इसके भावानुरूप ही लहरी का यह पद द्रष्टव्य है :—

न याचे तेऽद्वैतम् व्रजति निखिलं यत्र विलयम्
न वा कश्चिद् यस्मिन् प्रणयरससामस्यति द्वयम्
स योगो लोकानां भवतु सहजः सम्प्रति भुधा
यतोऽहं निर्बाधो दिशि दिशि चरेयं दशरथः
(वि० ग्र० १७५-४६)

इस प्रकार "लीला लहरी" के वर्ण्य पर प्राचीन और अर्वाचीन

लक्षण कृतियों का प्रभाव न्यूनाधिक्य रूपेण है किन्तु कवि ने उसे अपना बनाकर सर्वथा मौलिक शिल्पशैली में प्रस्तुत किया है जो कवि की परम सफलता की द्योतिका है।

मूर्धन्य मनीषियों की दृष्टि में लीला लहरी

लीला लहरी श्री शास्त्री की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त लघुकाय रचना है। देश विदेश के अनेक मूर्धन्य मनीषियों ने इसके भाव-गाम्भीर्य और ललित पदावली की मुक्त कण्ठ से भूरि-भूरि प्रशंसा की है जो इसकी गम्भीर गरिमा की उद्घोषिका है। विचारों और भावों की उत्तम विन्यास स्थिति इसकी अपनी विशेषता है। जिस किसी भी विद्वान को यह पठनार्थ उपलब्ध हुई वह इसकी भाव-प्रवणता से इतना प्रभावित हुआ कि शास्त्री जी के पास अपने आन्तरिक आल्हाद को प्रेषण करने में नहीं चूका। कुछेक मान्य बुध जनों की सम्मति प्रस्तुत है।

'भावार्द्रा लीला लहरी सचित्त्व मानुरागमुदारसोत्तरं पठंश्च मनोऽस्मि पराकाष्ठां प्रमोदस्य। अहो गुम्फनं भगवती श्रिय सहावेति अधिकाधिक मागे धनमंतम्न विहाय गुणगृहे सदैव संग.' इन शब्दों में जोधपुर के स्व० नित्यानन्द जी ने अपने हृदयोद्गार प्रकट किये और वहीं के भारत विख्यात प्राच्यविद् स्व० विश्वेश्वरनाथ ने लिखा।

लीला लहरी रचयिता विद्याधर कविराज
चिर जीवे साधन सजी देवगिरा शुभ काज

कल्याण के भूतपूर्व सम्पादक स्व० चिम्मन लाल गोस्वामी ने कवि को साधुवाद प्रेषण करते हुए लिखा:—

'लहरी बड़ी सुन्दर लगी इस रचना के लिए साधुवाद' तथा लहरीकार के आदरणीय गुरुतुल्य श्री नरदेव शास्त्री ने लहरी की लहरों से तरंगायित होकर लिखा:—

'विद्याधर शास्त्रिणा लीलया निर्मिता लीला लहरी नितरां रम्या नानाभाव-भरित प्रसाद गुणोपेता कस्य सहृदयस्य मनो न रं जयति……

दिल्ली के श्री कृष्णदत्त भारद्वाज के अनुसार……

………'यह रचना बड़ी सुन्दर व भावपूर्ण है'।

तथा दरभंगा विश्व विद्यालय के भूतपूर्व उप-कुलपति श्री उमेश मिश्र के कथनानुसार………

'पुस्तिका रोचक है, पढने में आनन्द की लहरी मिलती है।

डीडवाना (राजस्थान) के श्री गमेश्वर शास्त्री की लहरी विषयक अभिव्यक्ति दर्शनीय हैं :—

ललित ललितो लोला बीनां विलोक्य समन्ततः
भजति येहि स्तोत्रं रयान्ते महिम्न पदाग्निधम्।
सरस सरसा एते श्लोकान् कं मदयन्ति वै
मनसि निहिता भावः स्वतः प्रतिभासिता॥

इसके अतिरिक्त श्री के० एम० पन्निकर की लहरी विषयक सम्मति

दृष्टव्य है:—

"Read the poem with the greatest pleasureand appro ciation. It has on unstained beauty which is not common in Sanskrit composition of today. Although you keep to the traditional forms. Your ideas are modern. I congratulate you most heartly".

तथा इसी प्रकार श्री पी० के० गौड़ ने लहरी के लालित्य की अभिव्यक्ति इन शब्दों में की है:—

"Very glad and grateful to receive your 'Lila lahari' which has gladdened my heart by its delightful and simple style of sanskrit composition. The topics of your versed have also a berenial human value which makes them all the more worthy of repeated perusal and reflection.

प्रकीर्ण स्तवन

पूर्व आलोचित स्तनन कृतियों के अतिरिक्त आलोचित किए जाने वाले

मनीषी के कुछ "प्रकीर्ण स्तवन" पद भी हैं जिनमें से कुछेक तो प्रकाशित हैं और कुछेक अप्रकाशित। इन स्तवनों में दुर्गाष्टक, शंकर, सरस्वती, महर्षि दयानन्द और भारतमाता प्रभृति विषयक गीत प्रमुख हैं। इनमें से कुछेक कवि की प्रारम्भिक रचनाएं हैं जो सामान्य स्तर की हैं, तो कुछ प्रौढ़ भावों से समन्वित हैं। इनकी भाव भूमि वर्ण्य तथा विषयानुसार है। कुछ पौराणिक परम्परानुसार हैं तो कुछ में नवीन चिन्तन-दृष्टि की झलक मिलती है। ये "भाव" और "कला पक्ष" दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त सुन्दर हैं। भाषा भावानुकूल प्रसादमयी तथा "शिखरिणी" "वसन्ततिलका, मत्तमयूर" और "अनुष्टुप्छन्द" इनके वृत्त हैं। कुछ स्तवन तो सिद्ध स्तुति गीत भी बन गये हैं। उदाहरणार्थ कुछ स्तुति पद प्रस्तुत हैं—

१. गणपति स्तवः

यतो मङ्गलं दृश्यते सन्ततस्य शोभा यतो विघ्नवृन्दं प्रयेषा पुरारे
यतो भाति सर्वं त्रिधा भेद भिन्नं सदा तं गणेशं नमामो भजामः

पुनश्च

यतश्चा विरागो जगत् सर्वमेतत् तथा ब्रह्मज्ञानो विरक्तो विरक्तोऽस्ति
समेऽस्मिन्नथो देव मंत्रा मनुष्याः सदा तं गणेशं नमामो भजामः

इस प्रकार अनन्त ब्रह्म का उपासक कवि विघ्न विनायक गणपति को अनन्त शक्ति सम्पन्न मानते हुए उनमें भी अनन्त व्यापक तत्व की ही विभावना है।

कवि की यही व्यापक दृष्टि "शंकर स्तुति" में भी परिलक्षित होती है। भगवान् शंकर सदा मौन-परायण रहते हैं किन्तु उनके मौन में भी जगत् को उन्मादित करने वाली एक मोहक मादकता है। यद्यपि वे स्थाणुवत प्रतिभासित होते हैं किन्तु उनके स्थाणुत्व में भी एक शाश्वत नर्तन है। इसी प्रकार उनके घोरतम तमस् रूप में भी एक दिव्य विभा है:—

नित्यं मौन परेऽपि यत्र मधुरा गीतिर्जगत्या विनो
स्थाणोश्चापि विलक्षणं प्रतिपलं जागर्ति यन्नर्तनम्
घोरे घोरतमे घनेऽपि तमसि प्रद्योतमानः सदा
सोऽयं कश्चन राजतां हृदि हृदि प्रेष्ठः प्रभुः शंकरः

जिसके स्मरण करने पर त्रितापों का नाश हो जाता है और आशा की सुरसरिता बहने लगती है उस नित्य शिव की जय हो:—

दुःखे वृत्तोऽपि भव भीति समाकुलेऽपि
संस्मृत्य यं स्मरीति नैवपुनस्त्रितापम्
आशामयी सुर सरित् प्रवतीह यस्मात्
नित्यं शिवो विजयते स शशांक मौलिः

भगवती सरस्वती के स्तवन गीतों की संख्या विपुल मात्रा मे है। चूंकि कवि की यह इष्ट देवी है अतः इनके स्तवन गुच्छों में जो भावोद्दीपन मिलता है वह अनुपम महिमा से मण्डित है। १६४२ ई० में रचित स्तवन का आस्वादन करें:—

माँ जब तक तू स्वयं अपना गुणानुवाद मेरे समक्ष नहीं करोगी तब तक मैं कैसे तुम्हारी स्तुति कर सकता?

यावत् स्वयं न कुरुषे न गुणानुवादम्।
तावत् कथं जननी ते स्तवनं प्रकुर्वे॥
श्लाघ्या निजेस मिति नैव विचिन्तनीयम्।
ज्योत्स्ना स्वयं स्फुरति चेन्नहि तत्र दोषः॥

अतः तुम्हारी कृपा-सुधा का पान करने पर ही मेरे हृदय में काव्य-सुधा का प्रवर्षण हो सकता है:—

मातः कदाचन परा कृपया तवैव।
कश्चित् हृदि स्फुरति काव्य सुधा प्रवर्षो॥
गान तदेव मधुरं तु तया व्यनक्ति।
मत्ता यथा प्रमुदिता भवति त्रिलोकी।

इसके साथ ही कवि की लक्ष्मी पति की वन्दना भी द्रष्टव्य है.—

सम्पत्यस्य कणे-कणे विलसिता लोकेऽखिले भासिता।
लावण्यस्य परं निधान मतुलं पाता च यः पाणिनाम्॥
कान्ताऽयं विमला सदैव कमला ससेवते सुन्दरी।
सोऽयं सर्व सुख-प्रदो जय-मयो लक्ष्मी पति पातु नः॥

अन्त में गीत गोविन्द की छाया पर रचित तथा उसी के समान पद-

मालिराग वाली भारत वन्दना के दो पद प्रस्तुत हैं:—

> हर जगति तत काननो मय रत शांति विराजिताने
> मुनिजन सेवित सुन्दर गुणसाने प्रभु चरणामृत पान पावने

अङ्कित है.

> जय जय भारत भोग योगिने हर हर हंस विहारि योगिने
> भर मय कुल विहारि भारते प्रकृति कांति मनु काम भासने

इस प्रकार उपर्युक्त कतिपय उदाहरणों से हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि इनके प्रकीर्ण स्तवन भी भाव गांभीर्य से समन्वित होने के कारण कितने महत्त्वपूर्ण हैं।

(ख) नीति काव्य

नीति की परिभाषा

नीति का सम्बन्ध व्यक्ति और समाज दोनों से है। 'समाज को स्वस्थ एवं सन्तुलित पथ पर अग्रसर करने एवं व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की उचित रीति से प्राप्ति कराने के लिए विधि या निषेध मूलक जिन वैयक्तिक और सामाजिक जीवन का विधान देश, काल और पात्र के संदर्भ में किया जाता है उन्हें 'नीति' शब्द से अभिहित किया जाता है'[1]। इस प्रकार जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में असफलता से बचने के लिए व सफलता प्राप्त करने के लिए विज्ञ पुरुषों द्वारा अनुभूत अनुभव पर आधारित उपदेश ही नीति है।

नीति शास्त्र की महत्ता

संस्कृत साहित्य में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में नीति शास्त्र को बहुत सम्मान मिला है। इसे एक स्वतन्त्र शास्त्र मानना इसके इसी सम्मान का द्योतक है 'अन्य शास्त्र विशेषार्थ साधक न होने के कारण साधारण धर्म की सिद्धि में सहायक नहीं होते[2] किन्तु नीति शास्त्र सब मनुष्यों के लिए उपयोगी, मर्यादाविधायक, धर्म व अर्थ का मूल त्रिवर्ग हेतु भूत

---

१. डा० भोलानाथ तिवारी—'हिन्दी' 'नीति' काव्य पृ० ४

२. शुक्रनीति : वेंकटेश्वर प्रेस वि० सं० १९८२. १-१०

तथा मोक्षप्रद है।[1] जिस प्रकार भोजन के बिना प्राणियों की स्थिति नहीं होती, उसी प्रकार नीति को छोड़कर स्वतन्त्र आचरण करने वाला व्यक्ति दुख: से मुक्त नही हो सकता।

नीति काव्य की परम्परा:—

संस्कृत के नीति साहित्य की परम्परा अति प्राचीन है। नीति काव्यों के रूप में संस्कृत साहित्य ने जो देन दी है वह अद्वितीय है। डा० बलदेव उपाध्याय 'नैतिक जीवन के पालन में भारतीय संस्कृति की अनुरक्ति का ही यह परिणाम है कि संस्कृत साहित्य का कोई भी ऐसा अंग नहीं है जिसमें इन नैतिक सिद्धान्तों के दर्शन नहो होते हैं।[2]

संस्कृत में नीति विषयक अनेक ग्रन्थ मिलते हैं जैसे "विदुर नीति" "शुक्र नीति", "चाणक्य नीति", "भर्तृहरि शतक" तथा "नीति वाक्यामृतम्" आदि। भर्तृहरि के तीनो शतक तो विश्व प्रसिद्ध ही हैं। इसके साथ ही अन्य काव्यों के कथा प्रसंगों में भी नीति प्रसंग उपलब्ध है। अर्वाचीन संस्कृत काल में भी नीति मुक्तकों की रचना विपुल मात्रा में हुई है जिनमें नरसिंहाचार्य का "नीति रहस्यम्, वल्लभ शर्मा का "मुक्तक मुक्तानि" तथा अम्बिकादत्त व्यास का "उपदेश लता" प्रमुख है। श्री विद्याधर शास्त्री का "विद्याधर नीति रत्नम्" इसी परम्परा की एक कड़ी है।

संस्कृत नीति काव्यों का वर्ण्य सौन्दर्य

यह बात सत्य है कि शुद्ध रूप से नीति विषयक ग्रन्थों में काव्योचित रमणीयता का अभाव रहता है। किन्तु इन ग्रन्थों के लक्ष्य की दृष्टि से कोमल भावों की अभिव्यंजना आवश्यक भी नहीं क्योंकि इनका उद्देश्य जीवन, समाज और उसकी संस्कृति की समस्याओं के समाधान से होता है वाचस्पति गैरोला के अनुसार 'आचार प्रधान होने के कारण नीति विषयक सूक्तियों पर धर्म व दर्शन इन दोनों का प्रभाव सर्वाधिक होता है।'

किसी देश के दर्शन की विशालता व व्यापकता की प्रति छाया उस देश की नीति व सूक्तियां हैं। जैसे "आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति

१. शुक्रनीति : वेंकटेश्वर प्रेस वि० सं० १९८२ १-१०
२. वाचस्पति गैरोला—संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ३६६

मानवाः" "वसुधैव कुटुम्बकम्" "परोपकाराय सतां विभूतयः" तथा इसी प्रकार की अन्य उक्तियों में भारतीय संस्कृति के विशाल भावों के ही दर्शन होते हैं। भारतीय साहित्य में "शठे शाठ्यं समाचरेत्" जैसी उक्तियां भी मिलती हैं, किन्तु अधिक नहीं क्योंकि यहां के नीतिकारों का मानस दार्शनिक होने के कारण उनका ध्यान बाह्य शत्रुओं की अपेक्षा अपने आन्तरिक शत्रुओं पर विजय पाने का अधिक रहा। अतः भौतिक जीवन के बाधक तत्वों की या तो उन्होंने उपेक्षा की या उन्हें ईश्वराधीन मानकर उन्हें भाग्य के एक अनिवार्य विधान के रूप में स्वीकार कर लिया। किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि उन्होंने पुरुषार्थ की उपेक्षा की हो। उन्होंने प्राक्तन भावों की प्रबल भाविता को स्वीकार करते हुए भी पुरुषार्थ की सर्वोपरिता का ही विशेष प्रतिपादन किया है।

'विद्याधर नीति रत्नम्' की रचना दृष्टि

आत्म-परात्म बोधक काव्य परम्परा प्राचीन संस्कृत साहित्य में चलती आ रही है। किन्तु स्वतन्त्र काव्य धारा के रूप में उसका अतिशय अभिनव संस्कृत साहित्य में ही मिलता है। स्वाधीन भारत की नवस्फूर्ति के अवसर पर प्रकाशित 'विद्याधर नीति रत्नम्' के रचयिता ने अपने पूर्व निवेदन में अपने लक्ष्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 'संस्कृत का नीति साहित्य विश्व में अद्वितीय है। जीवन की कोई भी ऐसी समस्या नहीं जिसका उत्तर उसमें न दिया गया हो[1]। अतः विश्व के उत्थान के लिए इस ओर ध्यान अपेक्षित है। अपने इसी उद्देश्य के लिए हमारे मान्य मनीषी श्री विद्याधर शास्त्री ने अपने नीति वचनामृतों के माध्यम से आज के जागतिक जीवन की समस्याओं के समाधान का सम्यक् व सफल प्रयत्न किया है।

आज का मानव अपने आपको जिन अभूतपूर्व विषम समस्याओं से जितना अधिक घिरा हुआ अनुभव कर रहा है, संभवतः अब तक के अपने जीवन विकास में उतना कभी नहीं रहा। इस प्रकार आज वह इस युग के अनेक संक्रमणों से संक्रमित है। नित्यप्रति नवीन समस्याएं उसके समक्ष सुरसा मुख के समान मुंह फैलाये हुए हैं। मानव अपने बुद्धि कौशल से जब किसी समस्या के समाधान तक पहुँचता है तो वह यह देखकर आश्चर्य चकित रह जाता है कि उसके समाधान से पुनः एक नई समस्या, एक नया

१. विद्याधर नीति रत्नम्-पूर्व निवेदनम्

प्रश्न उसके समक्ष उपस्थित हो गया हैं ? अतः आज के इस विषम-संक्रमण काल में मनुष्य के लिये विकास की ओर अग्रसर होना एक समस्या है । किन्तु 'कविरेव प्रजापति.' के अनुसार तमसावृत्त परिस्थिति में भी आगे बढने की क्षमता कवि मे ईश्वर प्रदत्त हुआ करती है । वह अपने अनुभव व उच्च ऊहात्मक प्रज्ञाबल के द्वारा न केवल अपना मार्ग ही अन्वेषित करता है अपितु युग विशेष के लिए भी दिशा प्रशस्त किया करता हैं। श्री विद्याधर शास्त्री ने अपने नीति विषयक निर्देशो के द्वारा आज के अभावग्रस्त मानव को सही जीवन मार्ग का बोधन दिया है ।

नीति रत्नम् का प्रतिपाद्य :-

'विद्याधर नीतिरत्नम्' । आलोच्य नीतिकार की नीति विषयक एक श्रेष्ठ कृति है । अपनी १६१ श्लोको की इस मध्यकाय कृति मे सरलतम संस्कृत भाषा मे २७ शीर्षकों में व्यक्ति तथा समष्टि के उत्थान के लिए शास्त्री जी के अनुभूत विचारो की प्रस्तुति वस्तुतः श्लाघनीय है । 'मांगलिकम्' के प्रथम शीर्षक से लेकर अन्तिम 'आत्मनिवेदनम्' तक में कवि ने आत्मस्फुरणा के अनेक आयाम प्रस्तुत किये हैं। सुविधा की दृष्टि से इनके समस्त शीर्षकों को हम पाच वर्गों में विभक्त कर विवेचन प्रयास कर रहे हैं ।

१. आत्म विकास नय, २. परिवार विकास नय,
३. समाज विकास नय, ४. राष्ट्र विकास नय और
५. शाश्वत सिद्धान्त विषयक नय ।

१. आत्म विकास के लिए "आत्म विश्वास," "स्थिरमति" आत्म-गौरवम् अनाश्रिता वृत्तिः, अहंमान परिहारः, कृतार्थता, नैराश्य विजय तथा ध्रुवो वलम्बः जैसे विचार बिन्दुओं में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं ।

२. यह सत्य है कि व्यक्ति के विकास में उसके राष्ट्र व समाज की पुनीत परम्पराओ का बड़ा योगदान रहता है किन्तु मनुष्य अपने सामाजिक तथा राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों का प्रथम व वास्तविक प्रशिक्षण अपने परिवार मे ही पाता है । परिवार का वातावरण, उसकी सुख-समृद्धि तथा उसकी वैचारिक पवित्रता एवं स्पष्टता का जितना अधिक प्रभाव उसके मन और मस्तिष्क के विकास पर पड़ता है उतना अन्य का नही । अत. परिवार के परिष्कार तथा उसके स्वरूप के स्वस्थ सृजन हेतु 'सद्गृहस्थ जीवनम्'

'गन्ध हरी जीवनम्' तथा 'भव जीवन मर्शन' आदि के द्वारा धार्मिक प्रदर्शन किया है।

३ "कर्म महिमा" और "स्वार्थ शोषणम्" के द्वारा सामाजिक जीवन के पुनरुत्थान व उसके स्थायित्व के लिए जिन नीति निर्देशों की आवश्यकता हुआ करती है उनका ओजस्वी वर्णन किया है।

४ समाज और राष्ट्र का सम्बन्ध सदा मधुर एवं प्रिय बना रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि दोनों को मर्यादित एवं नियंत्रित करने वाले तत्वों का ज्ञान प्रत्येक नागरिक को हो। व्यक्ति अपने राष्ट्रीय जीवन परम्पराओं से परिचय रखता हुआ उनकी अस्मिता व गौरव रक्षा के लिये सदा तत्पर रहे। एतदर्थ नीतिकार ने अपने गंभीर अनुभव 'राष्ट्रजीवनम्' 'राष्ट्रे सार्वभौम समादरणम्' लोक शिक्षा और 'विश्व बन्धुत्वम्' के शीर्षकों में प्रकट किये हैं।

५ अन्त में मानसिक, 'आध्यात्मिक', 'जीवनमुक्ति', 'स्वर्ग किमयं निर्वेद भाष्यम्' तथा मानव जीवन वैचित्र्यम् आदि के द्वारा शाश्वत सत्यों का उद्घाटन किया है जिनका महत्व सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक है। जो अमर सन्देश उपनिषदों के मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने संसार को सतत आगे बढ़ने के लिए दिया उसी पुनीत परम्परा का निर्वहन इन शीर्षकों के द्वारा आलोच्य नीतिकार ने किया है।

आलोच्य नीति रचना का वैचारिक उन्मेष :-

नीति विषयक ग्रन्थों में वह रमणीयता व सौन्दर्य नहीं रहता जो किसी काव्य कृति में हुआ करता है। इन ग्रंथों की लक्ष्य दृष्टि में इनमें कोमल-भावों की अभिव्यंजना आवश्यक भी नहीं क्योंकि उनका उद्देश्य जीवन समाज और उसकी संस्कृति की समस्याओं के समाधान से सम्बन्धित होता है। यह बात सत्य है कि आचार प्रधान ग्रन्थ होने के कारण इन पर नैतिक जीवन के प्रतिपादक दार्शनिक ग्रंथों का प्रभाव निश्चित हो पड़ता है तथा आचार का सीधा सम्बन्ध जीवन की यथार्थता से होता है और यथार्थ में कल्पना एवं भाव-मंजुलता को स्थान नहीं होता क्योंकि यथार्थ का सत्य प्रायः कठोर होता है अतः नीति का यथार्थ जीवन से सम्बन्ध होने के कारण इसमें काव्योद्भव रमणीयता को ढूंढना उपयुक्त नहीं। इसका सौन्दर्य अपना अलग होता है और वह सौन्दर्य है कठोर यथार्थ।

हमारे आलोच्य अभिनव नीति कार ने जीवन के उन्नयन, आत्म सम्मान व मनोबल के वर्द्धन हेतु अनेक उपयोगी तत्वो को अपने विवेचन का विषय बताया है। सम्प्रति हम नीतिकार के समस्त चिन्तन का अपने पूर्व वर्गीकृत बिन्दुओं में आलोचन आंकलन प्रस्तुत कर रहे हैं:—

आत्म विकास विषयक नय :

आत्म शिल्पी ही आत्म-विकास कर सकता है। आत्म विकास करने वाले का गौरव स्वयं-स्फूर्त है। 'स्वय मेव मृगेन्द्रता' का उद्घोष एक मात्र आत्म-शिल्पी ही कर सकता है। आत्म विकासन के लिए सर्व प्रथम आवश्यक गुण है आत्म शिल्पी में अमिट आत्म विश्वास का होना। गीता में भगवान कृष्ण ने जिस प्रकार पूर्ण दृढता के साथ उद्घोष किया है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः
तत्र श्री विजयो भूति ध्रुवा नीति मति र्ममः[1]।

इसी प्रकार हमारे नीतिकार की भी यह मान्यता है कि जिस व्यक्ति के पास आशा, विश्वास, उत्साह और सदा स्थिर रहने वाली बुद्धि है वही वास्तव मे सभी प्रकार के सुख और वैभव को प्राप्त कर सकता है।

यत्राशा यत्र विश्वासो यत्रोत्साहः स्थिरा मतिः
तत्र श्रीश्च स्थिरं सौख्यं ध्रुवा नीति र्मतिर्मम'।
(वि० ग्र० १२३-४)

प्रत्येक व्यक्ति जीवन में आगे बढ़ना चाहता है एतदर्थ वह प्रयत्न भी करता है किन्तु सम्पूर्ण सफलता बहुत ही कम लोगों को मिलती है। सफलता उसी को मिलती है, जिसमें आत्म-विश्वास होता है यह विश्वास ही सर्व गुणों की जननी है।

दृढो यस्यात्मविश्वासः साध्यं तेन न किं भवे
आत्मैव सर्वशक्तिनां गुणानां चाकरो मतः
(वि० ग्र० १२३-५)

जिसका स्वय पर विश्वास नहीं उसकी कोई नही सुनता और ऐसा व्यक्ति उद्भ्रान्त हो जाता है तथा उद्भ्रान्त को जगती मे उद्भ्रान्ति ही

१. श्री मद् भगवद्गीता अ० १८ श्लो०७८

मिलती है, सफलता नहीं । तथा जो यथोचित धान्य व धनिक होने पर भी साहस का परित्याग नहीं करता वह कर्तव्य–परायण व्यक्ति घोरदारिद्र्य में भी अपने पथ को पा लेता है ।

अतः व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने अन्दर आत्मिक भावना का विकास करे और मैं दीन हूं हीन हूं, अतः कुछ भी करने में असमर्थ हूं इस प्रकार की आत्महीनता की मनोवृत्ति से अपने आपको सदा मुक्त कर मैं सब प्रकार से सर्वथा योग्य हूं तथा सब कुछ करने में सर्व समर्थ हूं, ऐसे दृढ़ संकल्प का निर्माण करे ।

ध्रुव वस्तु समर्थोऽहं सर्वं सर्वत्र सर्वदा
गुरुरस्मोऽयं स्वयमस्मो व्यक्तिभिः सन्ततं दृढः
(वि० प्र० १२४-१३)

ऐसा चट्टान जैसा आत्म विश्वास होने पर ही मनुष्य वास्तविक अर्थ में मानवता का बोध कर सकता है । आत्म विश्वास के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि मानव पूर्ण स्थिरता के साथ सतत कार्यशील रहे । सातत्य अभाव में सफलता नहीं और सफलता के बिना विश्वास नहीं ? इस प्रकार सफलता का मूल स्थिर मति ही है, स्थिर मति के अभाव में व्यक्ति निरन्तर किसी कार्य को नहीं कर सकता । अतः हमारा नीतिकार कहता है कि कार्यों में असफलता होने पर भी जिसकी बुद्धि अकम्पित रहती है और जो पुन: पुनः प्रयत्नशील बना रहता है उसे आज, कल अथवा परसों अवश्य ही सफलता मिलती है । इस प्रकार जो धैर्य कभी नहीं छोड़ते ऐसे दृढ़ निश्चयी व्यक्तियों को प्रकृति भी सदा साथ देती है तथा भाग्य भी उन्हीं के साथ होता है, जिनमें उत्साह और संकल्प बल की दृढ़ता हो ।

अमुक्त — धैर्या दृढनिश्चयाश्च
ध्रुवं स्वसाध्ये जयिनो भवन्ति ।
उत्साह — सङ्कल्प — बलान्वितानाम्
स्वयं सहाया प्रकृतिः स्वभावात् ॥
(वि० प्र० १२४-१५)

जीवन में सब प्रकार की सिद्धियों का दाता एक मात्र नैतिक बल ही है । इसके समक्ष राज सम्मान शक्ति व धन की कोई महत्ता नहीं अतः इस चरित्र रूपी नैतिक बल को प्राप्त करना भी बुद्धि स्थायित्व के लिए नितांत आवश्यक है ।

किं धनं किं दलं लोके का वा राज्ञां हि सत्कृतिः
नैतिकं बलमाधेयम् येन सर्वम्प्रसिध्यति ।
(वि० ग्रं० १२४-१०)

नैतिक बल सम्पन्न व्यक्ति ही व्यक्तित्व का धनी होता है। व्यक्तित्व का प्रकाश सूर्य चन्द्र के समान मनुष्य को दिव्यता प्रदान करता है अतः अपने व्यक्तित्व की रक्षा प्रथम आवश्यक है।

येन सर्वे प्रसिदेयु—र्येन सर्वञ्च भासताम्
व्यक्तित्वं तादृशं रक्ष्यं चन्द्रसूर्य—समं जनैः ।
(वि० ग्रं० १२४-१७)

अब प्रश्न उठता है कि व्यक्ति में व्यक्तित्व क्या है? इसका उत्तर खोजने पर हम पाते हैं कि हमारे उदात्त-मानवीय विचार ही हमारा व्यक्तित्व है जिसके द्वारा समस्त जीव मात्र पर हमारी विशिष्टता द्योतित होती है और जो हमारे अन्दर प्राणी-मात्र के प्रति 'आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना विकसित होती है. अतः कवि कहता है कि यदि तुम अपने व्यक्तित्व का श्रेष्ठ विकास करना चाहते हो तो सभी को अपनी आत्मा के समान ही समझो ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः सर्वमन्यत् परं स्मृतम्
रक्षात्मानम्प्रबुद्धं तद् व्यक्तितत्वञ्चेदभीप्ससे ।
(वि० ग्रं० १३५-१६)

गीता में भी भगवान् ने इन्हीं भावों को विभासित करते हुए कहा है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः
(श्रीमद् भगवद् गीता अ० ६ श्लो० ३२)

सभी की दृष्टि में समादृत होने के लिए यह आवश्यक है कि हम सबके हित के लिए स्वयं का समर्पण करें। सर्व हिताय स्वत्व का सम्पूर्ण समर्पण ही उस व्यापक विभु की महती पूजार्चना है जो कि तुम्हारे अन्दर स्थित रहकर सोचना जानना व सभी प्रकार की चेष्टा करता है।

अनेक बार ऐसा अनुभव में आता है कि कभी-कभी सात्विक स्वाभिमानी भी असाधारण सफलता के मिलने पर अभिमान से अभिभूत हो जाता है, जैसे देवर्षि नारद का भगवत्-सङ्कीर्तन से प्राप्त सात्विक-स्वाभिमान काम विजय के फल स्वरूप दुर्दम्य अहं के रूप में परिवर्तित हो गया। इसी प्रकार व्यक्तित्व के गलत चयन तथा अंकन से उसमें अभिमान का जन्म हो जाता है। अतः हमारा नीति रचयिता मनुष्य को इस मानवोचित कमी के लिए समय रहते ही सावधान करना उचित समझता है एवं वह अहं और व्यक्तित्व के अन्तर को स्पष्ट करता है।

व्यक्तित्वे महाहंकारो विनीते तत्प्रशान्तये
अहं — गर्व — परित्यागो व्यक्तित्वाभिनिर्मितम्
(वि० प्र० १२५-२२)

कुत्सित गर्व ही अहंकार है और उसका जन्म उस समय होता है जब मनुष्य अपने किसी गुण विशेष से अत्यधिक प्रभावित होकर उसकी सत्ता का अस्तित्व केवल मात्र अपने अन्दर ही देख सकता है। अपर जनों में उसका अभाव पाता है किन्तु इस प्रकार उसका सोचना बड़ी गलती है क्योंकि प्रभु ने जन-जन को अनेक विशिष्टताओं से युक्त बनाया है। अतः बुद्धिमता इसी में है कि हम किसी में भी किसी प्रकार की न्यूनता व तुच्छता की प्रतीति न कर सभी से सहृद् का व्यवहार करें। इन विचारों को स्पष्ट करते हुए नीतिकार कहता है—ज्ञान से गर्वित विज्ञजनों को चाहिए कि वे अज्ञजनों का तिरस्कार न करें क्योंकि उनके पास भी वे ही तत्व हैं जिन पर उन्हें गर्व है।

अज्ञा नैव तिरस्कार्या विज्ञैस्तद् ज्ञानगर्वितैः
गुप्तं यतेषु वैशिष्ट्यं ज्ञेयं तद् गुणमदविभिः
(वि० प्र० १२५-२४)

तथा जहां तक दृढ़ निश्चय शक्ति का प्रश्न है विज्ञजनों का मन जहां संशयापन्न स्थिति में रहता है वहां प्राकृतजन अति दृढ़ निश्चय शक्ति सम्पन्न होते हैं। चाहे हम उनकी इस निश्चय शक्ति को किसी भी नाम से पुकारें उसका आदर करें अथवा नहीं किन्तु कभी कभी वह शक्ति अति अद्भुत आश्चर्यजनक प्रभाव उत्पन्न कर जाती है। अपनी मान्यता विशेष के प्रति पूर्ण निष्ठा व दृढ़ता वस्तुतः प्रशंसनीय ही है। किन्तु प्राकृत जन की यह सहज निष्ठावृत्ति उनके लिए कभी कभी घातक भी सिद्ध हो जाती

है क्योंकि कभी कभी वे अपनी स्वभाव सुलभ ऋजुता के कारण धूर्तों एवं वंचकों के चक्कर में भी पड़ जाते हैं—अतः उन्हे इस दृष्टि से सावधान करने का कार्य व कर्त्तव्य विद्वानों का है, अतः उन्हे प्रयत्न करना चाहिए.—

प्रकृत्या प्राकृताः मुग्धाः सत्याचार—परायणाः
वञ्चकै र्भ्राम्यमाणास्ते रक्ष्याः सद्भिः प्रयत्नतः ॥
(वि० प्र० १२५-२६)

आत्म-विकास के लिए यह भी आवश्यक है कि हमें अपने कृत्य कार्यों से सन्तोषानुभूति हो। व्यक्ति को अपने जीवन मे अनेक कार्य करने पड़ते हैं जिनमें से कुछेक का सीधा लाभ व सम्बन्ध स्वयं से होता है तथा कुछेक का अन्यो से। मानव को उन कार्यों की सफलता से प्रसन्नता अवश्य होती है, जिनका सम्बन्ध उससे है। किन्तु वह प्रसन्नता क्षणिक हुआ करती है। किन्तु इन सफलताओं से परिणामतः उसकी एषणाओं में सतत वृद्धि होती है और अन्त में उसके पल्ले दुःख ही पड़ता है। जबकि परहितार्थ किये जाने वाले कार्यों से वह एक विशेष अप्रतिम आल्हाद का अनुभव करता है और अपने आपको कृतकृत्य मानकर कृतार्थता का अनुभव करता है। कृतार्थता की अनुभूति सात्विक और स्थायी तथा वास्तविक सुख की जननी हुआ करती है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह परार्थ सिद्धि को निज कार्य सिद्धि तथा परकीय सुख को स्वकीय सुख माने .—

परार्थसिद्धौ निजकार्यसिद्धिः सुखे परेषां निजसौख्यवृद्धिः
इत्थेत येनापि जनेन लोके नित्यं भवेन्नूनमसौ कृतार्थः।
(वि० प्र० १३३-९६)

इसी भावना को और अधिक विभासित करता हुआ नीतिकार कहता है-यह तेरा है और यह मेरा इसे ही विद्वानों ने माया के नाम से अभिहित किया है। अपने और पराये के इस भ्रम को दूर करके मानव को चाहिए कि वह संसार सागर में सुख पूर्वक विहार करे :—

एतन्मदीयं नहि तत् त्वदीयम् एषैव माया विबुधैरमाणि ।
तद्युष्मदस्मद-भ्रमरान् निवार्य पारे सुखं याहि सते भवाब्धेः
(वि०प्र० १३३-९७)

किसी भी व्यक्ति का मन सदा एक सी स्थिति मे नही रहता। परिस्थिति विशेष के कारण यदि किसी व्यक्ति से कोई ऐसा कार्य हो

जाय जो उसके स्वार्थ-पूर्ण व्यवहार का परिणाम हो तो [illegible] के लिए उसे स्वार्थ परायण मान लेना समीचीन नहीं। ऐसे व्यक्तियों के प्रति सदा शुभ दृष्टि ही रखनी चाहिए क्योंकि स्वार्थ परायण व्यक्ति सदा स्वार्थी दृष्टि ही नहीं रखता, उसके हृदय में भी परार्थ-भावों का उदय सम्भव है अतः हमें अपने पूर्वाग्रहों का परित्याग करके उसके अन्तस् के सात्विक भाव को विभासित करने का प्रयास करना चाहिए :-

स्वार्थेन पूर्णो मनुजोऽपि नित्यं
न स्वार्थमात्रेण निरीक्षणीयः ।
तस्मिन् प्रसुप्ताः करुणादयाद्याः
यदि प्रयत्नेन विभावनीयाः ॥
(वि० प्र० १३३-६६)

नित्य निरन्तर कर्मठ-शील बनने की महत् आकांक्षा मनुष्य में सदा बनी रहनी चाहिए उसे यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि जो कुछ मैंने कर लिया है बस यही उचित व पर्याप्त है क्योंकि संसार में साध्य का कोई अन्त नहीं। अतः सदा कुछ न कुछ नित्य नवीन पावन-कर्तव्य करते ही रहना चाहिए क्योंकि संसार की यात्रा अतिदीर्घ एवं अनेक आकांक्षाओं से संयुक्त है।

सच्ची कृतार्थता देने में है जो जितना अधिक देता है वह उतना ही अधिक सुख व सन्तोष पाता है किसी भी आवश्यकतार्थी की न्यूनाधिक मानसिक सन्तुष्टि के साथ मानसिक विकास में भी सहायक होता है। प्रत्येक व्यक्ति के पास दूसरे को देने के लिए कुछ न कुछ होता ही है। यदि किसी के पास और कुछ भी नहीं तो मधुरवाणी के द्वारा किसी को आश्वासन तो दिया ही जा सकता है। इस सम्बन्ध में 'वचने का दरिद्रता' की उक्ति तो प्रसिद्ध ही है। किन्तु हमारे आलोच्य नीतिकार ने इससे भी सूक्ष्म दान "सद्भावना दान" की अपूर्व संकल्पना हमारे समक्ष प्रस्तुत की है।

वाण्यामेव वदामि चैव वचने वार्ता जयः शाश्वतः
तस्माद् हि सर्वत्र मानमनसा यच्चास्ति देयं भवेत् ।
भूदानं सम्पदस्य दानमथवा विद्याप्रदानम्परम्
एकां वा हृदयमेव काञ्चन शुभां सद्भावनस्याम् प्रियाम् ।
(वि० प्र० १३४-१०२)

भारतीय संस्कृति के परम पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मे अर्थ का क्रम द्वितीय है। सम्पूर्ण जीवन अर्थाश्रित है। अर्थ एक वह धुरी है जिसके चारो ओर सब कुछ चक्रित होता रहता है। प्राचीन चार्वाक दर्शन और आधुनिक 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' का एक मात्र आधार व साध्य अर्थ ही है। यद्यपि भारतीय चिन्तको ने अर्थ की सर्वोपरिता तो नही स्वीकार की है किन्तु उसे उपेक्षित भी नही माना है। जीवन की अनेक अनिवार्य आवश्यकताओं में इसको भी गणना की गई है किन्तु सर्वोच्च उपलब्धि के रूप मे नही अपितु एक सहायक उपकरण के रूप में।

श्री शास्त्री जी की यह स्पष्ट मान्यता है कि अर्थ के विना शील व चरित्र का कोई महत्व नही। अतः अर्थोपार्जना को सभी के लिए आवश्यक है किन्तु अर्थोर्जन कोप युक्त साधनो से न होकर धर्माचरण से ही साध्य होनी चाहिए। पापाचार द्वारा संचित व अर्जित धन विष के सामान है।

अर्थम्विनाः सर्वमनर्थ-शीलम् सर्वैरुपार्ज्यः प्रथमं स तस्मात्।
दुःसाधनै-रेव न किन्तु काम्यः धर्मं विनार्थो न धनं विषं तत्॥
(वि० ग्रं १३१-८४)

इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि हम स्वाभिमान का परित्याग भी न करें क्योकि धन का अभाव कोई महत्वपूर्ण अभाव नही तथा बल से हीन होना भी कोई बडी वात नही किन्तु मान सम्मान से हीन होना ही वास्तव में हीन होना है क्योकि ऐसा व्यक्ति ही सदा दीनता को प्राप्त होता है।

धनेन हीनो नहि कोऽपि हीनः बलेन हीनो नहि वा विहीनः।
मानेन हीनो नर एव हीनो निजात्मदीनः सततं कृशो यः॥
(वि० ग्रं० १३१-८६)

इस दयनीय आत्म-हीनता की स्थिति से बचने के लिए किसी के आश्रित रहने से बचा जाना आवश्यक है। अर्थार्जन के लिए किसी के आश्रित रहकर स्वाभिमान की रक्षा कदापि संभव नही। अतः इस स्थिति से बचने के लिए अनाश्रित जीवन वृत्ति को ही स्वीकार करना चाहिए। स्वतन्त्र जीवन वृत्त से बढ़ कर संसार मे कुछ भी नही है और परोपजीवी से बढ़ कर पाप नही.—

अनाश्रिता वृत्तिरिवाद्य चेत् किमियता तन्मरणेऽपि सोढं ।
पराय दुःखमयं विशीर्णा न जीविता नापि मृता भवेयम् ॥
(वि० च० १३२-८८)

इस प्रकार अपमान जन्य जीवन की अपेक्षा तो मृत्यु का वरण ही श्रेयस्कर है। अपमानित व्यक्ति जीवित रहता हुआ भी मृतक के ही समान है अपितु उसकी स्थिति तो मृतक से भी हीनतर है क्योंकि मृतक व्यक्ति को एक बार मरने के पश्चात् पुनः पुनः मृत्यु तो नहीं होती :—

मृतो मृतो नैव करोति कश्चित् जीवन्मृतः किन्तु मृतः सदैव ।
मृतः पुनर्जीवति जीवमोने जीवन्मृतो नैव तु किन्तु कस्मात् ॥
(वि० च० १३२-८९)

यद्यपि वैदिक ऋषियों ने निराशा पर विजय प्राप्त करने के लिए ईश्वर से आशामयी दृष्टि व अनुकूल परिस्थितियों की कामना की है किन्तु हम देखते हैं कि 'यत्पूर्वं विधिना ललाटे लिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः' की उक्ति के अनुसार भाग्य के नियत विधान को बदलना सर्वथा कठिन है। इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि विधाता के उस अशुभ विधान में भी हमारे लिए कोई मंगल निहित हो अतः कवि कहता है कि हमें नियति के शुभ और अशुभ मंगल और अमंगल दोनों ही स्थितियों के प्रति उपेक्षा भावना रखनी चाहिए। अतः एक तटस्थ वृत्ति पर अपने अन्तर विकास करना उत्तम है:—

विकारमेत्यसमवेक्ष्य चित्ते स्थैर्यं सतर्कैरिह नित्यमेव
उपेक्षितव्येत् प्रथमकाले तत् भवेच्छुभाप्यम् न पुनः शुभेन ॥
(वि० च० १३९-१४८)

प्रकृति का प्रत्येक विधान शिव-संकल्प से संयुक्त होता है। अतः यह मानना चाहिए कि प्रकृति द्वारा प्रदत्त दुःखद स्थिति में भी हमारा शुभ ही सन्निहित है। निराशा के क्षणों में जब इस प्रकार की मनः स्थिति बनने लगती है तो निश्चय ही वह निराशा के रूप में बदल जाती है।

विपत्ते समागच्छति दीन - चित्तैः
चिन्त्या न नित्यं निजहानिरेव ।
स जातु किञ्चन्नवमर्थमिद्धे
विलक्षणं बीजमहो प्रकृत्याः ॥
(वि० च० १३९-१५०)

प्रकृति नटी की विभिन्न भूमिकाओं में शुभ ही शुभ देखने की प्रेरणा देते हुए नीतिकार कहता है—कौन जानता है कि कर्दम में कैसा सुन्दर कमल खिल जाय दुर्दिन से प्रताड़ित मानव मन से कब किस प्रकार की 'स्त्रोतस्विनी' फूट पड़े। अतः हे मित्र जैसी भी समविषम परिस्थिति विशेष में जीवन जीते हो उसी रस की अनुभूति उचित है।

आलोच्य नीतिकार यह कभी नहीं चाहता कि हम निराशापूर्ण मनःस्थिति के समक्ष नत मस्तक हो जायें तथा उसके निवारणार्थ कोई भी प्रयत्न न करें अतः वे कहते हैं कि जिस क्षण निराशा तुम्हारी बुद्धि को कुंठित व मलीन करे और जब तुम आल्हाद के स्थान पर अन्धकार के गह्वर में डूबने की स्थिति में उस समय एक झटके के साथ निराशा को अपने चित्त से हटा दो।

नैराश्यं कुरुते मतिं तव सखे यस्मिन् क्षणे कुण्ठिताम्
आह्लादस्य गतिं निरुध्य च यदा गाढं तमः सर्पति।
रे नैराश्य पिशाच याहि परतो मत्पार्श्वतः सत्वरम्
इत्येवं सुसमाहितः स्थिरधिया तद्दूरतो निक्षिपेः ॥
(वि० ग्रं० १४०-१५३)

अत्यन्त तीव्र प्रयास करने पर भी यदि निराशा हमारी बुद्धि को अपने तिमिर पाशों से मुक्त नहीं करती हो तो हमें चाहिए कि हम उसे आशा रूपी, स्त्रोतस्विनी के समक्ष समर्पित करदें:—

कृते यत्नेऽपि नैराश्यं मोहयत्येव चेन्मतिम्
आशायाःस्रोतसे तस्मै सर्वमव्याजमर्पयताम्
(वि० ग्रं० १४०-१५४)

स्वस्थ चिन्तन का परिणाम सदा सुखद होता है। विश्व-विधायिका उस अप्रतिम शक्ति को जब हम अपनी स्मृति चेतना में अवतरित करते हैं तो उसका प्रभाव तत्काल ही प्रतिभासित होता है। अर्थात् ज्यो ही उस परम सत्ता का नाम हमारी स्मृति पथ पर आता है न जाने स्वतः ही कहां से शांति का प्रादुर्भाव हो जाता है और हम अपने चारों ओर एक भव्य व दिव्य सृष्टि का अतीव मंगलकारी स्वरूप प्रत्यक्ष पाते हैं:—

तदीयनाम्नि स्मृतिमेव याते स्वतो न जाने कुत एति शांतिः।
प्रयाति भीतिः प्रपलाय्य सर्वा विभाति भव्या परितश्च सृष्टिः ॥
(वि० ग्रं० १४१-१५८)

जब इस प्रकार की सरस तथ्यानुभूति का अनुभव हम अपने भौतिक जगत् में पाते हैं तो आलोच्य कृतिकार का मानव के लिए यह परामर्श निश्चय ही मूल्यवान बनता है कि अरे चित्त ! तुम अनेकानेक विषयों का व्यर्थ अवलम्बन कर चपलता पूर्वक यहां वहां क्यों भ्रमित हो रहे हो ? जिस तत्त्व को पाने पर कुछ भी नवीन अप्राप्य नहीं रह जाता उस शाश्वत सत्ता के प्रेम से अपने को आप्लावित क्यों नहीं करते ?

रे चित्त किं भ्रमसि चञ्चल तेषु तेषु
नानाविधेषु विषयेषु मुधैव नित्यम् ।
एकेन तेन कुरुषे नहि किं रतिं ते
सम्प्राप्य सत्य अपर विषयोह् नाप्यम् ॥
(वि० प्रं० १४१-१४६)

परिवार विकास नयः

“परिवार” समाज एवं राष्ट्र जीवन के व्यवहार का प्रथम प्रशिक्षण केन्द्र ही नहीं अपितु वास्तव में मनुष्य का जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त का निर्माण केन्द्र है । जीवन में विकास के लिए जिन संस्कारों की आवश्यकता होती है उन सब का अभ्यास वह इसी “संस्कार केन्द्र” में करता है । अतः इसकी महत्ता सर्व विदित है । श्रीयुत् शास्त्री ने “सद्गृहस्थ जीवनम्” “धन्य हमी जीवनम्” और “मम जीवन सरणि” में पारिवारिक जीवन की गुरुता का स्पष्ट प्रतिपादित किया है ।

सम्पूर्ण जीवन का आधार परिवार है । परिवार की श्रेष्ठता ही आगे चलकर समाज राष्ट्र व विश्व को उच्चता प्रदान करती है । श्रेष्ठ परिवार का प्रथम आदर्श उसके सदस्यों की पारस्परिक एकता है । जिस घर के सदस्यों में एकता है एवं जो परस्पर एक दूसरे के सहायक होते हैं, सबकी प्रवृत्ति एक होती है वह घर तथा उसके सदस्य धन्य है ।

गृहं सदेतद् भवतीह धन्यम्
धन्याश्च धर्माः ननु तस्य सर्वे ।
यत्र स्वरैक्य सदृशी प्रवृत्तिः
सहायका यत्र मिथश्च सर्वे ॥
(वि० प्रं० १२७-४७)

घर के ग्रतिरिक्त ऐक्य-भाव के दर्शन कहा हो सकते है क्योकि परिवार के एक भी सदस्य के दुःखित होने पर उसके सब सदस्य दुःखी हो जाते हैं ग्रौर एक के सुख व सफलता पर सभी ग्रानन्द का ग्रनुभव करते हैं। इस पृथ्वी पर गृहस्थ धर्म के समान मनुष्यों का कोई ग्रन्य धर्म नही है यह सभी धर्म का मूल व ग्राधार है। जिसने इस मूल का समुचित व सम्यक् उपभोग कर लिया वह धन्य हैं:—

गृहस्थ-धर्मेण समश्च धर्मो नान्योहि कश्चिद् भुवि मानवानाम्।
मूलं स भुक्तेरथ सर्वमुक्तेः सर्गस्य सर्वस्य च सारसन्धिः॥
(वि. ग्र. १२८-४९)

हम हिन्दुग्रों की परिवार व्यवस्था जितनी सुसंस्कृत व सुविकसित है उतनी विश्व की किसी ग्रन्य जाति की नही। हमारी परिवार रचना का यह स्वरुप पूर्णतया मानव विकास विज्ञान के नियमों पर ग्राधारित है ग्रतः इसकी सुरक्षा रक्षणीय है।

परिवार मे प्रमुख स्थान नारी का है। परिवार की वास्तविक सचालिका एक मात्र वही है। उसी की कुशलता ग्रकुशलता पर परिवार की सफलता व विफलता निर्भर है। नारी का पूर्ण जीवन सेवा रूप होता है जहां स्त्रियो की पूजा होती है वहां देवता निवास करते हैं। "मनु-स्मृति" के इस कथन मे भारतियों ने नारी को एक महिमामय स्थान दिया है। हमारा नीतिकार भी स्त्री जाति के विशाल त्यागमय जीवन व स्वरुप से प्रभावित है ग्रतः वह कहता है:—

ग्रहो धन्यं स्त्रिया जन्म स्नेहोत्सर्गदयामयम्
तितिक्षा—व्रत—सम्पन्नं नित्यं सेवा—परायणम्
(वि. ग्रं, १२९-६४)

ग्रपने कुल धर्मों की रक्षा व परिपालना करती हुई तथा सभी के पालन पोषण मे रत स्त्री के लिए उसके ये गृहस्थ कर्तव्य ही यज्ञ, तप, दान ग्रौर उज्जवल प्रभु भक्ति हैः-

रक्षकं कुलधर्माणां सर्वेषाम् पालने रतम्
तत्तद्—यज्ञ— तपो— दान— प्रभुशक्ति—समुज्जवलम्
(वि. ग्रं. १२९-६५)

स्त्रियों का गौरव उनके परिपूर्ण मातृत्व में ही है अतः उन्हें अपने अस्थायी यौवन के रूप पर गर्व न कर अपने सात्विक स्वरूप का पोषण व रक्षण ही सदा करते रहना चाहिए —

यौवनं न सदा स्थायि स्थैर्यं रूपं न हि सात्विकम्
सात्त्व्यं स्त्रीभि विशालाक्षिभिः पुत्राभि मातृगौरवैः
(वि. प्र. १२६–६६)

इसके साथ ही उन्हें ईर्ष्या, कलह, दम्भ और अहंकार जैसे दुर्गुणों से सदा दूर ही रहना चाहिए जो कि समस्त दुःखों के मूल हैं:—

ईर्ष्या कलह दम्भानाम् अहङ्कारस्य चापलम्
तन्मिथ्यं सर्वं दुःखानाम मूलं हन्त भवेद् भवे

(वि. प्र. १२६–६७)

परिवार के प्रत्येक सदस्य का स्वस्थ तन व स्वस्थ मन होना भी नितान्त आवश्यक है —

स्वस्थे हि देहे हृदयप्रसन्नम्
बुद्धिः प्रसन्ना च सुखी सदात्मा।
लोकस्थिति रम्यतमा विभाति
स्वास्थ्यस्य रक्षा प्रथमं विधेया॥
(वि. प्र. १३०–७५)

यह एक दार्शनिक सत्य है कि यदि व्यक्ति को यदा कदा जगत के मिथ्यात्व अथवा उसकी क्षणिकता का बोध होता रहे तो वह सांसारिक विफलताओं से भग्न नहीं होता और उसमें निर्मोहता तथा अनासक्त भावना का विकास होता है। जगत् की क्षण-भंगुरता के आभास का चिन्तन भी क्षणिक ही है किन्तु संसार के इस सम्पूर्ण क्षणिक खेल को भी यदि हम चाहे तो अमृतमय बना सकते हैं और इसे प्रेमरूप बनाने का साधन है प्रेम—

प्रेम्णा किन्तु क्षणाः सर्वे संजायन्ते सुधामयाः
पश्य सर्वं जगत् प्रेम्णा प्रेम्णा सर्वेश्च सद्वदेः
(वि. प्र. १३०–७७)

किन्तु केवल मुक्त प्रेम से ही काम नहीं चलता अन्नमय कोष वाले मानव की प्रथम आवश्यकता उदरपोषण है, अतः उदरपूर्ति की समस्या का समाधान भी प्रथम आवश्यक है। हम देखते हैं कि देवगण भी हविष्यान्न से तृप्त होकर ही वरदान देते हैं, भूखे नहीं तथा षड्-रसों का अनुभव भी पेट भरने पर होता है पहले नहीं—

> तृप्यन्ति निखिला देवाः सन्तृप्ते जठरानले
> षड् रसेषु संतृप्ते रसाः सर्वे सुखावहाः ॥
> (वि. ग्रं. १३१-७६)

इस प्रकार परिवार के सुविकास के लिए परिवार के परिजनों का परस्पर प्रेम तथा परिवार की मूल सूत्रधारिणी नारी तथा उसके सम्पूर्ण सदस्यों के स्वस्थ मन व स्वस्थ तन की प्रेरणा नीतिकार ने दी है।

समाज विकास नय

व्यक्ति और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध कितना घनिष्ठ एवं एक दूसरे का पूरक है यह सर्वविदित है। व्यक्ति के विकास की सम्पूर्ण सम्भावनाएं समाज में ही सन्निहित हैं और समाज का सार्वजनिक स्तर उसके सुसंस्कृत चरित्रवान व्यक्तियों पर ही निर्भर होता है। अतः समाज की वर्तमान-सिद्धि का मूल कारण उसके व्यक्तिगत जीवन का उत्तरोत्तर विकास ही है। हमारे नीतिकार ने 'कर्म महत्त्वं' और 'स्वार्थ त्यागनम्' इन दो विचार बिन्दुओं में भी दिशा में हमें उद्बोधित किया है।

करता है तो वह जीवित होता हुआ भी एक प्रकार से मृतक के समान ही है अतः इस प्रकार देखा जाय तो कर्म ही जीवन, कर्म ही सत्य और कर्म ही सर्वस्व है।

प्रागुक्त नीतिकार ने कर्म की महिमा और गरिमा को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि यह सम्पूर्ण संसार कर्मक्षेत्र है, इसमें रहते हुए मनुष्यों को कर्मयोग का आश्रय लेकर कर्म संसिद्धि के लिए सदा प्रयत्न करते रहना चाहिए।

> कर्मक्षेत्रे विशालेऽस्मिन्नखिलं कर्मसम्भवम्।
> तस्मात् कर्मैव सततार्थं कर्मयोगाश्रितं बुधैः ॥
> (वि० प० १२६-३७)

सभी सब कुछ करना चाहते हैं किन्तु सभी के लिए सब कुछ कर पाना कभी भी सम्भव नहीं हो सकता ऐसी लोक मान्यता है। इस मान्यता विशेष के कारण सामान्य जन जब किसी कार्य विशेष में असफल हो जाने पर दीन हीन ग्रन्थि से ग्रस्त होकर अकर्मण्य हो जाता है, ऐसे व्यक्तियों को उद्बोधन करने के लिए नीतिकार ने कहा है—कि तुम कभी भी अपने को दीन व हेय मत समझो और न ही यह कहो कि यह कार्य मैं नहीं कर सकता क्योंकि तुम्हारा भाग्य निर्माण तुम्हीं कर पाते हो।

> मा भावो बंधनं दीनं 'कर्तुमेतन्न शक्यते'।
> त्वंहि धाता विधाताच स्वयं कर्तुंन हितस्यया ॥
> (वि० प० १२६-३८)

तथा फिर उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत के समान उद्दाम उत्साह के साथ भीरु से भीरु व्यक्ति में भी परम पौरुष के संचार की क्षमता उत्पन्न करने की भाषा में श्री शास्त्री कहते हैं।

उठो शंका और भय को छोड़ो अपने अकम्पित संकल्प की सहायता से तुम सब कुछ प्राप्त कर सकते हो:—

> उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भो मित्र ! शङ्का त्यज भयं तथा।
> अकम्पिते हि सङ्कल्पे लब्धं लोके न किं त्वया ॥
> (वि प० १२६-३९)

'यत्पूर्वं विधिना ललाट लिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः'[1] के वातावरण मे पले हुए लोगों को नीतिकार स्पष्ट कहता है कि मित्र भाग्य मे क्या लिखा है और क्या नही इसे कौन जानता है ? तुम्हारे लिए तो यही आवश्यक है कि इस समय जो भी तुम कार्य कर सकते हो उसे ही अच्छी प्रकार से सुसम्पादित करो:—

> भाग्ये यल्लिखितं तत् स्यात् न जाने किं कदा सखे।
> अद्यप्रने यत् त्वया कर्त्तुम् कुरु त्वं तद्धि साम्प्रतम् ॥
> (वि० प्र० १२७-४०)

जो होना है वह होकर रहता है उसके लिए मूर्खजन ही व्यग्र रहा करते हैं सुधीजन नही। वे तो सतत क्रियाशील ही रहेंगे । साध्य को सम्पन्न करने में व्यग्रता की आवश्यकता नही जिस कार्य को सम्पन्न करना है उसके विषय में अच्छी प्रकार से विचार कर उसकी सम्पन्नता के लिए जुट जाना चाहिए। एक बार निश्चय करने पर पुन: पुन. साध्य पर चिन्तन करना दुर्बुद्धि का लक्षण है।

'काल करे सो आज कर आज करे सो अब' की लोकोक्ति के अनुसार हमें भी साध्य सम्पन्न करना है उसे यथोचित समय पर ही समाप्त कर लेना चाहिए क्योंकि प्रत्येक क्षण काल के मुख मे जाने के पश्चात् वापिस नही लौटता.—

> प्रतिक्षणं कालमुखे विशद्भिः सद्यो विधेयं भुवि यद् विधेयम्।
> गतस्य कालस्य कला व्यतीता पुनः कदाचिन्न वशीकृताः स्युः ॥
> (वि० प्र० १२७-४६)

ससार मे सब कुछ अस्थिर है क्योंकि यह ससार स्वय भी स्थायी नही इस तथ्य को नीतिकार स्पष्ट रूप से स्वीकार करता हुआ कहता है–मैं जानता हूं कि इस जगत् में कुछ भी नित्य नही है। कीर्ति और कान्ति का विभासन भी क्षणिक ही है, किन्तु इस पर भी कर्म की महत्ता महान् है। अत: बुद्धिमान को चाहिए कि उसके हाथ में जो भी प्रस्तुत है उसे वह विधिवत सम्पन्न करे:—

---

[1] भर्तृहरि नीति शतकम्-९४

मन्ये न किंचित् जगतोऽस्ति नित्यम्
धनं विभामेतत् च कीर्ति-कान्तिः।
अन्येव तत् किन्तु यदस्ति हन्त
तदेव साध्यं विधिना बुधेन॥
(वि० ध० १२७-४५)

अन्त में धर्म महिमा का समापन उपनिषद्[1] वाणी में समान कामना करते हुए कवि कहता है —

निरुद्यमः कोऽपि भवेत् क्षणं न
न चापि सर्वत्र भवेत् स्वरायात्।
नान्यो हि लोके यदि कांक्षते सः
योऽन्योऽपि कारुण्य न कष्टभागतः॥
(वि० ध० १२७-४३)

राष्ट्र विकास नय

आज की राजनीति में प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र को इतना भयंकर स्वार्थमयी प्रवृत्तियों से परिपूर्ण बना दिया है कि उसमें भारतीय धर्म भावना त्याग और सेवा के लिए किसी भी तरह का अवकाश नहीं रहा। हमारी संकुचित राजनीति का ही यह प्रतिफल है कि स्वार्थ साधन के लिए गुटों के रूप में दलों के नाम पर एक दूसरे का शोषण कर रहे हैं।

संस्कृत नीति में शासकों और समीति के सदस्यों के दैनिक जीवन पर सबसे अधिक ध्यान दिया गया है। शासन के लिए अन्य देशों के आदर्श विधानों के ज्ञान और विकास के परिचय की आवश्यकता है वहां सबसे पहले इस बात की भी आवश्यकता है कि उन विधानों के अनुसार राष्ट्रों की गतिविधियों को सचालित करने वाले व्यक्ति स्वयं भी अपना एक वैधानिक जीवन बिताते हों। यदि शासक और सदस्य सच्चरित्र और प्रभावशाली न हों तो उत्तम से उत्तम विधान भी उनके हाथ में आकर परम दूषित और प्रभावहीन हो जाते हैं।

---

1. सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
   सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग भवेत्॥

अतः संस्कृत की राजनीति सर्वप्रथम व्यक्ति का निर्माण कर फिर राष्ट्र के सुशासन के लिए यान, आसन, कोष और बल आदि की आवश्यकता पर बल देकर उसकी विशद व्याख्या करती है।

'नीतिरत्नम्' के नीतिकार ने "राष्ट्र जीवनम्" "शठेशाठ्यं समाचरेत्" "लोक शिक्षा" और "विश्व बन्धुत्वम्" इन शीर्षकों के द्वारा संस्कृत साहित्य के नीति के उपर्युक्त तत्वों के केन्द्रीय भावों का ही चित्रण प्रस्तुत किया है।

व्यक्तियों के समूह से समाज और समाजों की समष्टि से राष्ट्रों की रचना होती है। राष्ट्रोन्नति के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति सम्पूर्णमना अपने जीवन को राष्ट्र सेवा के लिए समर्पित करदें। विश्व मंच पर वही राष्ट्र सर्वोच्च स्थान प्राप्त करता है जिसके नागरिकों की बुद्धि, बल और धन का उपयोग राष्ट्र के लिए होता है.—

बुद्धिर्यस्मिन् बलं यस्मिन् यस्मिन् कोषस्य सद्व्ययः
राष्ट्रं तत्सर्वसम्पन्नम् भवेद् राष्ट्रशिरोमणि।
(वि० ग्र० १२८-५२)

किन्तु वह राष्ट्र अवनति के गर्त में पड जाता है जहां के नागरिक दम्भी, पाखण्डी एवं स्वार्थ परायण होते हैं तथा परस्पर जिनका विश्वास नहीं होता। सतत् क्रियाशील व्यक्ति ही जीवन में कुछ कर सकता है। परहिताय त्याग भावना रखने वाले तथा दानशील मन:स्थिति वाले व्यक्तियों के समाज वाला राष्ट्र ही विश्व मंच पर सदा गरिमा को पाता है अतः नीतिकार कहता है:—

लोकसेवा विधातव्या राष्ट्रमेवानुवर्तिभिः
समष्टेः सेवनाद् व्यष्टिः स्वयं लोके निषेव्यते।
(वि० ग्रं० १२८-५६)

श्रेणी व वर्ग का मोह जाति व राष्ट्र के लिए सदा विघातक रहा है। किसी वर्ग व दल विशेष के प्रति अन्ध श्रद्धा बड़ी घातक हुआ करती है। केवल मात्र मेरे दल की मान्यता व रीतिनीति ही श्रेष्ठ है अपर की नहीं। इस प्रकार की भ्रान्त धारणा का परित्याग करके जो सत्य हो उसी की मान्यता स्वीकार करनी आवश्यक है क्योंकि कोई भी ऐसा दल विशेष नहीं

मन्ये न किंचित् जगतीह नित्यम्
क्षण विभामेत च कीर्ति-कान्तिः ।
अस्त्येव तद् किन्तु यदस्ति हस्ते
तदेव साध्यं विधिना बुधेन ॥
(वि० ग्रं० १२७-४५)

अन्त में कर्म महिमा का समापन उपनिषद्[1] वाणी के समान कामना करते हुए कवि कहता है —

निरुद्यमः कोऽपि यपेत् क्षण न
न चापि सर्वत्र भवेत् स्वराधात् ।
नान्तो हि लोके यदि कर्मणां नः
कोऽप्यपि कालस्य न कश्चनान्तः ॥
(वि० ग्र० १२७-४३)

राष्ट्र विकास नय

आज की राजनीति ने प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र को इतना भयंकर स्वार्थमयी प्रवृत्तियों से परिपूर्ण बना दिया है कि उसमें भारतीय यश भावना त्याग और सेवा के लिए किसी भी तरह का अवकाश नहीं रहा। हमारी संकुचित राजनीति का ही यह प्रतिफल है कि स्वार्थ साधन के लिए गुटों के रूप में दलों के नाम पर एक दूसरे का शोषण कर रहे हैं।

संस्कृत नीति में शासकों और समीति के सदस्यों के दैनिक जीवन पर सबसे अधिक ध्यान दिया गया है। शासन के लिए अन्य देशों के आदर्श विधानों के ज्ञान और विकास के परिचय की आवश्यकता है वहां सबसे पहले इस बात की भी आवश्यकता है कि उन विधानों के अनुसार राष्ट्रों की गतिविधियां को संचालित करने वाले व्यक्ति स्वयं भी अपना एक वैधानिक जीवन बिताते हों। यदि शासक और सदस्य सच्चरित्र और प्रभावशाली न हों तो उत्तम से उत्तम विधान भी उनके हाथ में आकर परम दूषित और प्रभावहीन हो जाते हैं।

---

१. सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग भवेत् ॥

अत संस्कृत की राजनीति सर्वप्रथम व्यक्ति का निर्माण कर फिर राष्ट्र के सुशासन के लिए यान, आसन, कोष और बल आदि की आवश्यकता पर बल देकर उसकी विशद व्याख्या करती है।

'नीतिरत्नम्' के नीतिकार ने "राष्ट्र जीवनम्" "शठेशाठ्यं समाचरेत्" "लोक शिक्षा" और "विश्व बन्धुत्वम्" इन शीर्षकों के द्वारा संस्कृत साहित्य के नीति के उपर्युक्त तत्वों के केन्द्रीय भावो का ही चित्रण प्रस्तुत किया है।

व्यक्तियो के समूह से समाज और समाजों की समष्टि से राष्ट्रों की रचना होती है। राष्ट्रोन्नति के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति सम्पूर्णमना अपने जीवन को राष्ट्र सेवा के लिए समर्पित करदे। विश्व मंच पर वही राष्ट्र सर्वोच्च स्थान प्राप्त करता है जिसके नागरिको की बुद्धि, बल और धन का उपयोग राष्ट्र के लिए होता है—

बुद्धिर्यस्मिन् बलं यस्मिन् यस्मिन् कोषस्य सद्व्ययः
राष्ट्रं तत्सर्वसम्पन्नम् भवेद् राष्ट्रशिरोमणि।
(वि० प्र० १२८-५२)

किन्तु वह राष्ट्र अवनति के गर्त में पड जाता है जहा के नागरिक दंभी, पाखण्डी एव स्वार्थ परायण होते है तथा परस्पर जिनका विश्वास नही होता। सतत् क्रियाशील व्यक्ति ही जीवन मे कुछ कर सकता है। परहिताय त्याग भावना रखने वाले तथा दानशील मन:स्थिति वाले व्यक्तियो के समाज वाला राष्ट्र ही विश्व मंच पर सदा गरिमा को पाता है अत नीतिकार कहता है:—

लोकसेवा विधानाच्चा राष्ट्रसेवानुवर्तिभिः
समष्टेः सेवनाद् व्यष्टिः स्वयं लोके निषेव्यते।
(वि० प्रं० १२८-५६)

श्रेणी व वर्ग का मोह जाति व राष्ट्र के लिए सदा विघातक रहा है। किसी वर्ग व दल विशेष के प्रति अन्ध श्रद्धा बड़ी घातक हुआ करती है। केवल मात्र मेरे दल की मान्यता व रीतिनीति ही श्रेष्ठ है अपर की नही। इस प्रकार की भ्रान्त धारणा का परित्याग करके जो सत्य हो उसी की मान्यता स्वीकार करनी आवश्यक है क्योकि कोई भी ऐसा दल विशेष नही

हो सकता जिसके सभी सदस्य सद्भावना वाले व सदाशयी हो अत.—

> श्रेणीमोहः परित्याज्यो स्वयं सत्यञ्च सर्वशः ।
> नैवैकस्मिन् दले सर्वे भवन्तीह महाशयाः ॥
> (वि० ग्रं० १२८-५७)

स्वार्थ परायण व्यक्ति राजनेताओं से अपना स्वार्थ साधन हेतु उनकी छद्म सेवा मे रहता है अत नीतिकार की मान्यता है कि इस वृत्ति को छोड़कर नागरिको को चाहिए कि राष्ट्र के सम्पूर्णोदय के लिए कार्य करे.—

> हंहो धूर्ताः परित्यज्य व्याजसेवा भज्यताम् ।
> विधेया कापि सा सेवा यया सर्वोदयो भवेत् ॥
> (वि० ग्रं० १२८-५८)

राष्ट्र जीवन के सर्वाधिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसके नागरिको मे एकात्म भावना हो। एकात्म भाव के अभाव में राष्ट्र विघटित हो जाता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि रामायण काल में हमारे देश में एकता थी जिसके कारण रामराज्य का आदर्श आज भी विश्व मे है जबकि महाभारत काल के पारस्परिक वैमनस्य से राष्ट्र विघटित हुआ जिसका परिणाम अब तक हमारा देश भोग रहा है। इसी एतिहासिक सत्य के परिप्रेक्ष्य मे नीतिकार हमे एकता का सदेश देता है।

धर्म, नीति और राजनीति की मान्यताओं मे व्यवहारगत अन्तर का होना स्वाभाविक है। धर्म का सम्बन्ध जहां व्यक्ति के वैयक्तिक आध्यात्मिक जीवन विकास से है। अत. उसमें क्षमा, दया व अक्रोध आदि उदात्त मानवीय गुणों की महत्ता है। जबकि राजनीति मे ऐसी अनेक परिस्थितियाँ एवं समस्याएं आती रहती हैं जिनके समाधान के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद आदि नीतियो को स्वीकार करना आवश्यक होता है। यदि दण्डनीय व्यक्ति को उचित दण्ड नही दिया जाता है तो वह बड़ा अहित- कर सिद्ध होता है अत. राजनीति में शठ के प्रति शठता का व्यवहार नही किया जाय तो उसे शठ पोषक ही कहा जायेगा.—

> शठे शाठ्यं हि सन्नीतिः शठे शाठ्यं समाचरेत् ।
> शठे शाठ्यं न यः कुर्यात् स ज्ञेयः शठपोषकः ॥
> (वि० ग्रं० १३२-९०)

जो क्षमा के पात्र नहीं हैं उन्हें क्षमा करना पाप है। ऐसे व्यक्तियों के लिए क्षमा ही क्षम्य है:—

> अक्षम्येऽपि क्षमा पात्रं क्षम्य एव क्षमा क्षमा ।
> तत्रादण्ड्योऽपि दण्ड्यः स्यात् यत्र दण्ड्यो न दण्ड्यते ॥
>
> (वि० ग्र० १३२-६१)

यद्यपि हमारे विशाल मानस क्षेत्र से क्षमा की द्युति सदा विभासित रहती है किन्तु यह मातृरूपा क्षमा निर्दयी को प्राप्त नहीं होनी चाहिए। नीच व्यक्ति कभी यह नहीं कहता कि मैं नीच हूं अपितु वह सदा अपने आपको आदर्श रूप में ही प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है तथा अपने कल्मष रूप को बड़े कौशल के साथ छिपाने का प्रयत्न करता है किन्तु उसका वास्तविक रूप इस प्रकार छिप नहीं सकता.—

> ब्रूते न नीचोऽहमिदं हि नीचो—
> न नीचता किन्तु तिरोहिता स्यात् ।
> गुप्तापि सा विस्फुटतीह काले
> व्रणे यथा पूयमयो विकारः ॥
>
> (वि० ग्र० १३२-६४)

ऐसे हीनतम्-वृत्ति वाले व्यक्तियों को नीतिकार स्पष्ट रूप में संबोधित करता है कि हे दंभियों ! तुम क्यों लोगों को वंचना के द्वारा धोखा दे रहे हो ? तुम्हारे इस दंभ का अस्तित्व क्षणिक है और सत्य की स्थिति शाश्वत व स्थायी है। अतः यदि तुम वास्तव में सच्चाई के साथ लोकहित में लग जाओ तो निश्चय ही यशस्वी बनोगे अन्यथा तुम्हारे पाप के फलस्वरूप तुम्हारा पतन ध्रुव है:—

> रे दम्भिन् किमु लोकवञ्चनरतो भ्रान्तान् विधत्से जनान्
> दम्भस्य स्थिरता क्षणाय सततं सत्यस्थितिः शाश्वती ।
> सत्या लोकहिताय चेत्तव रतिः कीर्तिस्तदा प्राप्नुयाः
> नोचेत् निश्चितमेव तेऽपि पतनं पापस्य पाको ध्रुवः
>
> (वि० ग्र० १३३-६५)

राष्ट्र के सशक्त एवं उज्ज्वल विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसका प्रत्येक नागरिक अपने कर्त्तव्य और अधिकार का ज्ञान रखता है

उसके अभाव में उसका व्यवहार अमर्यादित ही होगा एतदर्थ शोक शिक्षण की नितान्त आवश्यकता है।

सामाजिक असन्तोष एवं कटुता का मूल कारण सामाजिक राग-द्वेष की भावना है यदि प्रारम्भिक अवस्था में ही इसका शमन व परिमार्जन कर दिया जाय तो ठीक है अन्यथा यह शनैः शनैः बढ़कर भीषण व घातक रूप धारण कर लेती है —

रागद्वेषौ समुद्भूतौ नियम्यौ तत्क्षणं जनैः।
शनैः शनैः प्रवृद्धौ तौ भवेतां भीषणौ पुनः॥
(वि० प्र० १३४-१०४)

जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि आत्मपद की प्राप्ति है इसके लिए यह आवश्यक है कि सावधानी के साथ शान्तमन से प्रत्येक कार्य का चिन्तन कर जीवन के क्षेत्र में आगे बढ़ें, प्रमाद व दीर्घ-सूत्रता जगत् की महत्व नहीं। कुछ करने पर ही मनोनिश्चित साध्य की प्राप्ति हो सकती है:—

विचिन्त्यते यत् क्रियते न तच्चेत न तेन सिद्धि र्भवितेह काचित्।
किञ्चित् करोत्येव जनश्च कुर्वन् निधेहि तस्मात् स्वमनः क्रियायाम्॥
(वि० प्र० १३४-१०६)

व्यक्ति व्यक्ति को एक सूत्र में बांधने वाली वाणी है अतः इसके प्रयोग में सावधानी आवश्यक है। विवेक के बिना इसका प्रयोग उचित नहीं। सदा विचार कर ही बोलना समीचीन है। मधुर व प्रिय भाषी के वचन सुनने के लिए संसार सदा आकुलित रहता है:—

वचो विचार्यैव सदाभिधेयं विना विवेकम् नहि तत् प्रयोज्यम्
तस्य प्रयोगे निपुणः प्रवीण—स्तदाकुलस्त्वाकुल एवं लोके।
(वि० प्र० १३४-१०७)

यदि असफलता निराशापूर्ण मनःस्थिति की जननी है तो सफलता दंभ एवं अहं की जन्मदात्री है। इस प्रकार विवेक के अभाव में इन दोनों का ही परिणाम मन-क्षोभ कारक है। किन्तु यदि चिंतन की दिशा व स्वरुप में उचित परिष्कार कर लिया जावे तो इस क्षोभ से बचा जा सकता है। हमारा मान्य नीतिकार इस दिशा में प्रबोधित करता हुआ कहता है, कि 'भाई यदि तुम सफलता में मोदानुभव करते हो तो विफल स्थिति में खिन्न क्यों होते हो? क्योंकि दोनों ही स्थितिएं विधाता द्वारा विनिर्मित हैं। अतः विज्ञ जनों को चाहिए कि वे सफलता और विफलता में समस्थिति में रहें':—

साफल्ये यदि मोदसे विफलतावाप्तौ कुतः खिद्यसि
सिद्धं द्वे विधिनिर्मिते भगवतो संसिद्ध्यसिद्ध्यात्मिके ।
साफल्येऽपि पराभवः परमहो गुप्तः क्वचित् सुस्थितेः
वैफल्ये च तथैव कश्चन जयो विज्ञः स्मृतौ तौ समौ ॥
(वि० ग्रं० १३५-११०)

यह मेरे देश का नही है, यह मेरी जाति का नही है। इस प्रकार की भेद भावना अज्ञ व सकीर्ण वृत्ति वाले किया करते है। हम भारतियो के लिए तो यह समस्त ससार भ्रातृत्वभाव से समन्वित है:—अतः नीति-कार 'माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्या' की वैदिक भावना को विभावित करता हुआ कहता है कि मानव जाति के लिए यह आवश्यक है, कि वह विश्व बन्धुत्व की भावना का विकास करे.—

न को देशः स्वदेशो नः बान्धवा न च के मये
मर्त्या एकः वयं सर्वे मातास्माकञ्च भूरियम्
(वि. ग्रं. १३६-१२१)

हम अपनी स्वार्थ दृष्टि के कारण लोगों को अपने पराये की सकीर्ण सीमा मे आबद्ध करते हैं किन्तु श्री शास्त्री की मान्यता है कि कोई भी पर-कीय नही है यदि हमारी दृष्टिप्रेममयी है तो सारा ससार अपना ही परि-लक्षित होता है:—

अपरं मन्यसे यं त्वं न परः स परः सखा।
प्रेमार्द्रा यदि दृष्टिस्ते सर्वम् प्रेममयं जगत् ॥
(वि. ग्रं. १३६-१२२)

विश्व बधुत्व की भावना के प्रोद्दीपन के लिए जिस व्यापक दृष्टि-विकास की आवश्यकता है उसके लिए हमे सभी के सुख मे अपना सुख और सर्वहित में अपना हित जानना आवश्यक है। सभी प्राणियो को अपने प्राण प्रिय हुआ करते है। अतः 'सर्वभूत हिते रता' यह महान् पुण्य है। यही सत्य धर्म है। इसी धर्म की परिपालना मे ईश्वर सन्तुष्ट होते है। अत हम ऐसा कार्य करें जिसमे वह शीघ्र ही क्षुद्र विचारों का शीघ्रातिशीघ्र परित्यजन करें:—

विश्वदृष्ट्यैव विश्वात्मा विश्वं पुष्णाति सन्ततम्।
दृष्टिः क्षुद्रा ततो हेया विधेया विश्वदर्शिनी॥
(वि. ग्रं. १३७-१२५)

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अभेद्य व अभिन्न है। अतः भेद ज्ञान अच्छा नहीं। इस विषय में श्री शास्त्री ने वेद वाणी 'सहनाववतु सहनौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै तेजस्विनावधीतमस्तु' की भावना से हमें सम्प्रेरित करते हुए कहते हैं कि हम सदा मन वचन व कर्म की एकता को सम्पादित करने वाली वाणी बोलें तथा एक साथ ही जीवन पथ पर एक साथ प्रसरित हों.—

अभेद भेद बुद्धिः किम् ज्ञान द्वैधेन लभ्यते।
सम्वदध्वं सदा सर्वैः सङ्गच्छध्वञ्च सर्वदा॥
(वि० ग्रं० १३७-१२७)

शाश्वत सिद्धान्त नय

नीति निर्देशनों के इन अनेक रूपों के अतिरिक्त कुछ नीति सिद्धान्त शाश्वत मूल्यों वाले भी होते हैं जिनका महत्व सार्वदेशीय व सार्वकालिक हुआ करता है। इनका सीधा सम्बन्ध मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के चरण, धर्म व दर्शन आदि से होता है। श्रीयुत् शास्त्री ने इस प्रकार के सनातन सत्यों को उद्घाटित, पोषित एवं संवर्धित करने वाले अपने अनुभूत निर्देश—'मांगलिकम्', प्रास्ताविकम्', 'मानव जीवन वैचित्र्यम्', तथा 'जीवन गति' आदि विचार सरणियों में प्रस्तुत किये हैं.—

विकास जीवन का उद्देश्य है और इस विकास के लिए किसी सहायक विशेष की आवश्यकता है किन्तु व्यक्ति स्वयं ही अपना सहायक बन सके तो वह सबका सम्माननीय हो सकता है ऐसे स्वावलम्बी जीवन के लिए नीतिकार अपने प्रथम मंगल श्लोक में ईश्वर से कामना करता है:—

स्वतो यस्य समुद्भूतिः स्वयं यश्च समेधते।
स्वतः सोऽस्मान्प्रभुर्नित्यम् प्रकुर्यात् स्वावलम्बिनः॥
(वि० ग्रं० १२३-१)

स्वावलम्बन के लिए यह आवश्यक है कि हमारे जीवन में निराशा

का लेश मात्र भी प्रभाव न हो और निराशा निराकरण के लिए हमें प्रेरणा मिलती है सत्काव्य से। अतः कवि अपने प्रास्ताविकम् में कहता है:-

कवे ! कवय काव्यं तद येन जीवन—वल्लरी
अपि नैराश्य हेमन्त्या क्षुण्णा तिष्ठेत् प्रफुल्लिता
(वि० ग्र० १२३-३)

इस प्रकार कवि कविजनों को यही परामर्श देता है कि वे सद् काव्य की रचना करें जिससे निराशा-रूप हिम से मुर्झायी जीवन लता पुनः आशा और विश्वास से लहलहा उठे।

प्रकृति के इस जगत रूपी शिक्षणालय में मानव को शिक्षित करने की अनेक रीतियें विश्व नियन्ता ने बनाई हैं। अतः मनुष्य को चाहिये कि वह उसके समक्ष जो कुछ भी घटित हो उससे वह कुछ न कुछ शिक्षा प्राप्त करे:—

शिक्षाया रीतयो नाना प्रकृतेः शिक्षणालये
समेति सम्मुख यद्यत् शिक्षा ग्राह्या ततस्ततः
(वि. ग्रं. १३०—६८)

काल की गति भिन्न होती है और विभिन्न व्यक्तियों का स्वभाव भी अलग होता है किन्तु रस भिन्नता जन्य अनुभूति का आनन्द वे ही उठा सकते हैं जिनकी जीवन दृष्टि अनन्त हो.—

कालस्य गतयो भिन्ना भिन्नाः सन्ति स्वभावतः।
अनन्तं जीवनं येषाम् सर्वं तैरनुभूयते ॥
(वि० ग्रं० १३०-७०)

इस अविगत काल के स्पष्ट रूप का आभास प्रायः हम अपने जीवन में उस समय अनुभव करते हैं जब हम कभी कभी तीव्र शोक जनक स्थिति के उत्पन्न होने पर सर्वत्र शून्यता का अनुभव करते हैं किन्तु फिर एकाएक भयावह निराशा के मध्य में से आशा की किरण फूट पड़ती है।

इसके अतिरिक्त दु.ख जन्म परिस्थिति के आने पर ऐसा लगता है कि अब अन्धकार दूर नही होगा, समस्याओं का अन्त संभव नही किन्तु

वास्तविकता यह है कि वे स्थिति क्षणिक होती हैं। काल पुरुष उसे अपने आप में समाहित कर लेता है। इस क्षणिक संसार में स्थायी कुछ भी नहीं।

> दुःखऽचेदागतं किञ्चित् स्याता तन्नु किमर्चिरम्
> क्षणिकेऽस्मिन् भवे किं तत् शाश्वतं यत् तिष्ठति
> (वि० प्र० १३०-७३)

प्रकृति नटी अनेक बार अनेक प्रकार से भयंकर व भीषण खेल खेला करती है। जिससे समस्त प्राणि मात्र भयग्रस्त होकर 'कि कर्त्तव्य विमूढ' हो जाता है। इस प्रकार की दुर्दम्य आपद् कालीन स्थिति में संत्रस्त मानव जागतिक जीवन के अस्तित्व के प्रति आशंकित हो जाता है। किन्तु इस घोरनिराशामय वातावरण में भी मनुष्य को हताश होने की आवश्यकता नही। भावों के प्रति व्यर्थ ही विकल न होकर उसे यह सोचना चाहिए कि जिस अज्ञात परम सत्ता ने इस अनुपम सृष्टि की रचना की है वह स्वय ही अपनी इस रचना की सुरक्षा करेगा। स्वकीय कृति का रक्षण व संवर्धन करना उसका स्वय सिद्ध स्वभाव व अधिकार है।

> येनैव सृष्टाऽनुपमा स्वसृष्टिः
> स्वयं स तस्याः कुरुते सुरक्षाम्
> स्वाभाविकीयं खलु तस्य वृत्तिः
> व्यर्थं किमर्थं विकलेन भाव्यम् ॥
> (वि० प्र० १३४-१०३)

मानव क्या है ? और क्या नही, इस प्रश्न का कोई समाधान नहीं। मानव वेत्ताओं ने मनुष्य की अनेक मानसिक ग्रन्थियों का पता लगाया है किन्तु उसका सही सश्लेषण व विश्लेषण अभी वे नही कर पाये है। मानव मन की उच्चता व निम्नता का कोई माप सूत्र अभी नही खोज सके हैं। प्रत्येक समाधान से एक प्रश्न का जन्म हो रहा है। मानव मन और जीवन के इसी वैचित्र्य की ओर सकेत करते हुए कहते है–मानव का स्वभाव कैसा विचित्र है। प्रथम क्षण में वह विश्वव्यापी दृष्टि धारण करता है तो दूसरे ही क्षण अत्यन्त दीन व हीन वृत्ति का आखेट बन जाता है। प्रथम क्षण में उसकी विशालता स्वरूप को प्राप्त हुई प्रतिभासित होती है तो दूसरे ही क्षण वह किसी अधमतम कीट से भी पतित प्रतीत होने

लगता है:—

> अहो विचित्रा मनुजस्य वृत्तिः
> क्षणे विशाला कृपणा क्षणेन ।
> ब्रह्मस्वरूपा प्रथम—क्षणे चेत्
> कीटेन हीनापि परक्षणे सा ॥
> (वि० प्र० १३५-१११)

इस संसार में जीवन का स्वरूप क्षणिक है और उसके कृत्यों व रचनाओं का अन्त नहीं। क्योंकि नित्य नवीन योजनाओं की कल्पना व रचना दृष्टि से जिसका मन मस्तिष्क सदा परिपूर्ण रहता है ऐसा अनेक एषणायुक्त तृष्णावतार मानव जिस संसार में है वह तो अद्भुत व आश्चर्य-जनक होगा ही:—

> क्षणमितं जीवनमस्ति सर्वम्
> मिति नं काचिच्च भवे कृतीनाम् ॥
> किमत्र चित्रं जगति प्रकृत्या
> तृष्णावतारो यदि मानवः स्यात् ॥
> (वि० प्र० १३५-११२)

नीतिकार स्वयं ही इसका उत्तर भी देता है कि जो करुणा से पूर्ण व्यक्ति दूसरे की रक्षा के लिए अपनी समस्त कामनाएं व शरीर का भी उत्सर्ग कर दे तथा उसके लिए सभी कुछ समाप्त करने को उत्सुक हो ऐसा मानव ही वास्तव में इस सृष्टि की विचित्रता है:—

> कामं स्वदेहं विनिपातयेद्यः कारुण्यपूर्णः पररक्षणाय ।
> स्वार्थाय सर्वान् विनिहन्तुमिच्छुः स एव सद्यो भवतीति चित्रम् ॥
> (वि० प्र० १३५-११३)

इसके अतिरिक्त एक अन्य विचित्रता भी मानव व्यवहार की है। हम देखते हैं कि वह अपने जीवन को सब प्रकार से सौख्य पूर्ण करने के लिए अपरजनों को बड़े से बड़ा कष्ट देने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करता ।

किं किं न दुःखं न जनो जनेभ्यो
दत्ते न लोके स्वसुखाय हन्त ।
अद्यापि दृष्टो नहि किन्तु कश्चिन्
पूर्णेन सौख्येन भुवि प्रपूर्णः ॥
(वि०प्र० १३५-११४)

हिंसा व अहिंसा का प्रश्न बड़ा विचित्र है इस विषय में आलोच्य नीतिकार की मान्यता है कि अहिंसा वास्तव में मानव जीवन का सार है किन्तु हिंसा की स्थिति भी नियति व प्रकृति के लिए पूर्णतः उपेक्षित हो ऐसा नही हो सकता किन्तु वास्तव में देखा जाय तो प्रकृति जितनी हिंसा की अपेक्षा करती है उसका प्रतिफल ही अहिंसा है। अतः समय के अनु-कूल आचरण ही चाहे वह हिंसा युक्त हो अथवा अहिंसा रूप वही वास्तव मे धर्म है.---

अहिंसनं मानवधर्मसारः हिंसापि किन्तु प्रकृतावपेक्ष्या ।
क्वचित्तथैवेह भवत्यहिंसा कालानुकूलो मनुजस्य धर्मः ॥
(वि० प्र० १३६-११५)

समस्त संसार मानव केन्द्रवर्ती है। मानव के बिना इसका कोई अस्तित्व नही। जगत् का कण कण उसके उपयोग व प्रयोग के लिए है इस तथ्य से मनुष्य अवगत होते हुए भी उसको नष्ट करना चाहता है। यह कृत्य उसके स्वयं के आत्म हनन के समान है। जगत के प्रशिक्षण केन्द्र में जीवन रचना की शिक्षा पाते हुए मनुष्य का कितना समय बीत गया किन्तु वह अभी तक भ्रमित मन से भटक ही रहा है। क्या अब भी उसने सत्य को नही जाना ? यह भी एक वैचित्र्य ही है:—

अहो व्यतीतो नु कियान्न कालः
प्रशिक्ष्यमाणस्य जनस्य लोके ।
भ्रमन्सदा भ्रान्तमतिर्जगत्याम्
अद्यापि किं किन्तु स वेत्ति सत्यम् ॥
(वि० प्र० १३६-११८)

प्राचीनता व नवीनता में मूलतः कोई भेद नही है क्योंकि नवीनता का मूल सूत्र तो मुख्यतः प्राचीनता से ही संलग्न रहता है किन्तु फिर भी मानव दृष्टि तो नवीनता की ही वाञ्छना करती है:—

प्राचीनतायाञ्च नवीनतायाम् भेदो न कश्चित्परमार्थतोऽस्ति।
तथापि नियम् मनुजस्य दृष्टिः विगाहते नव्यमियं स्वभावात्॥

(वि० प्र० १३६-११९)

जीव जगत् की सब प्रकार की मान्यताओं में सदा परिवर्तन होता रहता है। आज जो मान्यता स्तवन योग्य है परिस्थिति परिवर्तन के फलस्वरूप कल वह निन्दनीय भी हो सकती है। अतः यद्यपि स्तुति व निन्दा वृत्ति लोगों का सहज गुण है किन्तु उपर्युक्त परिस्थिति विशेष के कारण यह निर्णय करना सभव नहीं कि किसकी निन्दा करें और किसकी स्तुति?—

स्तवनं निन्दनञ्चैव लोकानां सहजो गुणः
स्तूयते निन्द्यते किं तं रेतन्नाद्यापि निश्चितम्

(वि० प्र० १२५-२९)

'सत्य मेव जयते नामृतम्' इस सूक्ति के अनुसार सदा सत्य की ही विजय होती है अनृत की नहीं। इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए नीतिकार कहता है कि भय विहिन चित्त से सदा सत्य व स्पष्ट भाषण ही करना चाहिये इसकी कभी चिन्ता मत करो कि इसे कोई सुनता है कि नहीं। यदि सत्य है तो आज नहीं तो कल अवश्य सुना जायेगा.—

स्पष्टं वद सदा स्पष्टं सत्यं निर्भीक चेतसा।
श्रूयते नाद्य येनैतत् तेनश्वः श्रोष्यते ध्रुवम्॥

(वि० प्र० १२६-३०)

स्वामी विवेकानन्द ने एक स्थान पर कहा है कि 'दुनिया क्या कहेगी? कोई मुझ पर हसेगा क्या? ऐसे दुर्बल विचारों को मन में न आने देकर अपने को उचित लगे वैसा ही किये जावो'[1] स्वामी जी के इन उदात्त पौरुष युक्त वाणी के समान ही श्री शास्त्री जी कहते है:-ये क्या कहते हैं? और वे क्या कहते हैं? इसकी आशंका से कायर जन ही भ्रमित और कम्पित होते है जबकि साहसी व्यक्ति अपने मनोनुकूल आचरण कर साध्य को प्राप्त करके ही रहता है:—

---

१. विवेकानन्द साहित्य भाग–६ पृ. ३०७

क्रियेभिः कथ्यते किन्तैः कथ्येत इति शङ्किताः ।
खेपन्ते कातरा नित्यं साहसी लभते श्रियम् ॥
(वि० प्र० १२६-३३)

आशंकित मन स्थिति के कारण ही मनुष्य कभी सत्यासत्य का निर्णय नहीं कर पाता और वह यह सोचता रहता है कि यह कैसे कहूँ कि यह सत्य है ऐसी स्थिति में उदार-दृष्टि से देखते हुए जो उस समय उचित प्रतिभासित हो उसे ही सत्य स्वीकार करना चाहिए.—

कथ गरेयं महि सत्य मेतत्
समर्थयेते संरिद मेव चाद्य
प्रमाण मूर्तं न तदस्ति सर्वं
लोकस्य काचित् नियता न वृत्ति ।
(वि० प्र० १२६-३४, ३५)

समस्त संसार के सम्पूर्ण रूप से विरुद्ध होने पर भी मनस्वी अपने निर्धारित मार्ग का परित्याग नहीं करते। चूँकि मनस्वियों का मार्ग सच्चाई का मार्ग होता है और सत्य को जीतने में कोई समर्थ नहीं तथा सत्य बल की कोई सीमा भी नहीं.—

जाते विरुद्धे सकलेऽपि लोके नहाति मार्गं न निजं मनस्वी ।
सत्यं न जेतु क्षमते हि कश्चित् बलस्य काचित् न च सत्य सीमा ॥
(वि० प्र० १२६-३६)

इस प्रकार हमारे नीतिकार मान्य श्री विद्याधर ने अपने जीवन के दीर्घकालीन अनुभवों को अपनी सूक्ष्म व मेधावी प्रतिभा की कसौटी पर कसकर जो चिन्तन सूत्र 'नीति रत्नम्' के रूप में प्रस्तुत किये हैं उनका मानव जीवन के स्वस्थ व सुन्दर विकास के लिए विशेष महत्त्व है। निराशा जन्य कल्मष के निवारणार्थ जिस उज्ज्वल व दिव्य जीवन की ज्योत्स्ना की आवश्यकता है उन सभी की प्रस्तुति करने का यह स्पृहा-योग्य स्तुत्य प्रयास है।

---

१. तुलनीयः—निन्दन्तु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु भर्तृहरि नीति-८४

□ □ □

पंचम सोपान

नाटक, चम्पू एवं गद्य साहित्य

(क) नाटक

काव्य का दृश्य रूप

नाटक काव्य का दृश्यात्मक रूप है। इसको काव्य से भी श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है, क्योंकि काव्य में रसानुभूति के लिए अर्थ का समझना नितान्त आवश्यक है जबकि नाटक में इसकी आवश्यकता नहीं। अभिनय के माध्यम से मंच पर रसानुभूति दर्शक को स्वतः हो जाती है। अतः इसकी समता चित्र से की गई है[1]। भरत मुनि के अनुसार कोई भी ज्ञान, शिल्प विद्या योग अथवा कर्म ऐसा नहीं है जो नाटक मे नहीं दिखाई देता हो।[2]

संस्कृत नाटक का विकास व परम्परा

संस्कृत के नाटक साहित्य के उद्गम एवं विकास की गाथा प्राचीनतम है। भरत मुनि के अनुसार नाटकीय तत्वों के बीज वैदिक है तथा नाट्यशास्त्र पंचम वेद है। रामायण, महाभारत, अष्टाध्यायी तथा हरिवंश पुराणादि में नाट्य शास्त्र सम्बन्धी प्रयुक्त शब्दों से सिद्ध होता है कि द्वितीय शतक ई० पू० तक नाट्य शास्त्र पूर्ण रूप से विकास को प्राप्त कर

---

१. सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। यदि चित्रं चित्रपट वद् विशेष–साकल्यात्–वामन काव्य लंकार (सूत्र–१. ३. ३१)

२. न तदज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न साकला न सयोगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्नदृश्यते भरतः—(नाट्य शास्त्र १–११४)

चुका था। नाटकों के विकास में कतिपय तत्त्व वैदिक साहित्य में तथा कुछेक लोक गीतों व सामूहिक उत्सवों से गृहीत हैं। इस प्रकार संस्कृत नाटकों के पूर्ण विकास के इतिहास में शताब्दियों की अनेकानेक सामाजिक घटनाओं व उपकरण विशेषों का अपूर्व योगदान रहा है। प्राचीन नाटककारों में भास, कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त, भवभूति, नारायण भट्ट तथा हर्षवर्द्धन आदि प्रमुख हैं जिनकी कृतियाँ महती मूल्यवती हैं।

अभिनव संस्कृत नाटक साहित्य नवीन वर्ण्य व शिल्प आदि से युक्त होते हुए भी परम्परागत शैली, शिल्प तथा वर्ण्य-विषयों से सर्वथा मुक्त नहीं हुआ है। इस युग में लगभग ३०० से अधिक नाटकों की रचना हुई है। ये अभिनव नाटक देश के जिस प्रान्त विशेष में रचे गये, उस प्रान्त की लोक परम्पराओं की प्रतिच्छाया भी इन पर पड़ी है।

आलोच्य मनीषि के नाटक

अभिनव संस्कृत नाटक साहित्य सर्जकों में श्रीयुत् विद्याधर शास्त्री का विशिष्ट स्थान है। इनके तीन नाटक हैं किन्तु इनके द्वारा ही जिस नव परम्परा की स्थापना की ओर आपकी दृष्टि व लक्ष्य है वह स्तुत्य है। इनके तीन नाटक हैं—"पूर्णानन्दम्", कलिदैन्यम्" और "दुर्बल बलम्" इन्होंने अपने नाटकों के इतिवृत्त का विकास नये परिवेश में किया है। "पूर्णानन्दम्" के कथानक का आधार "पंजाब" "हरियाणा" तथा "राजस्थान" प्रान्त में प्रसिद्ध भक्त पूर्णमल की लोक कथा है। तथा "कलिदैन्यम्" प्रसिद्ध पौराणिक वृत्त परिक्षित और कलि से सम्बन्धित है। तथा 'दुर्बल बलम्' तिब्बत मुक्ति से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटना वृत्त पर आधारित है। इन तीनों नाटकों की रचना में नाटककार की विशेष लक्ष्य दृष्टि है। इनके घटना-चक्र विकास किसी एक काल विशेष की सीमा में आबद्ध न होकर सर्वव्यापी हैं तथा नायकों के विविध जीवन प्रसंगों को रचनाकार ने युगीन दृष्टि से संजोया व विकसित किया है।

अब आगे की पंक्तियों में क्रमशः तीनों नाटकों की सामान्य विवेचना प्रस्तुत की है—

☐ ☐ ☐ पूर्णानन्दम्

पाच अंकों में परि-समाप्य यह नाटक भक्त पूर्णमल की सुप्रसिद्ध

लोककथा का आधार लिए हुए है। लोक कथा की प्रस्तुति श्री शास्त्री ने अपने विलक्षण ढंग से इस प्रकार की है कि लगता है कथा का आधार मानो वैदिक हो। घटनाक्रम, चरित्र विकास व लक्ष्य दोनों में ही ऐसा मुनस्तुत्य संशोधन व परिवर्तन रचनाकार के शिल्प चातुर्य का परिचायक है। इस शिल्प-सौन्दर्य के फलस्वरूप मूल वस्तु वृत्त में जो परिवर्तन परिलक्षित होता है वह अद्वितीय व अद्भुत है।

लोक कथा का संक्षेप

"स्याल कोट" की रानी "ईच्छरा" के गुरु गोरखनाथ की कृपा से पुत्ररत्न हुआ। क्रूर ग्रहों के दोष निवारणार्थ जन्म लेते ही नव-शिशु पूर्णमल को माता पिता से विलग रखा गया। दुर्भाग्य से इस लम्बे समय में राजा "ईच्छरा" से विरक्त होकर "नूनादे" नामक नव सुन्दरी से विवाह कर लेता है। १६ वर्ष के पश्चात् पूर्णमल के घर लौटने पर प्रथम बार "नूनादे" पूर्णमल को देखती है। उसके स्वस्थ व सुन्दर रूप को देखते ही वृद्धभार्या "नूनादे" उस पर कामासक्त हो जाती है, और अपनी कामेच्छा उस पर व्यक्त कर देती है। सौतेली मां की इस घृणित कामवासना को चरित्रवान पूर्णमल ठुकरा देता है। काम-प्रस्ताव के ठुकराने पर "नूनादे" कुपित नागिन के समान उससे प्रतिशोध लेने को उद्यत होती है और अपने वृद्ध पति के समक्ष पावन चरित्र वाले पूर्णमल पर दूषित चरित्र का आरोप लगाकर इस निरपराध-युवक को प्राण दण्ड दिलाने में भी संकोच नहीं करती। पूर्णमल के निष्कलंक जीवन से जल्लाद भी प्रभावित थे। अतः उन्होंने उसे मारा नहीं अपितु सुदूर जंगल में किसी अंध-कूप में डाल दिया। इधर 'ईच्छरा' की स्थिति तो दयनीय थी ही किन्तु राजा 'नूनादे' के अन्ध प्रेम में आसक्त होने के कारण पुत्रवध जैसे पाप से भी दुःखित नहीं था।

गुरु गोरखनाथ अपने योगबल से समस्त घटना को जान लेते हैं और अपने भक्त पूर्णमल को अन्ध-कूप से निकालकर अपना शिष्य बनाकर अपने आश्रम में ले जाते हैं। एक तपस्वी के समान पूर्णमल कठोर जीवनचर्या यापित करता है। कठोर तपश्चर्या तथा अखण्ड ब्रह्मचर्य बल से 'पूर्ण' का चेहरा चमक उठता है। एक दिन गुरु आज्ञा से वह तरुण तपस्वी नगर में भिक्षा हेतु जाता है, वहां पर काम की उस पर कुदृष्टि पड़ती है एक नवयौवना उसे देखती है और उस पर परम आसक्त हो उठती है।

अपना प्रणय प्रस्ताव रखती है किन्तु पूर्ण तपस्वी पूर्णमल उसके प्रस्ताव को ठुकराकर आश्रम में लौट आता है और वह आसक्त यौवना आत्महत्या कर अपनी जीवन लीला समाप्त कर लेती है। उधर पूर्णमल पुनः अपने शील-संयम और तपस्या में तल्लीन हो जाता है। 'पूर्ण' में प्रौढ़ता आती है और उसका तेजोमय आनन एक दिव्य-विभा से विभासित हो उठता है। फिर एक दिन गुरु उसे अपने माता पिता से भिक्षा लाने की आज्ञा देते हैं और भक्त पूर्ण गुरु आज्ञा पालन हेतु 'स्यालकोट' नगर में आता है। 'ईछरा' 'नूनादे' और 'राजा' तीनों ही उसे पहचान जाते है। वृद्ध राजा को अपने कुकृत्यों पर बड़ा पश्चात्ताप होता है। वह और ईछरा उसे रोकने के लिए बहुत अनुनय विनय करते हैं किन्तु अब पूर्ण के लिए गुरु आज्ञा ही सब कुछ थी। वह भिक्षा लेता है तथा 'नूनादे' के पुत्र को सुशासक बनने का आशीर्वचन देकर पुनः गुरु आश्रम को लौट जाता है। माता 'ईछरा' को दारुण दुःख होता है किन्तु क्या करे बेचारी विवश थी।

इसी लोक कथा को आधार बनाकर श्री शास्त्री ने अपने इस पचांकी नाटक की रचना की जिसका कथावृत इस प्रकार है—

पूर्णानन्द का वस्तु विधान

प्रथम अंक

सूत्रधार द्वारा प्रस्तावनोपरान्त शीतलकोट के समाज को राजकुमार के जन्मोत्सव की सूचना दी जाती है:—

सूत्रधारः—अरे, चिराद्-यत्समीहितमासीत् तदेव नः सम्पन्नम्। गुरुवरस्य गोरक्षनाथस्य वर-प्रसादोऽद्य मूर्तिमान् भूत्वा महाराजस्य शैलेन्द्रस्य गृहे समवतीर्ण इति प्रतीयते ? तत एवेयं मंगलमोदि मयी नर्तन—भंकृतिः परितः प्रसरन्ती नर्तयति सर्वेषामेव नः चेतांसि।

(पू० न० अं० १)

किन्तु ज्योतिषियों की भविष्य वाणी से यह आल्हाद स्थिति शीघ्र ही किसी गम्भीर वातावरण में बदल जाती है। पुत्र के क्रूर-ग्रहों के कारण राजा को १६ साल तक विलग रखना पड़ेगा:—

पुत्रोऽसौ नियतं विलक्षणगुणः कश्चिन्महान् संयमी
पित्रोः स्यादनुमश्च, / दर्शनसुखं नैवाप्नुतः किन्तु तौ।

आदौ षोडशवर्षापिकी प्रहगतिस्तद्रोधिनी दृश्यते
को जानाति घटेत किं परमितः पुत्रः शतायुः परम् ॥
(पू० न० अं० १ श्लो० १२)

अन्ततो गत्वा उसके पालन–पोषण व शिक्षा व्यवस्था का भार अपने राज–पुरोहितों को राजा बड़े दुःखित मन से सौंप देता है। खिन्न मना राजा कुछ समय के पश्चात् अपने इस मनविषाद के निवारणार्थ विदेश भ्रमण को प्रस्थान कर जाते हैं।

द्वितीय अंक

अनेकानेक देश विदेशों में परिभ्रमण करता हुआ नरेश अपनी मानस व्यथा से मुक्त होता है। इस भ्रमण काल में जब वह वाल्हीक देश में पहुँचता है तो उस प्रदेश की सामन्त कन्या 'नवीना' के रूप सौन्दर्य पर आसक्त हो जाता है, और यह प्रेम शीघ्र ही उन्हे परिणय सूत्र मे आबद्ध कर देता है। यद्यपि राजा और नवीना की आयु मे बड़ा अन्तर था किन्तु आसक्ति अन्धी होती है। राजा नवीना के साथ वापस अपने राज्य में लौटता है और नवीना के साथ इतना अधिक भोगग्रस्त हो जाता है कि राज्य के सामान्य दैनिक–कार्य भी मन्त्रियों को ही करने पड़ते हैं। राजा की इस मोहासक्ति से सर्वाधिक कष्ट 'पूर्ण' की माता एव पूर्व महारानी 'अक्षरा' को होता है। उसे राजा की अपने प्रति अनासक्ति से इतना दुःख व चिंता नही है अपितु वह राज्य के भावी के प्रति ज्यादा आशंकित है क्योंकि वह विदुषी इस बात को अच्छी प्रकार से जानती है कि कामाग्नि से पीड़ित व्यक्ति का विवेक नष्ट हो जाता है और अविवेकी अधिकार सम्पन्न व्यक्ति कब किस भयावह अवस्था मे पहुंच जावे इसका पता नही चलता।

तृतीय अंक

पुरोहितों के द्वारा पोषित, सुशिक्षित एवं सुसंस्कारित १६ वर्ष का राजकुमार पूर्ण घर लौटता है। सभी को आनन्दानुभव होता है। युवराज की मर्यादा के अनुसार उसका स्वागत सत्कार किया जाता है। माता अक्षरा का आनन्द तो सीमातीत है। चारों ओर आनन्द और आल्हाद का वातावरण छा जाता है। पूर्ण के इस स्वागत सत्कार के हेतु उसकी धवल कीर्ति को लक्षित करते हुए नाटककार लिखता है:—

स्वयं विकासो गुणिनो गुणानां विकासकारतत्र निमित्त मात्रम्
यद्रत्नमाभाति गुणःसतस्य प्रभाकरो पश्यति योध्यमाणः
(पू०नं० अं० ३ श्लो० ४)

पूर्ण के आगमन पर यद्यपि सर्वसाधारण जन अति आनन्दित है किंतु मंत्रिगण और नवीना तथा उसके विश्वस्त भृत्य इससे मन ही मन व्यथित है, क्योंकि मंत्रिगण यह अनुभव करते हैं कि 'पूर्ण' के आ जाने पर उनके हाथ से सत्ता चली जायेगी। अत. वे पूर्ण को सत्ता में न आने देने का षड्यन्त्र रचते हैं और नवीना के माध्यम से राजा को इस बात के लिए सहमत कर लेते है कि पूर्ण को अभी पूर्ण अधिकार सम्पन्न युवराज कार्योचित भार न सौंप कर कुछेक सामान्य स्तर के मन्त्रालय दिये जावें और उसे धर्मस्थान आदि से सम्बन्धित विभाग के कार्य सम्पादन का भार सौंपा जाता है। इसी समय एक दिन माता अक्षरा की आज्ञा से युवराज पूर्ण नवीना की नमस्क्रिया हेतु उसके प्रासाद मे जाता है। अतृप्त-वासना 'नवीना' पूर्ण के स्वस्थ व सुन्दर रूप को इतनी निकटता से देखकर उस पर आसक्त हो जाती है और वह उससे कुछ ऐसा प्रस्ताव कर बैठती है जो कि उसकी मर्यादा के विपरीत रहा। पूर्ण नवीना के इस घृणित प्रस्ताव को अस्वीकृत कर देता है फल-स्वरूप क्रुद्धा नवीना इसका भयंकर प्रतिशोध लेने के लिए इस निर्मल चरित्र वाले पुत्र पर चरित्र-हनन का मिथ्या कलंक लगाकर उसे राजा से मृत्यु दण्ड दिलवा देती है।

अपने प्राण प्रिय निर्दोष पुत्र को मृत्यु-दण्ड दिया गया है यह सुनकर रानी 'अक्षरा' राजा के पास अपने निर्णय पर पुनर्विचार के लिए जाती है और इस विषय मे अपने पति से अनेक प्रकार से अनुनय करती है किन्तु राजा को 'नवीना' के कथन व चरित्र पर पूर्ण विश्वास था अतः वह 'अक्षरा' की प्रार्थना पर ध्यान नही देता अत. अपने पुत्र को नरक कारण मानता है:—

त्रायते नरकाद्यस्मात् पुत्रोऽसौ परिकीर्त्यते
पातयन् निरये घोरे कथपुत्रत्वमर्हति ।
(पू० नं० अ० ३, श्लो० १७)

अपने निर्णय को बिना परिवर्तित किये वधिकों को वध का आदेश देकर उनके साथ पूर्ण को जंगल में भेज देता है। वास्तविकता को

वधिक भी जानते थे अतः उन्होंने युवराज का वध नहीं किया अपितु उसको नियति पर छोड़कर अन्धकूप में डालकर पूर्ण के वध के प्रमाणीभूत किसी मृग की दो आंखे राजा को लाकर दे दी।

चतुर्थ अंक

वधिकों के लौट जाने पर पूर्ण 'अन्धकूप' में गिरा हुआ अपने भाग्य पर चकित व चिन्तित है और भावी के प्रति प्रतीक्षारत है। इसी समय सिद्धयोगी गुरु गोरखनाथ अपने शिष्य समूह के साथ निकलते है। अन्धकूप मे किसी की आहट पाकर वे उसके पास आते हैं और पूर्ण को कूप से बाहर निकाल कर उसे अपने शिष्य के रूप में दीक्षित कर अपने साथ ले जाते हैं। कुछ समय तक कठोर-तपश्चर्या कराकर उसे एक योग्य शिष्य समझकर अपने नगर 'शीतल कोट' जाकर वृद्ध राजा तथा माता 'अक्षरा' की सेवा की आज्ञा देते है और राज्य कार्य में भी अनासक्त भाव से योगदान देने की प्रेरणा देते हुए कहते है:—

> प्रतीक्ष्यमाणे हि चिरात् प्रजाभिः रूद्धे ह्यकस्मात् तव यौवराज्ये।
> भृशं विलापेन युताऽक्षरामूत् रोषो जनानाम भवच्च दीप्तः॥
> हताधिकारो विहितो नृपस्तै-स्तिरस्कृतास्तैरथ ते विमाता।
> राजप्रपञ्चः निखिला विशीर्णा जाता जनाः कष्टशतैश्च पूर्णैः॥
>
> (पू० न० अ० ४, श्लो०-११-१२)

गुरोराज्ञाऽनुलंघनीया मानकर पूर्ण आश्रम से अपने नगर की ओर प्रस्थान करता है। यात्रा लम्बी होती है अतः पूर्णानन्द मार्ग में भिक्षा पाने के लिए एक ऐसी नगरी मे चला जाता है जहाकी प्रशासिका एक सुन्दरी होती है तथा जो सन्यासी मात्र के प्रति अतीव विरोधी-भाव रखती थी। अतः सन्यासी का उसके राज्य मे प्रवेश सर्वथा निषिद्ध था। इन सब बातो से अनभिज्ञ युवा-सन्यासी पूर्णानन्द जब नगर मे प्रवेश करता है तो राज-पुरुष उसे पकड कर प्रशासिका के पास ले जाते हैं। 'पूर्ण' की तेजस्वी व दिव्य युवा-आकृति को देख कर वह स्तब्ध रह जाती है। उसने प्रथम बार ऐसे सुन्दर सन्यासी को देखा उसके कठोर-भाव कमनीय-रूपों मे परिवर्तित होने लगे। कुछ ही क्षणों मे वह उसके रूप प्रभाव से प्रभावित होती हुई अपने मन पर से नियंत्रण खोती हुई अनुभव करती है.—

कोऽसौ मनोजोऽसिमनवे मनोजो भवेऽवतीर्णो हि विरक्त-वेषे।
नेत्रे मदीये सरसाऽऽकर्षन् अन्तस्तले मे विशति प्रमादात्॥
(पु० न० अं० ४, श्लो० १७)

अन्त मे वह अपनी भाव-भगिमाओ से उसके प्रति आसक्ति प्रकट करती हुई उसे यही रहने को कहती है। इस पर पूर्ण उसे अनेक प्रकार से उपदेशित करता है और अपने ऊपर नियंत्रण करने का आग्रह करते हुए कहता है कि एक राज्य संचालिका के लिए यह शोभनीय नही है कि उस पर उसको तुच्छ मानवीय एषणाए प्रभावी बने—

"नहि किन्तु नृपालाः प्राकृत जनवदाश्रयन्ते किंचन मनोदैन्यम् स्मरणीयं चैतत् प्रतिक्षणमेवाऽऽिलाभि' प्रशासिकाभि र्यत् स्व शासन विना न भवति पर शासनं सुकरम्।
(पु० न० अ० ४)

अत' स्वय पर नियन्त्रण हेतु अनेक प्रकार से प्रबोधित करता है। किन्तु उस सुन्दरी पर उसका कुछ भी प्रभाव नही पडता। अन्ततः जब उसने (सुन्दरी) यह अनुभव किया कि पूर्णानन्द उसकी प्रार्थना को कदापि स्वीकार नही करेगा तो वह जीवन से निराश हो जाती है। कोई भी स्त्री अपने प्रेम निवेदन को ठुकराये जाने पर जीवित नही रहना चाहती अतः वह अपने प्रसाद की उच्च अट्टालिका से छलाग लगाकर आत्म हत्या हेतु प्रस्तुत होती है। उसके इस दुःसाहसिक कृत्य को देख कर पूर्णानन्द बड़ी दुविधा में फस जाता है और ध्यानस्थ होकर इस सकट मुक्ति हेतु गुरु से प्रार्थना करता है। गुरु गोरख प्रकट होते है गुरु कृपा से सुन्दरी के भावो मे परिवर्तन होता है और वह पूर्ण की शिष्या बन कर एक आदर्श शासिका व आदर्श समाज सेविका बनने के संकल्प को लेकर नव जीवन प्रारम्भ कर देती है।

पंचम अंक

गुरु कृपा का इस प्रकार प्रत्यक्षानुभव कर हमारा नायक पूर्ण अपने नगर "शीतलकोट" मे पहुँचता है। उसे सन्यासी रूप में कोई नही पहचानता और वह नगर के किसी उद्यान में एकान्त-वास हेतु ठहर जाता है। सिद्ध गोरख पूर्णानन्द की वृद्धा माता अक्षरा को स्वप्न में सकेत देते हैं कि तुम्हारा पुत्र अभी जीवित है और एक तेजस्वी संन्यासी के रूप मे तुम्हें दर्शन देगा। नगरोद्यान में आगत तेजस्वी युवा सन्यासी की चर्चा शीघ्र ही

सारे नगर में फैल जाती है। नगर के सम्भ्रांत नागरिकों के समूह के समूह उसके दर्शनार्थ आने आरम्भ होते हैं। यह वृत्त राज घराने में पहुंचता है। अक्षरा को अपना स्वप्न स्मरण होता है और अपने वृद्ध पति से बिना स्वप्न वृत्त कहे संन्यासी के दर्शनार्थ चलने की प्रार्थना करती है। राजा, रानी नवीना व अक्षरा के साथ उद्यान में जाता है। पूर्ण को जब यह सूचना मिलती है कि राजा, और रानी दर्शन हेतु आ रहे है तो वह विनयी स्वयं उद्यान द्वार पर माता पिता के स्वागत के लिए पहुँचता है और उन्हें वन्दना करता है। स्वप्न दर्शनानुसार माता अक्षरा को यह पूर्ण विश्वास हो गया कि यह मेरा ही पुत्र है किन्तु राजा और रानी नवीना की विद्वेष भावना के कारण वह अपने स्वप्न को गुप्त ही रखना उचित समझती है। राजा और नवीना भी अपनी अन्तर्वेदनाएं पूर्ण के समक्ष प्रगट करते है। पूर्ण सब कुछ शान्त भाव से सुनता है और अपने संन्यासी-स्वभाव के अनुसार उन्हें सात्विक-जीवन यापन की सत्प्रेरणा देता हुआ स्वयं भी उनकी अन्तर्वेदना से द्रवित हो जाता है। माता अक्षरा चुपचाप पुत्र की भाव-भंगिमाओं को देखती रही, उसके बोलने के ढंग तथा अन्य शारीरिक अंग प्रत्यंगों से अपने पुत्र के अगों से समानता करती रही और जब उसे यह पूर्ण विश्वास हो गया कि यह संन्यासी कोई अन्य नही अपितु मेरा बेटा पूर्ण ही है तो उसका वात्सल्य-हृदय उसके वश में नही रह सका और उसे अपने गले लगाकर रोने लगी। राजा तथा नवीना यह सब देख कर दग रह जाते हैं किन्तु फिर जब अपनी स्वप्न-कथा "अक्षरा" उन्हें कहती है और समस्त लक्षणों की समता बताती है तो राजा भी विह्वल हो उठता है। वृद्ध पिता बिलख पड़ा और अपने पाप कृत्यों को स्मरण कर बेटे को छाती से लगा कर दहाड़ मार कर रो उठता है। रानी नवीना भी अपने क्षोभ-युक्त हृदय से लज्जानुभव करती हुई दीन भावों से सन्यासी के चरणों में गिर जाती है। पूर्ण भी माता-पिता के इस शोकाकुल व्यवहार से "किंकर्तव्य विमूढ़" हो जाता है किन्तु फिर उन्हें आश्वस्त करता है। वृद्ध माता-पिता का शोक जब कुछ शान्त होता है तो वे पूर्ण से संन्यासी वेश का परित्याग कर एक युवराज के रूप मे नगर प्रवेश का आग्रह करते हैं किन्तु पूर्ण इसके लिए प्रस्तुत नही होता और शीघ्र ही पुनः गुरु के आश्रम में जाने की कामना प्रकट करता है। पुत्र की इस अस्वीकृति पर अक्षरा पुनः पीड़ा से आहत हो उठती है और शोका-भिभूत होकर अपने इष्ट गुरु गोरख नाथ के ध्यान में लीन हो जाती है। अक्षरा की पवित्र प्रार्थना पर प्रभु गोरख प्रकट होते हैं और अपने शिष्य पूर्णानन्द को माता पिता के

जीवित रहने तक उन्हें धर्मोपदेश देते रहने के लिए वहीं रहने का आदेश देते हैं और साथ ही नवीना के पुत्र जब तक योग्य न हो तब तक धर्माचरण पूर्वक राज्य भार का कार्य भी देखते रहने का कह कर अन्तर्ध्यान हो जाते हैं —

पूर्णानन्दम् के कथावृत्त तथा परम्परित कथावृत में अन्तर

भक्त पूर्णमल की कथा उत्तरी भारत में अति प्रसिद्ध है। इस कथा पर अनेक नाटक प्रांतीय भाषाओं में लिखे जा चुके हैं। किन्तु उन नाटकों की रचना मे अश्लीलता हिन्दी के निम्नस्तरीय साहित्य स्तर के समान है। अतः इस कथा को वास्तविक स्वरूप में अमर करने के लिए नाटककार ने संस्कृत के गौरव के अनुसार लोक कथाओं के शिष्ट रूपों को आधार बना कर इसकी रचना की है। अतः नाटककार की संस्कृत-दृष्टि से सवारने के प्रयास के कारण इस वृत्त के लोक रूप और कथावृत में काफी अन्तर आ गया है। लोक कथा के पात्रो व इस नाटक के पात्रो में कोई अन्तर नही है। उनकी प्रवृत्ति व गति समान है किन्तु पात्रो की प्रवृत्ति के विकास व उसकी मूल-प्रवृत्तियो का मार्गान्तरीकरण श्री शास्त्री ने अपने स्वतन्त्र प्रकार से किया है। लोक कथा मे पतित जीवन की पराकाष्ठा मे पहुँचने पर उसका अन्त हो जाता है जबकि शास्त्री जी पतन की अन्तिमावस्था मे भी मानव के लिए आशा केन्द्रों का सृजन करते हैं। लोक कथाओं मे घटनाओं का आधार राजनीतिक व मनोवैज्ञानिक आदि कारण नही हुआ करते किन्तु 'पूर्णानन्दम्' का कथावृत्त राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक व आध्यात्मिक धरातल का स्पर्श करता हुआ आगे बढ़ा है और अन्त मे एक आदर्श-वृत्त के रूप में पहुंचने मे सफल हुआ है।

लोक कथा में पूर्णानन्द को एक कठोर, उग्र तथा घमण्डी तपस्वी के रूप मे चित्रित किया गया है वह सभी के प्रति कठोर है जबकि शास्त्रीजी को 'नूनादे' तुलसी की कैकयी के समान प्रायश्चित के अग्नि कुण्ड में अपने को होम देने को उद्यत है उसके मानस के अन्तर्द्वन्द्व को उभारने में नाटककार को पूर्ण सफलता मिली है।

इस प्रकार लोक कथा के परम्परित स्वरूप को संवार सुधार कर तथा सुसंस्कृत रूप मे प्रस्तुति शास्त्री जी के शिल्प कौशल की चतुरता है। इसके साथ ही हमारी लोक कथाओं को अपनी सौम्य व सभ्य संस्कृति की

उसकी परम्परागत रूप-रक्षा नाटककार की लक्ष्य-दृष्टि रही है। अतः इस कथा के विकासार्थ शास्त्री महोदय साधुवाद के पात्र हैं।

वस्तु वृत्त विवेचन

पूर्णानन्दम् की वस्तु योजना नाट्य शास्त्रीय दृष्टि से सर्वथा समीचीन है। सम्पूर्ण नाटक एक पूर्व निश्चित योजना का प्रतिफल प्रतीत होता है। गुरुकृपा से पूर्ण का जन्म फिर उसका १६ वर्ष तक माता पिता से विलगाव स्थिति में पालन पोषण और उसकी अनुपस्थिति में राजा का अल्प-वयस्का नव राज्ञी नवीना से परिणय सम्बन्ध। प्रथम दर्शन में नवीना का पूर्ण से प्रभावित होना और वासना तृप्ति के प्रस्ताव की अस्वीकृति पर तीव्र प्रतिशोध के फलस्वरूप मृत्युदण्ड और फिर गुरु का सामीप्य तथा तेजस्वी व्यक्तित्व का उदय और उस प्रखर तेजोवान स्वरूप का सुन्दरी के माध्यम से परीक्षण और माता पिता के दर्शनार्थ पुनः आगमन इन सब घटनाओं की संयोजना नाटककार ने नाटकीय नियमानुसार ही की है। घटनाओं का प्रवाह व विकास पूर्ण-अन्विति लिये हुए हैं। कहीं पर भी किसी प्रकार का व्यतिक्रम प्रतीत नही होता। प्रत्येक वृत्त की संयोजना में शास्त्रीजी ने अपनी अद्भुत ऊहात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है किसी भी अंक व दृश्य में नाटकीय कार्य व्यापार में अवरोध प्रतीत नही होता। यद्यपि देश और काल की दृष्टि से सारी घटनाओं में काफी अंतराल है किन्तु उनका संयोजन-शिल्प इतनी निपुणता से नियोजित है कि पाठक व दर्शक को यह अनुभव ही नही होता कि ये घटनाएं इतने लम्बे समय की है। इस प्रकार शास्त्रीजी की वस्तु योजना सफल है।

चरित्र विधान

पात्रों के सदसद् रूप को दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करना नाटक का उद्देश्य होता है जिससे प्रभाव ग्रहण कर पाठक व दर्शक अपने जीवन में सद्वृत्तियों का विकास कर सके। इस प्रकार पात्रो के चरित्र विकास पर ही नाटककार की सफलता व असफलता निर्भर है। प्रस्तुत नाटक में प्रमुख रूप से पांच पात्र हैं जो दर्शकों के मन-मानस पर अपना प्रभाव डालते हैं:—

(१) पूर्णानन्द। (२) गुरु गोरखनाथ। (३) राजा। (४) पूर्ण की माता

अधरा और रानी नवीना एवं (५) प्रशासिका सुन्दरी। किन्तु प्रमुख रूप से पूर्णानन्द और गुरु गोरखनाथ के व्यक्तित्व को विभासित करना ही नाटककार को अभिप्रेत है। आगे की पंक्तियों में प्रमुख पात्रों के चरित्र का रेखांकन प्रस्तुत है.—

(१) पूर्णानन्द

प्रस्तुत नाटक का प्रमुख पात्र पूर्णानन्द है। इस पात्र का चरित्र विकास नाटककार ने जिस मौलिक शिल्प-कौशल से किया है वह अपने आप में अनुपम है। इस पात्र की समता संस्कृत नाट्य संसार में अन्यत्र पाना सर्वथा असंभव है। जिस बालक को जन्म से ही माता पिता के स्नेह से वंचित रहना पड़े उसका मानसिक विकास किस रूप में होता है इसका अपना मनोवैज्ञानिक महत्व है। इस पात्र की स्नेह ग्रन्थियों का सुपोषण गुरु गोरख द्वारा लेखक ने कराया है। वह जन्मतः ब्रह्मचारी ही नहीं अपितु ब्रह्म-जिज्ञासु भी है। सम्पूर्ण शास्त्रों के अध्ययन के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली विनयशीलता का साक्षात् रूप पूर्णानन्द है। यद्यपि वह जन्मतः मातृ-पितृ स्नेह से वंचित है फिर भी मातृ-पितृ भक्त है।

> पित्रो राज्ञा गुरोराज्ञा प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।
> यथाज्ञप्तं करिष्येऽहं नान्यद् सत्यं सतः परम्॥

वह जन्मजात ब्रह्मचारी है.—

> जाने नैव कथं मनोज विशिखैं विद्धं मनो जायते॥

वह स्त्रियों से दूर रह कर उनके प्रति मातृभाव रखता है:—

> स्नेहप्रश्नोत्सर्व भवे भ्रमाम· स्थितिं स्थिरा नेह क्वचिद् भवेन:।
> रागो विरक्ताय विधे विचित्रा का नाम हा हन्त विडम्बेनमद्॥

किन्तु उसके स्वस्थ मांसल शरीर में एक विशेष आकर्षण होने के कारण स्त्रियों के लिए वह अति आकर्षण का विषय है। वे उस पर अतिअनुरक्त हैं किन्तु वह अपनी विरक्त मनोवृत्ति के कारण उनसे सदा विरक्त भाव रखता है। वह अपने प्रति अति कठोर संयमी तथा सब प्रकार से नियंत्रण रखने में समर्थ हैकिन्तु अपर जन के प्रति न तो उसमें अनादर भाव ही है और न अनावश्यक कठोर वृत्ति ही।

वह अपने अध्ययन की समाप्ति के पश्चात् घर जाता है। युवती सौतेली माता नवीना को दृष्टि उसके सुन्दर शरीर यष्टि पर पड़ती है और वह उस पर आसक्त हो जाती है। मातृ-सम महिला की इस दूषित दृष्टि व प्रस्ताव को बड़ी तत्परता व सशक्त विरोध के साथ अस्वीकृत कर देता है। वासना की प्यासी रानी नवीना प्रबल प्रतिशोध की तीव्र भावना इसका बदला लेती है अपने वृद्ध-पति से दण्ड दिलवा कर। पिता से मरण वरदान पाकर भी पूर्ण पूर्णतः शान्तमन रहता है। भगवान् राम के समान सहज-भाव से पितृ आज्ञा को स्वीकार कर वह वधिकों के साथ भयंकर अरण्य में मृत्यु का आलिंगन करने को प्रस्थान कर जाता है। कितनी सहजता दिखाई है पूर्ण के वृत्त विकास में। उसके शान्त व बाल सुलभ सौम्य मुख मुद्रा भगवान् बुद्ध और अंगुलिमाल दस्यु का स्मरण दिलाती है जब वह तीन वधिकों से घिरा हुआ कर-बद्ध स्थिति में वन मार्ग की ओर ले जाया जाता है। पुनरावृत्ति सी ही होती है वधिक उस पर तलवार चलाने में अपने को असमर्थ पाते हैं और उसे किसी अन्ध कूप में डालकर राजा के पास लौट जाते हैं।

नियति के विचित्र विधान से उसका भाग्य बदलता है, गुरु गोरख आते हैं और उसे निकाल कर अपना शिष्य स्वीकार करते हैं। गोरख के पास पहुँचते ही नायक अपने वास्तविक जीवन-लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। गुरु गोरख ने उसका जीवन विकास एक ऐसे कर्त्तव्य-निष्ठ लोक हितैषी के रूप में किया है जो वास्तविक अर्थ में सत्य संन्यासी है और एक ऐसा अनासक्त योगी है जो मानव के बन्धनों से दूर रह कर भी मानव समाज की सेवा से विमुख नहीं होता:—

गुरू गोरख के पास संन्यास दीक्षा के उपरान्त सिद्धि साधना के अभ्यास से मानव मन की उच्चमनो-भूमि को प्राप्त करने में सफल हो हो जाता है। अन्ततः उसे वह वह मानसिक दृढ़ता प्राप्त हो जाती है जिसके लिए सन्यास जीवन स्वीकार किया जाता है। अन्त में जीवन की वह परीक्षा की घड़ी आती है जब गुरु आज्ञा से वह माता पिता के दर्शनार्थ व भिक्षा लाने के लिए शीतलकोट के लिए प्रस्थान करता है। मार्ग में अनिन्द्य सुन्दरी एक राज्य की प्रशासिका उसकी रूप राशि से इतनी अधिक आकर्षित होती है कि अपना सब कुछ अर्पण को उद्यत हो जाती है। किन्तु पूर्णानन्द के समक्ष उसकी देह कान्ति व राज्य वैभव कुछ नहीं और स्पष्ट रूप से अस्वीकृति प्रदान करने में उसे कुछ भी संकोच नहीं होता। प्रणय-पीड़ा गहरी

होती है अतः जब वह राज सुन्दरी आत्महत्या के लिए प्रस्तुत हो जाती है तो गुरु स्मरण के द्वारा पूर्णानन्द उसके मानस मे अलौकिक परिवर्तन करने मे समर्थ होता है और जीवन के वास्तविक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसे प्रेरित कर अपने नगर की ओर प्रस्थान कर जाता है।

शीतल कोट पहुँचने पर माता पिता के मोहमय वात्सल्य का प्रबल प्रहार उस पर होता है। नगर में पहुंचने पर शीघ्र ही तेजस्वी संन्यासी के रूप में उसकी ख्याति हो जाती है और उसकी तेजोमय-कीर्ति को सुनकर राजा और रानी भी दर्शनार्थ आते है। अप्सरा को गुरु का स्वप्न स्मरण हो उठता है और वह युवा सन्यासी को पहचान कर अपने पर नियंत्रण नही रख पाती। माता का करुणापूर्ण हृदय वात्सल्य मद से आप्लावित हो उठता है और पिता पश्चात्ताप की अग्नि में जलता हुआ आर्त दृष्टि से वही रुके रहने की दीन याचना अपने लाडले युवराज से करता है। किन्तु राजा भूल जाता है कि यह संन्यासी सामान्य संन्यासी नहीं। प्राणीमात्र के प्रति दयार्द्र भावो का अथाह सागर अपने मानस में समाहित रखते हुए भी सदय दृष्टि से कभी भी विचलन पूर्णानन्द के लिए सम्भव नही। अतः आशीर्वचनो की वर्षा करता हुआ वह अपने लिए गुरु-आज्ञा को ही श्रेष्ठ समझता है। इसी प्रसग मे नवौना भी अपने कल्मष को धोने के लिए कैकेयी के समान उसके चरणों मे रत है। हमारा युवा-सन्यासी उस पर तथा उसके पुत्र पर भी उतना ही दयालु व कृपार्द्र है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्णानन्द एक सिद्ध संन्यासी योगी और पूर्ण मनोवेत्ता है। वह समस्त जनों को प्रसन्न रखने हेतु सदा प्रयत्नशील रहता है। वह गम्भीर किन्तु विनोदी तथा सतत आत्म चिन्तनपरायण दैवश पुरुष है।

(२) गुरु गोरखनाथ

गुरु गोरखनाथ नाथ-सम्प्रदाय के सिद्ध आचार्य है। इनके जीवन तथा चमत्कार के विषय मे अनेक लोक श्रुतियां प्रचलित हैं। किन्तु प्रस्तुत रूपक में इनके चरित्र का विकास एक ऐसे लोकोपकारक सिद्ध महात्मा के रूप में हुआ है जिसका सम्पूर्ण जीवन मानव मात्र के कल्याण के लिए भ्रमण करते हुए यापित हुआ है। इन्होने जिस सम्प्रदाय विशेष का प्रवर्तन व प्रचार किया उसका लक्ष्य ही मानव का चरम उत्कर्ष है। गुरु

केरल ने मानव का भौतिक विकास उसकी ऐहिक एषणाओं की तृप्ति में न मानकर उस पर नियन्त्रण में स्वीकार किया है। इनका संन्यास धर्म मानव जीवन को द्वन्द्वात्मक भौतिकता से दूर रखकर उसके सत्य व सनातन विकास में सहायक है।

इहैव सन्ध मिति सर्वथा सत्यम्
तस्य लीलापि किन्तु नास्ते काचन भ्रान्ति रेव केवलम्
(पू० न० प्र'क ४)

मानवता को पीड़ा पहुँचाना उनकी दृष्टि में हेय है। सन्यासी को संन्यास धर्म की मर्यादाओं में रहते हुए मानव हित के लिए सर्वदा सत्कार्यों की सम्पादना करनी चाहिए।

कश्चिन्न माता हृदये विदीर्णा गोरक्षनायं कुपिता शपेद्
दया विहीनोऽयमिति प्रवादात् परः प्रवादो न जनस्य कश्चिद्
(पू० न० प्र'क ४, श्लो० ५)

जिस मां की महिमामयी गोद में पालित पोषित होकर मनुष्य अपने इस पार्थिव शरीर को बना पाया है उसका आदर सम्मादर करना उनकी दृष्टि में मानव का परम कर्त्तव्य है।

साधु पतित पावन होता है। पतितों का उद्धार यदि साधु नहीं करेंगे तो कौन करेगा? अतः यह कार्य उन्हें अतिप्रिय है तथा मातृशक्ति व स्त्री जाति के समुद्धार के लिए तो वे सतत जागरुक हैं। यही कारण है कि स्त्री जाति पर होते अत्याचारों को देखकर उनका हृदय दया से द्रवित हो उठता है।

'अहो कर्थमिव न स्त्रियः स्त्रीणां दुःख कारणानि जायन्ते स्त्री नाम सर्वदा स्वार्थ भूमिः। परम तीव्र स्नेह 'संसारे स्नेह सम्बन्धोच्छेदिनी परम तीक्ष्णा कर्तरिका च'।

(पू० न० अंक० ३)

पतित मात्र के लिए चाहे वह स्त्री हो या पुरुष उनके हृदय में करुणा भाव है। पूर्णानन्दम् नाटक में नायक को अन्त में भी अपने नाथ की उपदेशामृत देते हैं वे उनके महनीय व्यक्तित्व के प

यथा —

स्वार्थत्यागः एव प्रधानत्यागः। तदितरा गृह त्यागे नैवः न भवति काचन सुलभा मुक्तिः।

(पू० न० ग्रं० ५)

इस प्रकार वे अपने आप में पूर्ण मानव का स्वरूप हैं। नाटककार ने गुरु गोरख के व्यक्तित्व मे एक आदर्श संन्यासी का मूर्त-रूप चित्रित किया है।

(३) राजा

नायक के पिता के रूप में हम एक तीसरे पुरुष पात्र को पाते हैं। इसके दर्शन हमें प्रथम और पंचम अंक में होते हैं। प्रथम अंक मे एक ऐसे वत्सल पिता के रूप में देखते हैं जो ग्रह नक्षत्रों की नियति विधान के आगे पूर्ण मौन है। अगाध वात्सल्य रखते हुए भी अपने राज्य तथा पूर्ण की शिवकामना के लिए ज्योतिषियों की आज्ञानुसार वह १६ वर्षों तक पुत्र को अपने से विलग रखते हैं।

इस लम्बे अन्तराल में एक नृपोचित स्वभाव के अनुसार उनका एक नवीन रानी नवीना से सम्बन्ध हो जाता है और वृद्ध राजा उसके प्रेम में इतना उन्मत्त होता है कि अपने विवेक को खोकर राज्य कार्यों से भी विमुख रहने लगता है। इसी मध्य पूर्णानन्द अपने १६ वर्ष समाप्त कर वापिस आता है। राजा को प्रसन्नता होनी चाहिए थी किन्तु नवयौवना मे आसक्त राजा, रानी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं देख पाता। वह मंत्रियों के हाथ की कठपुतली बन जाता है। नवीना तथा मंत्रियों के गुप्त षड्यन्त्र का शिकार राजा पूर्णानन्द को पूर्ण युवराज के अधिकार न देकर केवल एक सामान्य मंत्रालय ही देकर शांत हो जाता है।

इसी मध्य एक दुर्घटना घटित होती है। नवीना पूर्ण के प्रति अपने प्रेम के ठुकराने पर उससे प्रतिशोध लेने के लिए उस पर मिथ्या कलंक लगाती हुई राजा की दृष्टि में उसे गिरा देती है। भोग में अन्धे राजा ने वास्तविकता को जानने का प्रयत्न किये बिना ही अपने पुत्र को मृत्युदण्ड दे दिया यह उसके चरित्र की सबसे बड़ी कमजोरी है। भारवि के 'अवि-

वेक. परमापदापदम्' के अनुसार अन्त मे उसको इसका फल भी भोगना पड़ा।

राजा के चरित्र का उज्जवल पक्ष उस समय प्रदीप्त होता है जब वह अपनी दोनो रानियों के साथ पूर्णानन्द को सन्यासी के रूप में देखता है। नाटककार ने चाहे इसे व्यक्त न किया हो किन्तु जब वासना का ज्वार-भाटा उतर जाता है तब मनुष्य को वस्तुस्थिति का ज्ञान होता ही है। पूर्ण को सन्यासी देखकर निश्चय ही राजा के मन में अपने युवराज की याद आयी होगी। वह अन्दर ही अन्दर न जाने कितना दुःखित होता रहा होगा। तभी तो ज्यों ही अक्षरा अपने पुत्र को पहचानती है और पति को स्वप्न कहती है, राजा बिलख उठता है। बूढे का दिल दहाड़ मारकर रो उठता है, और वह अपनी अन्धी जवानी के कुकृत्यों पर फफक कर रो उठता है। यह उसके भीतर बैठे मानव की पूर्ण मानवीय विकास की द्योतिका है।

इस प्रकार अपने दो पुरुष पात्रों के द्वारा आदर्श मानव रूपों का चित्रांकन श्री शास्त्री ने अपने समक्ष रखा है वहां राजा के रूप में मानव-सुलभ कमजोरी का यथार्थ निरूपण किया है।

(४) प्रस्तुत नाटक के स्त्री पात्र

प्रस्तुत नाटक में तीन स्त्री पात्र हैं और उन तीनों का चरित्र सम्यक् रूप से चित्रित करने मे नाटककार को सफलता मिली है। इन तीनों चरित्रों में स्त्री जाति के आदर्श और घृणित दोनों ही रूपों का निरूपण है। इनमें से दो प्रधान नायक की माताएं हैं एक जन्म दात्री तथा दूसरी सौतेली। जन्मदात्री माँ अक्षरा के चरित्र में रचयिता ने भारतीय स्त्री का वास्तविक स्वरूप दिखलाया है जबकि विमाता 'नवीना' के चरित्र के माध्यम से स्त्री जाति की उन काम कुण्ठाओं का आकलन नाटककार ने प्रस्तुत किया है जिनकी तुष्टि कभी भी संभव नहीं। इन घृणित ऐषणाओं का अन्त विनाश के रूप में होता है। 'अक्षरा' पति व राज्य की शुभ कामना के लिए अपने नवजात शिशु का परित्याग भी परहिताय कर देती है। जबकि 'नवीना' अपने शरीर सुख के लिए अपने पुत्र से ही भोगेच्छा प्रकट करती है और उसके द्वारा अस्वीकार किये जाने पर उसे मृत्यु दण्ड दिलवाने में भी नहीं झिझकती।

तृतीय पात्र सुन्दरी एक राज्य की सुन्दर प्रशासिका है। उसे संन्यासियों से घृणा है। वह भोग परायणा है। पूर्ण के रूप पर वह भी प्रासक्त हो जाती है और प्रणय स्वीकार न किये जाने पर आत्महत्या करने को तैयार हो जाती है लेकिन पूर्ण उसे समझाता है और वह समाज की एक आदर्श सेविका बन जाती है। अक्षरा वास्तव में एक पतिव्रता नारी है, स्नेह हृदया ममतामयी मा है। इन सबका चरित्र अपने प्रकार से उभारने में नाटककार को पूर्ण सफलता मिली है और अन्त में नवीना को भी अपने किये पर पश्चाताप होता है। वह पूर्णानन्द के उपदेशों से जीवन के उत्तरकाल में पूर्णरूपेण धर्मपरायण बन जाती है।

नाटक का मुख्य तत्त्व पात्रों की पारस्परिक वार्तालाप या कथोपकथन ही होता है। इसी के माध्यम से पात्रों का चरित्र विकास होता है तथा कथावस्तु विकसित होती है। नाटक की रोचकता एवं अभिनेयता कथोपकथन पर ही निर्भर होती है। प्रस्तुत नाटक के कथोपकथन अत्यन्त सजीव हैं। इसमें प्राय. लम्बे और लघु दोनों ही प्रकार के कथोपकथन प्राप्त होते है तथा पात्रों के उत्तर प्रत्युत्तर स्वाभाविकता का प्रदर्शन करते है। नाटक को पढते समय लगता है कि इसके कथनोपकथन नाटक नही अपितु वास्तविक जीवन के हैं। कुछ कथन द्रष्टव्य हैं:—

पूर्ण के जन्म के समय ज्योतिषियों की वार्तालाप:—

कमलाकरः—शास्त्रं हि किं किं नाम न प्रत्यक्षं प्रदर्शयति विशेषतश्च ज्योतिः शास्त्रम्। अस्यानुग्रहेण मया पुरैव वर्षेऽस्मिन् प्रबलः सन्तानयोगो वर्तत इति समचोधि

दिवाकर·—अरे त्रिकालदर्शिन्! प्रज्ञानेत्र! क्व ते शास्त्रेणानेन स्थितमासीद्यावधि त्वदुदरदरीगतं विलीनेन।

कमलाकरः—संजाते वृष्टि-संपाते कथमद्य भेकोऽयं न टर्टरायताम् स्वासन्त्र्येण।

प्रभाकर·—कथय कथं न सुप्रभातेऽप्यस्मिन् वायसोऽयं न भवेत् कांकारःमग्न·।

उसके पश्चात् जब पूर्णानन्द नवीना के पास माता अक्षरा के कहने पर प्रणाम करने उसके प्रसाद मे जाता है:—

नवीना:—(सत्रलज्जम् स्वचरणाविकृतः अपकृत्य) पूर्णानन्द, श्रुतं न वा त्वया मनोहरं वासन्तिकं गीतमेतत् । नाहं चरणस्पर्शाधिकारिणी । नवामेनां वासन्तिकीं सुषमाम् विलोक्याचरणीयं पुनस्तदनुरूपमाचरणम् ।

पूर्णानन्दः—(परन्तं विचित्रमेतद् स्वविमातुः शुभाशिषाम्प्रकारमालक्ष्य विवक्तितः) मातर्मातृ अक्षरया प्रेषितोऽहमार्यायाः शुभाशिषामवाप्तयें ।

नवीना:—कुमार, नैतेन ते मातृपदेन पुनः पुनरहम्-विधेयाऽपमानिता । स्मरसि चेत् श्रावय किञ्चन हृद्यं गोपिका- गीतम् । किं न पश्यसि कथमिव माधवो सहकाररे-नमालिस्य सुखं विकसति, कथं च प्रतिहृदयं भगवान् मीनकेतनस्तनुते कंचनानुपममेव नवमौत्स-सवयम् ।

पूर्णानन्दः—(आत्मगतम्) मात नाहमृवगच्छामि विचित्रायास्मेऽस्या भूमिकायाः कस्यनाभिप्रायम् । अनुज्ञाप्योऽहंमि दानीमितो गन्तुम् । अनुग्राह्यश्च शुभाशिषा ।

इसी प्रकार प्रत्येक अंक में अनेक प्रभावशाली कथोपकथन नाटककार की सफलता के द्योतक हैं ।

देशकाल

कथानक का चयन लोककथा आश्रित है । अतः उसमें समय के अन्तराल पर ही घटनाओं का घटन हुआ है यथा प्रथम अंक में पूर्णानन्द के जन्म के तुरन्त बाद उसके पालन पोषण की व्यवस्था फिर दूसरे अंक में राजा का नवीना के साथ परिणय सम्बन्ध, तीसरे अंक में पूर्णानन्द का आना और उस पर नवीना की आसक्ति फिर उसे मृत्यु दण्ड, चतुर्थ अंक में गोरखनाथ के आश्रम की पूर्ण तपस्या और फिर प्रभासिका सुन्दरी के पास भिक्षार्थ जाना, पंचम अंक में शीतलकोट के उद्यान में आकर माता-पिता को दर्शन । पाँचों ही अंको की घटनाओ में काल का अन्तर यद्यपि पर्याप्त है । प्राचीन नाट्य कला दृष्टि से इसमें यह दोष कहा जा सकता है क्योंकि प्रत्येक घटना क्रम के घटित होने में स्थान और समय का पर्याप्त अन्तर है किन्तु अभिनव अभिनेय कला की दृष्टि से इसे दोष नहीं समझा जाता । जीवन की पूर्णता घटनाओं का समष्टि रूप से प्रदर्शन में इतना अन्तर आना स्वाभाविक है । फिर हमारे नाटककार ने प्राचीन परिपाटी का कुछ परित्याग और परिहार भी किया है ।

भाषा और शैली

भाषा कवि की अभिव्यक्ति का माध्यम है। रचनाकार की सफलता कथावस्तु को सुचारु ढंग से कहने में है। श्री शास्त्री की शैली का सबसे बड़ा आकर्षण उसकी सरलता, सादगी और स्पष्टता है। इन्होंने प्राय. सरल भाषा का प्रयोग किया है जो लम्बे लम्बे समासों और क्लिष्ट रचनाओं से मुक्त है। साध्य केवल वह वस्तु है जिसे लेखक वाणी देना चाहता हैं। विद्वता प्रदर्शन के प्रपंच में भाषा को इतनी जटिल बना देना कि भाव भी बोध गम्य न रहे, एक भारी भूल है। हमारे कवि की भाषा अपने वर्ण्य विषय को प्रतिपादित करने में सर्व प्रकारेण समर्थ रही है। नाटककार ने छन्द योजना में विशेष कर 'अनुष्टुप' छन्द तथा, "उपजाति", "शार्दूल विक्रीडित," "मन्दाक्रान्ता" और "स्रग्धरा" आदि का प्रयोग किया है। व्यर्थ में अलकारों का प्रदर्शन न करते हुए भी अनुप्रास, उपमा और रूपक आदि की छटा यत्र तत्र दृष्टिगोचर होती है।

उद्देश्य

साहित्य सोद्देश्य होने से ही सम्मान्य होता है। नाटक में भाषा द्वारा अभिव्यक्ति के अभाव की पूर्ति हाव भाव इत्यादि अभिनय की चेष्टाओं से होती देखी जाती है अतः नाटक के सोद्देश्य होने में सन्देह कैसा ? प्रस्तुत नाटक की रचना श्री शास्त्री जी ने प्रचलित लोक कथा को सुसंस्कृत रूप में प्रस्तुत कर मूल कथा के शुद्ध स्वरूप को रखा है। भक्त पूर्णमल की कथा इस प्रान्त में राजस्थानी भाषा में ख्यालों के रूप में खुले मंच (तख्तों) पर खेली जाती रही है। जिसमें भक्त की पवित्र भक्ति-भावना के प्रचार के स्थान पर अश्लील गीत व अश्लीलभाव तथा कथोपकथन ही नाटक के प्रमुख आकर्षण रहते हैं। जिससे दर्शकों की रुचि में विकार के साथ हमारे प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों को भी भद्दा व असंस्कृत रूप मिलता है। अत. श्री शास्त्री की लक्ष्य दृष्टि इस कथा को सुसंस्कृत रूप प्रदान करना रहा। इसके साथ ही सन्यासी जीवन के प्रति सुन्दरी प्रशासिका की जो भावना थी वैसी हमारे समाज की रही है कि ये परान्नजीवी हैं, समाज के लिये कलंक हैं। इससे भी गोरख को समाज सेवी रूप में उभारकर नाटककार ने यह बताया है कि वास्तव में संन्यासी समाज को दिशाबोध देने वाले हैं तथा मानव अपनी विकृत भावनाओं पर भी उचित मार्ग दर्शन मिलने पर विजय पाकर सही जीवन दर्शन पाकर स्वयं तथा समाज का एक

हितकारी घटक बन सकता है इसे सुन्दरी प्रशासिका के चरित्र से सिद्ध किया है और पूर्णानन्द के समग्र व्यक्तित्व के द्वारा आत्मिक विजय प्राप्त करना कोई असंभव नहीं यह बताते हुए श्रेय और प्रेम के इन दो मार्गों में हमारी संस्कृति किसकी उदात्तता स्वीकार करती है, यह पूर्णानन्द के श्रेयष्कर जीवन से प्रतिपादित कर भौतिक जीवन से अध्यात्मिक जीवन की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

पूर्णानन्दम् की अभिनेयता

नाटक का एक और महत्त्वपूर्ण गुण होता है उसका अभिनय के योग्य होना। यही विशेषता दृश्य और श्रव्य काव्य की विभाजक रेखा है। प्रस्तुत नाटक का अभिनेय दृष्टि से परीक्षण करने पर हम पाते हैं कि इसमें कुछेक दृश्य ऐसे हैं जिनका मंच पर अभिनय अथवा दृश्यांकन संभव नहीं, यथा पूर्ण को अन्ध कूप में डालना तथा सुन्दरी प्रशासिका के प्रासाद की उच्च अट्टालिका पर आत्म हत्या हेतु आरोहण। किन्तु इन दो दृश्यों के अतिरिक्त शेष सभी घटनाएं सुगमता से अभिनीत की जा सकती है। हाँ उपर्युक्त दोनों दृश्य में भी यदि आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों का प्रयोग किया जावे तो दृश्यांकन संभव है। बाकी दृश्य यथा प्रथम अंक में पुत्रोत्सव का वातावरण तथा द्वितीय अंक में नवीना के साथ परिणय सम्बन्ध और तृतीय अंक मे पूर्णानन्द का १६ वर्ष के पश्चात् शीतलकोट में आगमन तथा नवीना के साथ उसके प्रासादोपान्ते में मिलन व भाषण फिर राजा का कुपित मुद्रा मे मंत्री और अक्षर से वर्तालाप तथा पूर्ण का वधार्थ वधिकों के साथ प्रेषण तथा फिर गुरु गोरख का आश्रम तथा आश्रम जीवन एवं पूर्ण का सुन्दरी के पास भिक्षार्थ गमन व उससे वर्तालाप और अन्त में शीतलकोट के बाह्य उद्यान में संन्यासी पूर्ण का माता-पिता से मिलन आदि ऐसे दृश्य हैं जिनका अभिनयीकरण बड़ी कुशलता के साथ सम्पादित किया जा सकता है। इस प्रकार अभिनेय दृष्टि से भी "पूर्णानन्दम्" एक सफल नाटक है।

रस योजना

प्राचीन भारतीय साहित्याचार्यों ने वस्तु, नेता और रस ये तीन नाटक के प्रमुख तत्व बताए हैं। इनमें वस्तु और नेता का विवेचन हम पूर्व पृष्ठों में विवेचित कर चुके हैं। रस की विवेचना [illegible] इस नाटक

का मुख्य रस तो शांत ही है नाटककार ने पूर्णानन्द और गोरखनाथ के सात्विक जीवन के द्वारा शांत रस की निष्पत्ति ही कराई है किन्तु इसके साथ ही इसमें करुण और शृंगार की स्थिति भी कम प्रभावी रूप में नहीं है। नवीना व सुन्दरी का पूर्ण के प्रति आकर्षण दिखाने के लिए शास्त्री जी ने शृंगारिक वातावरण की सफल सृष्टि की है जो अपने आप में अपूर्व है। यह शृंगार संयोजना पूर्ण तथा शिष्ट होते हुए भी संयोग शृंगार के समान प्रभावी है। नवीना व सुन्दरी की वासनामयी दृष्टिसे एकटक पूर्णानन्द की ओर सतृष्ण निहारना उनकी अतृप्त वासना का प्रभावी चित्रण है और इसी प्रकार पुत्र जन्म के तत्काल बाद अक्षरा को पुत्र से वियुक्त होना, फिर १६ वर्ष के पश्चात् उसके संयोग पर निरपराध होने पर उसे मृत्युदण्ड पर अक्षरा के ममतामयी मातृ हृदय की जिस अज्ञात करुणा का नद पूर्णानन्दम् मे प्रवाहित है, उसका दुखद नाद दर्शकों के हृदय में एक हूक उठाता है और फिर सन्यासी पुत्र के मिलन पर राजा-रानी का जो करुण प्रसंग नाटककार ने सृजन किया है वह तो नाटक के समान ही बड़ा प्रभावी है। पश्चाताप की आग में जलती हुई नवीना का हृदय भी एक विशिष्ट करुणा अपने मे लिए हुए है।

इस प्रकार शृंगार और करुण रस की अपूर्व व्यंजना का कुशल चितेरा हमारा नाटककार अपने प्रमुख रस शांत के निष्पादन में तो सिद्ध-हस्त है ही। पूर्णानन्द और गुरु गोरखनाथ के व्यक्तित्व व उपदेश तथा वार्तालाप मे उनकी अनासक्त वृत्ति एवं तेजस्वी रूप में शांत रस ही नाटक मे प्रवाहित होता है। पूर्णानन्द का प्रत्येक सम-विषम स्थिति में पूर्ण निर्वेदमय स्थिति मे रहना, सांसारिक ऐषनाणाओ के प्रति तिलमात्र भी आसक्ति का न होना, गुरु आज्ञा का जीवन में पूर्ण परिपालना आदि नायक के सच्चे सन्यस्त जीवन के परिचायक है जो शांत रस के उद्दीपन व विभावन के द्योतक हैं। इस प्रकार रस योजना की दृष्टि से पूर्णानन्दम् एक सफल कृति है इसमे किसी प्रकार का सदेह नहीं।

☐ ☐ ☐ कलिदैन्यम्

श्रीमद्भागवत के प्रसिद्ध पौराणिक कथावृत्त पर आधारित श्री शास्त्री का यह दूसरा नाटक है। इसकी रचना इन्होंने १६४० ई० में की थी। इसमें इन्होंने अपने नवीन दृष्टिकोण से उस पौराणिक कथा को नवीन युगीय परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। पात्रो के चरित्र विधान तथा

वर्ण्य वस्तु आदि में पौराणिक मान्यताओं के अतिरिक्त युगीन समस्या धर्म, अधर्म, राजनीति और समाज नीति सभी को विषय वस्तु का आधार बनाया है।

कलिदैन्यम् का वस्तु विधान

प्रथम अंक

सर्व प्रथम सूत्रधार के द्वारा नान्दी पाठ तथा प्रस्तावनोपरान्त राजा परीक्षित का दुःस्वप्न के कारण निद्राभंग के जागरण का दृश्य है। जिसमें राजा परीक्षित–'ओ उम् विश्वानि देव सवित दुरितानि परासुव' के वेद मन्त्र साथ शैय्यात्याग करते हैं तत्पश्चात् गौ पर प्रहार करने वाले कलि के पीछे दौड़ते हुए राजा परीक्षित को दिखाया है। परीक्षित के कलि को मारने पर उद्यत होने पर वह कहता है कि हे राजन् कालक्रम के अनुसार अब मेरे आने का समय हो गया है, अतः अब मेरे आगमन की प्रक्रिया में कोई बाधा नहीं डाल सकता। मेरे आगमन पर अवरोध अब सर्वथा असम्भव है तथा भारत में अपने प्रवेश की आवश्यकता बताते हुए कलि कहता है कि अन्य भूखण्डों की अपेक्षा यह आर्यावर्त प्रदेश ही मेरे प्रवेश योग्य धरा है क्योंकि यही वह पवित्र भूमि है जहां सब प्रकार के पापों को प्रक्षालन् करने वाली गंगा आदि नदियों का पावन प्रवाह है:—

कल कल नादपरा हि जाह्नवी
स्थितिमिह यः कलिकाल वर्तिनाम्
पलमपि नैव सहेत भारते
हृदि हृदि शाश्वत धर्म भाविते
(कलिदैन्यम् प्र० अं० श्लो० ४)

कलि के आगमन की अवश्यभाविता को देखकर अन्त में परीक्षित उसे आदेश देता है कि यदि तुम्हें यहाँ ठहरना ही है तो तुम उन स्थानों पर रुकना जहां शिष्टाचार, धर्माचार और वैचारिक शुद्धि का अभाव हो तथा दया और पुण्य लेश मात्र भी न हो। ईश्वर स्मरण जहा पापाचार वत मान्य हो—

घोरं स्वार्थ परायणा प्रतिपलं वित्ताप्ति चिन्तारताः
शिष्टाचार विचार शुद्धि रहिता यत्रापि मर्त्य स्थितिः

स्थाने यत्र न नाम वा भगवतः श्रूयेत कश्चित् क्षणम्
स्यातुं तत्र कथंचन भवेद् नान्यत्र योग्य क्वचिद्
(क० दें० प्र० अं० श्लो०-६)

दूसरे दृश्य मे किसी कथा वाचक के द्वारा कलि प्रवेश से होने वाले सामाजिक दुर्गुणों का वर्णन है। श्रोतागण भी कथावाचक के कथन का समर्थन करते है। कलि से मुक्ति का उपाय पूछने पर प्रवाचक कहता है कि सात्विक जीवन के यापन तथा सतत् भगवत् चिन्तन के द्वारा ही इससे मुक्त हुआ जा सकता है, अन्य कोई सुगम पथ नही। एतदर्थ यदि तुम कलि प्रभाव मे मुक्ति चाहते हो तो स्वार्थ बुद्धि का परित्याग कर भातृत्व भावों का विकास स्वय मे कीजिए.—

रक्षा चित्त गतिः स्थिरा प्रतिपलं विष्णो पदे पावने
शान्ध्यं सात्विक वृत्तयश्च सुतरां सम्पोषणीया सदा
आसक्ति र्व्यसनेषु पाप जननी हेया हृदात् साधकैः
संधेया च निरन्तरं निजमतिः सर्वं परेषां मतिः
(कलि० दें० अं० १, श्लो०—१२)

तीसरे दृश्य में मधुशाला का दृश्य है जहा कलि के साथी काम, क्रोधादि सुरापान मे मग्न हैं। वहा कलि अपने साथियो से राजा परीक्षित के साथ हुई भेटवार्ता का पूर्ण वृतान्त बताता है तथा इसी मधुशाला मे वे चारों बडे दुर्गुण संसार में पापाचार प्रसार की अपनी पापमयी वृहद योजना बनाते हैं। देश में दुर्बुद्धि का पूर्ण प्रसार हो यही उनकी कुत्सित योजना का एक मात्र आधार व लक्ष्य था। सभी परस्पर–क्षुद्र भावो मे ग्रस्त हों और भ्रष्टाचार अपनी पूर्ण उत्कर्ष स्थिति में प्रसारित हो यह उनकी कामना थी:—

देशे देशे जनमति मति द्वेष पूर्णास्तु नित्यम्
दंभ घृणामय परिणमेत् धर्म बुद्धिः समस्ता
क्षुद्र प्रजनाभिमय पतितो जायतां मातृ भावो
भ्रष्टाचारः प्रसरतु तथा दिक्षु सर्वासु सद्यः
(कलि दें० अं०–१, श्लो०१७)

द्वितीय अंक

इस अंक के प्रथम दृश्य मे एक दिन प्रातः राजा परीक्षित अपने राज-

सिहासन पर विराज मान है और मंत्रियो से परामर्श रत है, उसी समय द्वार-पाल आकर सूचना देता है कि महाराज नागरिकों का एक शिष्ट मंडल कुछ निवेदन हेतु राज्य दरवार में प्रवेश की अनुमति चाहता है। राजा प्रधान अमात्य के शिष्ट मडल को ससम्मान अन्दर लाने को कहता है और शिष्ट मंडल के अन्त:प्रवेश होने पर उनके आने के उद्देश्य के विषय में प्रधान मंत्री ने कहा-कि महाराज, नागरिको का कथन है कि राज्य मे आजकल न जाने दिन प्रतिदिन भ्रष्टाचार क्यों बढ़ता जा रहा है? जिससे उनका जन जीवन ग्रस्त व्यस्त हो रहा है। इसी विषय मे कुछ निवेदन करना चाहते हैं उसके पश्चात् प्रतिनिधि मडल मे से पौर प्रमुख कहता है—महाराज। यमुना तट पर स्थित गुरुकुल के छात्र न जाने आजकल क्यों अविनयी और स्वेच्छा-चारी हो रहे हैं, न तो वे गुरुकुल की आचार-सहिता आदिका पालन ही करते हैं और नही अध्ययन व स्वाध्याय ही। अपितु नगर में आकर नागरिको के साथ अशिष्ट व्यवहार करते हैं, समझ में नही आता कि उनमें यह कुत्सित वृत्ति कहा से आ रही है?

"स्वामिन् न जानीमहे कि एतत् प्रशासन शैथिल्यं कश्चन् दैवी प्रकोपः परं सम्प्रति यमुना तटैव वर्तिनो अस्माकं गुरु कुलेन दृश्यते तत्र तेषु अन्तेवासिषु किंचिद् सुव्यवस्था दिनचर्या परिपालायम्। तत्रत्या ब्रह्मचारिणः वीथ्यासु परिभ्रमन्ति शिष्टाचार रहितेन स्वव्यवहारेण नागरिकाणां चेतांसि परिक्लेशयन्ति"

(क० दे० अं०-२)

इसके पश्चात् अपर नागरिक निवेदन करता है कि उसके पार्श्वस्थ नागरिक ने अपने पिता को गृह निष्कासन की धमकी दी है और निरन्तर कलह करता रहता है। तीसरे नागरिक ने कहा कि खाद्य सामग्रियों मे मिलावट पर राज्याधिकारी कोई ध्यान नही देते। राजा ने नागरिको के विषय में प्रधान अमात्य से पूछा तो उसने भी उनके कथन का समर्थन करते हुए कहा कि महाराज मुझे भा प्रतिदिन इसी प्रकार के भ्रष्टाचरण विषयक की सूचनाएं मिल रही है और एतदर्थ में इनके निवारणार्थ पूर्ण प्रयत्न शील हूं। राजाने नागरिक बन्धुओं को आश्वासन देते हुए विदा किया कि शीघ्र राज्य में व्याप्त इन विशृंखलताओं को दूर किया जायेगा। न...
के चले जाने पर राजा राज्य की इस स्थिति पर सोच
कहता है:—

ममापि चित्तवृत्तिरिदानीं न जाने कीदृशीमेनां परम शोचनीया-मवस्थामापन्न यथा (निश्वसन्)

आशा प्रफुल्ला जगती मदीया शोच्यां गतिं हन्त गतो विचित्राम् ।
निद्रातुरश्चापि लभे न निद्राम् निराकुलं नापि चलं मनो मे ॥

(क० दे० अ-२ श्लो० ७)

दूसरे दृश्य में राजा परीक्षित प्रातः काल राज्य दरबार का समय होने पर भी जब प्रासाद से नीचे नही आये तो कंचुकी उन्हें बुलाने के लिए जाता है। वृद्ध कंचुकी जाते समय यह सोच रहा है कि यद्यपि उसके पास इतना कार्याधिक्य नही है फिर भी आजकल वह शीघ्र ही थक जाता है और महाराज के पास तो न जाने कितनी समस्याएं है अतः बेचारे रात दिन उनके समाधानो के लिए ही चिन्तित रहते हैं। इतने में उसे नरेश सामने आते हुए दिखाई देते हैं। वे समीप आने पर कहते है कि रात्रि में राज्य की अनेक समस्याओं के समाधान की चिन्ता से मैं विश्राम नहीं कर पाया अत आज मैं दरबार मे नही आऊंगा। आज मेरा मन थकित व खिन्न है। अत इसकी सूचना देते हुए अमात्य को कहदो कि वह मेरे लिए आखेट की व्यवस्था करदें, तथा राज्य का कार्य स्वयं देखे।

तृतीय दृश्य में राजा आखेट के लिए जाता है। आखेट मे वह वन में भ्रमित हो जाता है और अपने कर्मचारियों से विलग हो जाता है। अत्यधिक थकान के कारण वह प्यास से व्याकुल हो कर तृषा शान्ति के लिए जलान्वेषण के लिए तत्पर होता है। कुछ समय पश्चात् वह उस शून्य जगल मे एक शान्त आश्रम को पाता है। वहा पहुँचने पर वह देखता है कि एक मुनि ध्यानमग्न स्थित है। राजा उससे जल मागता है किन्तु मुनि के ध्यान-मग्न होने के कारण राजा की इच्छा पूरी नही हो सकती। इस पर राजा को क्रोध आता है और वह मुनि को अपमानित करने के लिए सोचता है कि उसकी दृष्टि एक मृतक सर्प पर पड़ती है। राजा उसे उठाता है और उसे मुनि के गले मे डाल कर वहा से चला जाता है [1] उसके

१—निर्जले निर्जनेऽस्मिन्न् प्रदेशे न दृश्यते क्वचिदंशोऽपि पानीयस्य तथापि पतामि यावत् मूर्च्छितः अन्वेषयाम्येव तावद यदि भवेद् क्वचिद् कस्यचिद किंचिद् आवास स्थानम्। अकस्मात् तरो रे कस्याधा स्तात् ध्यानोवस्थमेकं तापसमव लोक्य—भो तपस्विन् परीक्षितः त्वा अभिवादयति देहि मह् मे पानीय। अस्तु कुटिलानेन दभिना सह वा वक्रगते योग्यः सम्बन्ध.

(क० दे० द्वि० अ० तृ० दृ०)

तत्काल पश्चात् कुछ बालक वहा क्रीड़ा करते हुए पहुंचते हैं। बाल-क्रीड़ारत बालकों में से एक ने ऋषि-पुत्र शृंग से कहा कि क्या बढ़-बढ़ कर बातें कर रहे हो देखो, तुम्हारे पिता के गले में तो किसी ने सर्प डाल दिया है। इस बात पर बालक शृंग कोपाग्नि से युक्त हो कर कहता है कि जिस किसी ने भी मेरे पिता का अपमान किया उसे आज के सातवें दिन यही सर्प डसेगा और वह सर्प दंश से ही मृत्यु को प्राप्त होगा। मुनिकुमार की शापवाणी से सारावातावरण भय त्रस्त हो उठता है व आकाश मे घर-घराहट की आवाज होती है। इससे मुनि का ध्यान भंग होता है और जब उन्हें वस्तु स्थिति का ज्ञान होता है तो वे अपने पुत्र को डाटते हैं कि इस प्रकार ऋषि पुत्र होकर क्रोध करना तुम्हारे लिए उचित नही। बिना सोचे तुमने भारी अनर्थ कर दिया। ऋषि अपने योग बल से गले में सर्प डालने वाले के विषय में जानने पर तो और भी अधिक क्षुब्ध होते हैं तथा शीघ्र ही शाप निवारण के प्रयत्न हेतु चले जाते हैं।

चतुर्थ दृश्य में मुनि राज्य दरबार मे पहुंचते है और राजा को एकान्त मे ले जाकर निवेदन करते हुए कहते हैं कि राजन आज बड़ा भारी अनर्थ हो गया। उसके पुत्र ने एक धार्मिक नरेश को राज्यच्युत होने तथा मरण का शाप देकर महान् पाप किया है। महाराज के पूछने पर मुनि सम्पूर्ण वृत्त बता देते है। इस पर राजा को भी बड़ा कष्ट और भय होता है। मुनि राजा से यह कहकर चले जाते है कि मैं इस शाप निवारण के लिए अनुष्ठान व देवाराधना कर रहा हूं किन्तु आप भी इसके प्रायश्चित हेतु विशेष रूप से धर्माचरण व पुण्यादि का आयोजन करें ताकि भगवत् कृपा हो जाये तो यह अनर्थ न होवे।

पंचम दृश्य में राजा अपने मंत्रियों को बुलाकर उन्हे समस्त दु:खद वृतान्त से अवगत कराते है। मंत्रिगण इस घटना को सामान्य स्तर की बताकर राजा के मन से भय दूर करने का यत्न करते है किन्तु राजा कहता है कि मेरा अपराध सामान्य नही था। अतः मुनि पुत्र का क्रोध उचित था। अब यह सब तो घटित होगा ही, तथा यह फल एक प्रकार से मुझे अपने राज्य कार्य की अव्यवस्था के फलस्वरूप ही मिल रहा है क्योंकि यदि बीहड़ वन में जलादि की व्यवस्था होती तो मेरा मानस विकृत नहीं होता अतः मेरे पापों व प्रमादों का फल ही तो मिल रहा है। अस्तु अब तो आप यथा शीघ्र सुदूर जगलों व दुर्गम स्थानों पर पानी आदि की व्यवस्था के लिए

सरोवर व प्याऊ आदि की आयोजना करें । जंगलों के मार्ग ठीक किये जाने तथा जो अव्यवस्थाएं हैं, उनका निराकरण किया जाये ताकि प्रजा-जनों का कष्ट दूर हो। मैं चाहता हूं कि अपने इस सप्ताह भर के शेष जीवन में अधिक से अधिक जनहित के कार्य सम्पन्न कराद्‌ं ।

तृतीय अंक

इस अंक का प्रारम्भ जंगल में कार्य पर जाते हुए श्रमिकों की वार्तालाप से है । श्रमिकों की वातों से ज्ञात होता है कि राजा अपने शेष जीवन में अधिकाधिक जनहित के कार्य सम्पादित करा सकेगा । श्रमिक कहते हैं कि जब कोई रोग व्यापक रूप में फैल जाता है तो चतुर चिकित्सक उत्तम औषधियों से उनका निराकरण करता है:—

व्यापके रोग मचारे हेतु विद्‌मि भिषग वरैः
व्यापके भैषजे कैश्चिद्‌ व्यापकं हि चिकित्सकैः
(क० दे० तृ० अं०-३)

महाराज के शाप को सुनकर दूर-दूर से मुनिजन आ रहे हैं उनके आवास व भोजन व्यवस्था आदि की मन्त्रिगण बड़ी सावधानी से व्यवस्था कर रहे हैं । इतने में सूचना मिलती है कि मुनि शुकदेव भी पधार रहे हैं। राजा को सूचित किया जाता है । हरिस्मरण करते हुए शुक देव के शिष्य-समूह का राजधानी में प्रवेश होता है । राजा उनका स्वागत करते हैं। वार्तालाप व उपदेश के समय शुक मुनि कहते हैं कि इस विचित्र स्वप्न की सृष्टि में आदिकाल से हम क्या क्या नही देखते ? इस क्षणिक संसार में कितना क्षणिक परिवर्तन सदा चलता रहता है । यहा न कोई उत्पन्न होता है और न कोई मरता ही है:—

विचित्रे स्वप्न सर्वेऽस्मिन् अनाद्यन्ताद्धि कालाद्धि
न किं किं नित्यमालोक्यं विलोक्यं क्षणे सर्वम्
नयः कश्चिन्न संजातो न वा कश्चिद्‌ गतो लोका
मृणानन्तानि रूपाणि न माया किं किमाधत्ते
(क० दे० तृ० अ०-३)

सन्ध्या होती है मुनिजन अपने नित्य कर्म में लीन हैं । उस समय कलि राजा के केवल दो दिन के शेष जीवन को देखकर और भी अधिक

उत्साह से अपने लक्ष्य प्राप्ति के कार्यों में जुट जाता है।

चतुर्थ अंक

इस अंक में केवल दो दृश्य हैं-प्रथम में कलि और कश्यप का सम्वाद है व द्वितीय मे शुकोपदेश

प्रथम दृश्य के आरम्भ मे कलि सोचता है कि आज राजा परीक्षित के जीवन का अन्तिम दिवस है। आज धर्मराज के कुल का अन्त मैं अपनी आखों से देखूंगा। इतने मे ही उसका सारथी आकर उसे सूचना देता है कि महाराज परीक्षित के काल रूपी नाग को किसी विशेष कश्यप ब्राह्मण ने मार्ग मे ही रोक लिया है, कलि कश्यप के पास पहुंचता है, दोनों में गर्वोक्ति पूर्ण सम्वाद होते हैं। एक दूसरे पर अपने बल की प्रक्रिया चलती है। तदनन्तर गणकवेश मे काल के द्वारा फलादेश के कथन से प्रभावित होकर तथा उत्कोच के लोभ में आकर कश्यप लौट जाता है और इस प्रकार तक्षक का मार्ग प्रशस्त हो जाता है:—

धर्मं राजस्य पौत्रस्य कालोऽयं चाशुवो महान्
नष्टेकोऽपि ग्रहो यस्य प्राणानां रक्षकोऽधुना
(क० दं० अं० ४–११)

अन्तिम दृश्य में शुक मुनि के तात्विक उपदेशों से राजा परीक्षित जीवन के वास्तविक सत्य का अनुभव करता हुआ ध्यानस्थ होकर सोचता है कि वास्तव में अब मैंने जीवन के सत्य को जान लिया है और मै गत संशय हो गया हूँ—

संजातं कृत–कृत्यमत्र निखिलं मज्जीवनं साम्प्रतम्
सम्प्राप्तं सकलं तलक्षिति तले प्राप्यं यदासीऽअने
जातोऽहं संशयो गत भयो मुक्तःऽधुना जीवितः
शांति यानु भवामि कांचन परां दिव्यं प्रकाशान्वितः
(क० दं० अं०–१७)

राजा समाधिमग्न हो जाता है और इस ध्यानावस्था मे तक्षक उसे डस लेता है। राजा मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। तत्पश्चात् मुनि शुक परीक्षित को अभिमंत्रित जल से पुनः जीवित कर उसे कृष्ण दर्शन कराते हैं।

इस पर कलि पुन. धर्म स्थापन से भयभीत होकर दीनता का अनुभव करता है। अन्त मे इस प्रार्थना से नाटक का समापन होता है।

जय जगदीश हरे, जय जगदीश हरे स्मर स्मर जगदीशं जगदीशं स्मर सततं स्मर के प्रतिपलमिहह खलु मिथ्या भ्रान्त्या भ्रान्तमति र्भुवि एवं नहि चररे ॥

चरित्र विधान

प्रस्तुत नाटक मे प्रमुखत: चार पात्र है:—परीक्षित, कलि, शुकदेव और शमीक मुनि। इन चारों ही पात्रो के चरित्र का पूर्ण उन्मेष इस कृति मे रचनाकार की लेखनी से हुआ है।

(१) परीक्षित

राजा परीक्षित 'कलिदैन्यम्' का प्रमुख पात्र है। राजा अपने वशगत स्वभाव व धर्मव्रतो में आचरणरत संयमी नृप है। वह धीर गम्भीर तथा दृढ़व्रती है। कर्त्तव्य पालन के प्रति जागरुक तथा प्रजाहितो का पोषक है। एक आदर्श नृपति के समान प्रजा के हितो की रक्षा करना उसके जीवन का परम उद्देश्य है.—

रक्षया राज्य जनस्थितिः प्रतिपल धर्माश्रिता भूभृता
योऽद्यस्य प्रकृतेरकाण्ड घटितं स्तंस्ते स्तया वर्तनैः
चिन्त्यं नैव सुखं निज क्षणमहो लोकेरे परेषांसुखम्
धन्य' कोऽपिस भूपति र्भुवि भवेद् चिन्तामि भूतोनयः
(क० दै० प्र० २-५)

वह गो रक्षक और दृढ़व्रती है:—

प्राणा भारत वासिनां सुकृतिनां, नित्यं स्थिरा गोकुले
तेषां सा जननी गतिश्च चरमा गावो बलम् शाश्वतम्
यावत् दुग्ध सुधाभिर्भिषिक्त विषया सद्भारतीया धरा
तावत् पापपर न काचन गतिलोके भवेन्नः क्वचिद्
(क० दै० १-३)

राज्य के कल्याण कारी कार्यों को निरन्तर सम्पादित करना ही उनके जीवन का लक्ष्य है। वह भारतीयता का पुजारी व गो, ब्राह्मण का

सेवक है। सर्व प्रथम जब उसने कलि को देखा तो उसे अपने देश से निष्कासित करने का पूर्ण प्रयत्न करता है किन्तु काल की गति के आगे उसका वश नही चलता अतः वह खिन्न हो जाता है.—

हे काल चक्र परमप्रबलोऽसि नूनम्
कश्चिन्न ते गतिमिह क्षमते निरोद्धुम्
सम्प्रेरके स्वयमहो प्रतिकूल भावे
को नाम मानव मतेरपरोऽस्तु गोप्ता
(क० ई० अ० १–७)

शाप-ग्रस्त हो जाने पर मृत्यु के भय से उसके हाथ पैर नही फूलते और नही वह अपना मानसिक सन्तुलन खोता है अपितु शान्त-चित्त से जन-हित के कार्यों की ओर ध्यान देता है। वह अपने जीवन के शेष बचे हुए सप्त-दिवसों मे अपनी प्रजा के हित के लिए अधि-काधिक कार्य सम्पादन मे सफल काम होता है। विषम और भीषण परिस्थितियों के आने पर भी जो अनासक्त भाव से साहस के साथ अपने कर्तव्य का सतत पालन करते रहते हैं वे ही वास्तव में मनस्वी होते हैं। ऐसे जन दुःख व सुख को नही गिनते।

'मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःख न च सुखम्' परीक्षित एक ऐसा ही नायक है। जीवन के अन्तिम समय मे सुकदेव मुनि से उपदेशामृत का पानकर अपने जीवन की कृतकृत्यता अनुभव करता हुआ ध्यानस्थ होता है इस ध्यान मे ही उसे तक्षक डसता है और वह महासमाधि में लीन हो जाता है। जीवन की अन्तिम वेला की उसकी शुभ चिन्तना कितनी महान् व उच्च रही.—

मजातं कृत-कृत्यमत्र निखिलं मज्जीवनं साम्प्रतम्।

इस प्रकार प्रस्तुत नाटक का नायक अपने महनीय उदात्त गुणो की गरिमा से महान् नायक है।

(२) कलि

कलि इस नाटक का खलनायक है। एक प्रतिनायक में जो शक्ति क्षमता नायक के विपरीत गुणों से समन्वित होनी चाहिए। वे सब शक्ति

मे विद्यमान है। वह अपने प्रभाव को जमाने के लिए अनेकानेक षडयंत्रकारी दुर्नीति पूर्ण योजनाओं को बनाने में पूर्ण निष्णात है। मानव को पतनाभिमुख करने वाले समस्त अवगुण यथा आलस्य, छल, कपट, अधैर्य, काम, क्रोध, लोभ तथा मात्सर्य आदि उसके परम सहयोगी हैं। अपने इन अवगुणों बन्धुओं की सहायता से वह मानव मात्र को पापाचार की ओर प्रवृत्त करने के लिए अग्रसर होता है। विचारों की दृष्टि से वह भौतिकता का पक्षपाती और अध्यात्मिकता का परम विरोधी है।

> शुकेना ध्यात्मवादोऽसौ जगत्यां चेत् प्रसार्यते
> अस्माकं मध्यमोघोऽसौ दिव्यास्मो ह्याधि भौतिकः
> स्थापिते भौतिके वादे, स्थीयेतां ह्यात्मवादिभिः
> योगिनोऽपि विलीयेरन्, समाधौ योगिनायतः
>
> (क० दै० अं०–३-१५)

भौतिकवाद की स्थापना के बाद भी वह अपनी स्थिति की दृढता के लिए सतत प्रयत्नशील है। इस प्रकार कलि अपने उद्देश्य की प्राप्ति में पूर्ण प्रयत्नवान है तथा कुछ अंशों में सफलता भी प्राप्त कर लेता है और हम देखते हैं कि राजा भी उसके प्रभाव से बच नहीं पाया और राजा की मृत्यु का कारण भी अप्रत्यक्ष रूप से वही होता है। किन्तु अन्त में राजा के मरणोपरान्त मुनि के तप प्रभाव से जब परीक्षित को पुनःजीवन मिल जाता है तथा उसे कृष्ण दर्शन होते हैं तो कलि अपनी पराजय को स्वीकार कर बड़ी दीनता का अनुभव करता है और वहां से पलायन कर जाता है। इस प्रकार अन्त में सत्य की ही विजय होती है।

(२) शुकदेव

'कलिदैन्यम्' में दो ऋषियों के पुनीत चरित्रों का विकास दर्शन पाठक पाते हैं। प्रथम है शुकदेव और दूसरे हैं शापदाता बालक शृंग के पिता शमीक मुनि। इसमें दूसरे ऋषि शमीक के अपमान के फलस्वरूप परीक्षित को मृत्यु का वरण करना पड़ता है तो शुकदेव के उपदेशामृत से राजा अपने जीवन की अन्तिम वेला में आत्म दर्शन व कैवल्य ज्ञान को प्राप्त कर 'मुक्ति' कामी बन जाता है तथा मृत्युपरांत कृष्ण-दर्शन का आनन्द अनुभव करता है। शुकदेव एक जन्मजात विरक्त योगी हैं किन्तु यह विरक्त भावना उनको स्वय की ऐहिक ऐषणाओं के प्रति ही है, पर हिताय कार्य करने में वे सदा आसक्त बने रहते हैं। परीक्षित के शाप-ग्रस्त होने

की सूचना प्राप्त करते ही वे अपनी शिष्य मण्डली के साथ राजा को वास्तविक जीवन दर्शन का बोध कराने हेतु आ जाते हैं। वे सभी को आत्म-संयम और इन्द्रिय निग्रह का उपदेश देते हैं। कलि अर्थात कुत्सित विचारों से दूर रहने के लिए यह आवश्यक भी है कि मनुष्य यम नियमादि व्रतों का पालन कर अपने दोषों का सतत परिहार करता रहे।

यदि भवेत् क्षणमिन्द्रिय निग्रहो, यदि मनोनिरतं च भवेत्शिवे
कलिकृता विकृतिर्नु कुलस्ततो, निज विकार वतोह हतोकलिः
(क० दें० अं० ३–७)

उनकी यह दृढ़ मान्यता है कि कलि के प्रसार को रोकने के लिए भातृस्वभाव, सत्य और कर्त्तव्य परायणता तथा अध्यात्म विषयक रति का मानव में अधिकाधिक प्रचार होना आवश्यक है। इनकी उपस्थिति में कलि कदापि नहीं रह सकता:—

स्वार्थमेव मति र्भवेन्न भवतां कार्यं परेषां हितम्
सद् भ्रातृत्वं च जने जने भवतु वो नेवं कलिवर्धताम्
(क० दें० अं० २–५)

इस प्रकार शुक मुनि अपने पावन पौराणिक व्यक्तित्व के समान ही इसमें चरित नायक के मुक्तिदाता के रूप में चित्रित हैं।

(४) शमीक मुनि

शमीक मुनि शाप दाता ऋषि पुत्र शृंग के पिता हैं। परीक्षित के द्वारा ध्यानावस्था में गले में सर्प डाले जाने पर तो नहीं किन्तु पुत्र के द्वारा राजा को शाप दिये जाने पर धरा कम्पने वाले घरघराहट की भीषण ध्वनि से उनका ध्यान भग होता है। वस्तु-स्थिति को जानने पर उन्हें अत्यन्त मानसिक कष्ट होता है। अतः प्रथम तो वे अपने अबोध बालक को उसके अविवेक पूर्ण कृत्य पर फटकारते हुए ऋषिकुमार के विपरीत आचरण पर पूर्ण भर्त्सना करते हैं.—

मुनीनां शान्त वृत्तीनां नैव मार्गं कदाचनः
कृशानुदाह कर्मापि हव्यैः सन्तर्पयन्ति ये
(क० दें० अं० २-१६)

किन्तु जो हो चुका वह हो ही चुका। ऐसी स्थिति में उसके शाप के प्रभाव को न्यून उसी अवस्था में किया जा सकता है जबकि शापग्रस्त परीक्षित को इसका पता लग जाए। अतः वह शाप निवारणार्थ लोकोपकारी कार्य करे और अपने पुण्य प्रभाव को बढ़ावे। एतदर्थ इस भावना से अभिप्रेरित हो कर शमीक राजा के पास जाते हैं और उसे पूर्व ही पूर्ण सूचना देकर सत्कार्य सम्पादनार्थ प्रेरित करते हैं व स्वयं भी शापनिवारणार्थ अनुष्ठान में सलग्न हो जाते हैं। इस प्रकार शमीक ऋषि में ऋषि जीवन के समान परकल्याण कामना, तपश्चर्या संलग्नता एवं सात्विकता की चरम उत्कर्ष स्थिति पाते हैं।

अन्य पात्र

इन चार प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त अन्य भी दो पात्र हैं जिनका कर्त्तव्य कुछ विवेचनीय है। प्रथम है परीक्षित का प्राण हर्ता तक्षक और द्वितीय विशेष कश्यप। तक्षक नहीं चाहता कि वह परीक्षित जैसे महान् तपस्वी व लोकोपकारी राजा की मृत्यु का कारण बने किन्तु भाग्य की गति के समक्ष उसकी नहीं चलती और शाप मुक्ति की पूर्ति के लिए अन्त में उसे राजा को डसना ही पड़ता है। अपनी इस मन. स्थिति को वह इस प्रकार प्रगट करता है.—

'अरे ! परीक्षितेन किं अपराद्धं मे ! किमर्थं मेवाहिम नियुक्तो घोरेऽस्मिन् कर्मणि औषध विकलेन तेन'।

दूसरी तरफ कश्यप का चरित्र तक्षक से सर्वथा विपरीत है। एक को अर्थात् तक्षक को इस बात का पश्चात्ताप है कि व्यर्थ ही उसे यह पाप कर्म करना पड रहा है जबकि विशेष कश्यप विष-निवारण की शक्ति रखते हुए भी अपने लोभी स्वभाव के कारण राजा को पुनर्जीवित करने से पराङ्मुख हो जाता है। उसको इसका फल भी मिलता है कि वह अपनी विष निवारण की शक्ति से सदा के लिए हाथ धो बैठता है:—

''मंत्र विद्या प्राणिनां प्राप्त रक्षायै प्रादुर्भाविता। महर्षिभिः तत्तया च केवलं धनोपार्जनस्य प्रयुक्ता नाहं साम्प्रतं अत्र पुनः प्रकाश मेष्यामि।

सम्वाद योजना

प्रस्तुत कृति की सम्वाद योजना अपने आप में पूर्ण है विषयों के

विस्तार व न्यूनता के अनुरूप कहीं पात्रों के कथन अति दीर्घ हैं तो कहीं अति लघु व सामान्य। कहीं-कहीं पर व्यास शैली के दर्शन होते हैं तो कहीं दार्शनिक नाटककार आत्म-चिंतन की गहराइयों की अभिव्यक्ति में लीन प्रतीत होता है।

यथा प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य में व्यास शैली द्रष्टव्य है:—

अनन्ताचं:—प्रिया महाभागाः, कालक्रमानुसारं द्वापरस्यावमाने गोलोकम्-प्रयाते भगवति श्री कृष्णे तेन सहैवाथ प्रयास्त्विव चास्माकमपि सकलेषु सुसंस्कारेषु·············· प्रतिक्षणं पूर्णं सतर्कः।

ऊपर हमने व्यास प्रणाली के सम्वाद का उदाहरण देखा आगे लघु-वाक्य दर्शनीय हैं.—

मधुवाला—दुष्कल्पना प्रसूतं नाना विधं भयं प्रं स्तं चित्तंच मे प्रतिक्षणं मह्य मुद्विजते।

सर्वानन्दः—मृगाक्षि निर्मूल ते भयमेतत् अचिन्त्य शक्ति समृद्धो अस्माकं महा नायकः

बुद्धि मोहन—इन्द्र प्रस्थं गतो भवानिति वयं जानीमहे

कल्मषः—दिशाशूलोन्मुखीयं मे यात्रा स्यास्यति नूनं चिरं अविस्मरणीया।

इसके बाद चतुर्थ अंक में शुक मुनि के उपदेशों से प्राप्त आत्मानन्दानु-भूति का वर्णन कितना गम्भीर है:—

परीक्षितः—परम कारुणिकस्य महर्षे शुकदेवस्यामृतयोपदेशेन क्षणेऽस्मिन् प्रत्येमि:संजातं कृत कृत्यमत्र निखिलं मज्जीवनं साम्प्रतम्।

(क० दं० अं० ४-१७)

अनुभवन्नेवमात्मनि कांचनपरामुनि वचनीयां दिव्यां शान्तिं स्वतएव भवति स परम विलक्षणे स्थिरे कस्मिश्चन समाधि सौम्ये निसग्नः भगव-च्चरणार्पितेषु पुष्पे स्वन्तर्हितः परमक्षुद्रा कृतिः तक्षकश्च कालोऽयं सर्वथा तद् नीसाध्य सिद्ध ये समुचित इति विमृशन् स्पृशति तद् गात्र स्वदंशेन।

इस प्रकार पात्रों की स्थिति तथा भावानुकूल सम्वादयोजना की सर्जना में हमारा प्रौढ़ रचनाकार पूर्ण रूप से निष्णात है।

उद्देश्य

प्रस्तुत कृति की प्रस्तावना में नाटककार ने विश्व की भयाक्रान्त स्थिति का चित्रण करते हुए कहा है'—

> सर्वतः कलहाक्रान्ताः नानाशोक भया कुलाः
> सर्वे सत्र प्रतीक्षन्ते द्रष्टुं दैन्यं कले र्बुधा'
> (क० दै० अ०-१-२)

इस प्रकार आज का सारा संसार भय व पीड़ा से व्याकुल है। इस अशान्ति एवं व्यथा का मूल है मनुष्य की वे हीन प्रवृत्तियां जिन्हें कलि के प्रभाव से मानव की बुद्धि का भ्रष्ट होना व उनका मोहग्रस्त होना आदि कहते है।

पौराणिक मान्यताओं के अनुसार भारत में इस पापवृत्ति (कलि) का प्रवेश परीक्षित के समय माना जाता है। इसने सर्व प्रथम गौ पर प्रहार किया था तत्पश्चात् मनुष्यों की कर्त्तव्य बुद्धि को भ्रमित किया।

दूषित प्रवृत्तियो का बचाव हम अपनी विवेक शक्ति से कर सकते हैं और वह विवेक शक्ति हमे मिलती है सच्ची शिक्षा से। अतः सर्वप्रथम कलि ने भी काल के प्रभाव से अकर्मण्यता के अवगुण को धारण किया और प्रजा में अनेक प्रकार की बुराइएँ व्याप्त हो गईं। इस प्रकार क्रमशः सभी वर्गों और वर्णों पर कलि का प्रभाव हो गया और आज यह स्थिति है कि कोई भी अपने कर्त्तव्य–धर्म का पालन अच्छी प्रकार से नहीं कर रहा है।

'कलिदैन्यम्' में इन दोषो के क्रमिक विकास के बाद उनके निवारण के अनेक उपाय नाटककार ने निर्देशित किये हैं जिनकी परिपालना से मनुष्य सच्चे अर्थों में मनुष्य बन सकता है। प्रत्येक अंक के सभी दृश्यों मे एतदर्थ नाटककार द्वारा दिये गये उपदेश अति ग्राह्य है। इस प्रकार नाटककार की दृष्टि में कलि के निवारण का एकमात्र उपाय यही है कि मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं पर संयम नियम रखकर अपने आत्म विकास हेतु प्रयत्न करे तथा अपने उच्च मानवीय गुणो का विकास करें।

भाषा और शैली

अपनी अन्य कृतियों के समान श्री शास्त्री ने इस रचना मे भी

सरल व प्रसादमयी भाषा का ही प्रयोग किया है। प्रसाद गुण समन्वित वैदर्भी रीति नाटककार की अपनी प्रिय शैली है। अतः इस शैली के कारण कही पर भी कथन में किसी प्रकार की वक्रता व व्यग्रता नही मिलती। नाटक का प्रत्येक पात्र अपनी बौद्धिक क्षमता के अनुसार ही विशिष्ट और सामान्य संस्कृत का प्रयोग करता है। उपजाति, मन्दाक्रान्ता शिखरिणी तथा अनुष्टुप रचनाकार के प्रिय छन्द हैं, तथा उपमा, उत्प्रेक्षा व अनन्वय और काव्यलिंग प्रिय अलंकार। इस प्रकार उपर्युक्त छन्द व अलंकारो से समन्वित 'कलिदैन्यम्' का अलंकरण अनुपम है।

देश काल

प्रस्तुत कृति में अभिनव नाटकों के तत्त्व का समावेशन भी हम उचित रूप मे पाते हैं क्योंकि भारत मे कलि प्रवेश की घटना के वृतान्त के अनुसार ही पात्रो की योजना है, तथा तदनुसार ही वातावरण का सृजन नाटककार ने किया है। देशकाल के तत्त्व को ही पाश्चात्य समीक्षक संकलन का रूप देते हैं। हम देखते हैं कि कलि के भारत प्रवेश से लेकर परीक्षित की मृत्यु तक के समय की कालावधि नही रही अतः श्री शास्त्री ने अपने वस्तु वृत्त के विकास में उस काल तथा स्थान की अन्वितियो मे ही किया है। तथा पात्रो के नाम, आचरण तथा स्थान विशेष आदि में उस समय व स्थान के अनुरूपता का ही पालन किया है।

रस योजना

श्रीमद् भागवत् की कथा पर आधारित तथा, प्रसिद्ध परीक्षित के कथानक वाले इस नाटक मे शृंगार व वीर रस की अन्वेषणा व अपेक्षा विशता नही। यह कथा जीवन की निर्वेद व शान्त भावनाओ की प्रकाशिका व प्रसारिका है अत. उसका प्रमुख रस शान्त रस ही है। नाटककार ने नाटक के आरम्भ से लेकर अन्त तक शान्त रस की निष्पत्ति मे सहायक भावों के विकास के लिए आलम्बन उद्दीपन स्थितियों का निर्माण किया है। यथा प्रथम अक मे हम पाते है कि कलि अपने दल-बल सहित नास्तिक गुणों के संहार की योजना बनाता है और मदिरालय मे बैठ कर भ्रष्टाचार के प्रचार के लिए अपने काम, क्रोधादि साथियो को प्रोत्साहित करता है। उसकी योजना रग लाती है और राजा को पौरजनो से नागरिकों मे

भगत विलास वृत्ति की सूचना मिलती है। राजा परीक्षित केवल आखेट के समय ही कलि के प्रभाव में आता है शेष समय उस पर भौतिक भावनाओं का किंचित मात्र प्रभाव भी नहीं पड़ता वह सर्वदा अपने राज्य में शुद्ध व सात्विक गुणों के प्रचार प्रसार के लिए चिन्तित व प्रयत्नशील रहता है:—

रक्ष्या राज्य जनः स्थितिः प्रतिपलं धर्माश्रिना भूभृता।
योद्दस्य प्रकृते रकाण्ड धरितं स्तैरतं स्तथा वर्तनैः।
(क० दै० अं०-२-५)

परीक्षित के राज्य में दुराचरण बढ़ जाने पर उसकी निद्रा भंग हो जाती है यह राजा की परम सात्विक व सयम वृत्ति की ही तो परिचायिका है:—

आशा प्रफुल्ला जगती मदोया शोच्या गतिं हन्त गतो विचित्राम्।
निद्रातुरश्चापि लभे न निद्राम् निराकुलं नापि वसं मनो में॥

इसी प्रकार शमीक ऋषि को जब अपने पुत्र द्वारा राजा के शापित होने का पता चलता है तो वह अपने पुत्र शृंग की भर्त्सना करता हुआ कहता है:—

मुनीनां शांत वृत्तीनां नैष मार्गः कदाचन
दुर्विभिः ये सदा बह्निः तर्पयन्ति प्रवाहकम्

इस प्रकार 'कलिदैन्यम्' के प्रत्येक अक के प्रत्येक दृश्य में हमें शांत रस की उद्दीपना में सहायक भावों का बाहुल्य मिलता है। अतः प्रस्तुत कृति शांत रस को सतत प्रवाहित करने वाली सुरसरिता के समान अपना शाश्वतिक महत्व रखती है।

कलिदैन्यम् की अभिनेयता

पौराणिक एव प्रसिद्ध कथानक के अभिनय में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुआ करती। इसमें कोई भी ऐसा दृश्य नहीं है जिसका रंगमंच पर अभिनय नहीं किया जा सके। प्रथम अक के पांचों दृश्यों का पजीकरण सुगमता पूर्वक संभव है तथा परीक्षित के आखेट का दृश्य और मुनि के गले में मृत सर्प डालना फिर लीलारत बालकों का वहां आना और पर—

स्पर एक दूसरे पर क्रोश व आक्रोश तथा ध्यानस्थ ऋषि की ओर संकेत करके बालक शृंग को चिढ़ाना और फिर उसका कुपित मुद्रा में शाप देना और भयंकर गर्जना आदि का दृश्योकरण बड़ा आकर्षक बन सकता है। मुनि के ध्यान भंग होने पर पुत्र की भर्त्सना और त्वरागति से राजा के पास इसकी सूचना अभिनय भी सरल है। हां अनेक मुनियों आदि के आगमन-दृश्यन मे थोड़ी कठिनाई आ सकती है किन्तु ये दृश्य परदे पर दिखाये जा सकते हैं और फिर शुकमुनि का उपदेश एवं तक्षक और कश्यप-संवाद का दृश्यांकन भी कोई कठिन नही। ध्यानस्थ परीक्षित का कृत्रिम सर्प से डसन संम्प्रति सहज है। इस प्रकार 'कलिदैन्यम्' का अभिनय सर्वथा संभव है। साथ ही यह नाटक संकलन भय की कसौटी पर भी खरा उतरता है क्योंकि इसमें वर्णित घटनाएं काल, स्थान तथा देश तीनों ही दृष्टियों से पूर्ण सामंजस्य बनाये हुए हैं।

□ □ □ दुर्बल बलम्

श्री शास्त्री जी की नाट्यकला की प्रवीणता का हम पूर्व आलोचित दो नाटकों में अनुभव कर चुके हैं प्रस्तुत कृति नाटककार की सर्वथा अर्वाचीन व नवीनतम नाट्य रचना है 'मुद्रा राक्षस' के समान इसका वर्ण्य-विषय भी पूर्णतया राजनीति से सम्बन्धित व आश्रित है। किन्तु इसमे हमारा नाटककार मुद्रा राक्षस के रचयिता विशाखदत्त से भी आगे बढ़ा है। मुद्राराक्षस मे भारत के एक राज्यकुल के पतनोत्थान हेतु गुप्त राजनीतिक कूट मन्त्रणा है। अपने समय के दो महामंत्रियों की राजनीतिक सूझ-बूझ की शतरंज की चालों का अभिनय व मच के माध्यम से अभिव्यक्तिकरण है जबकि 'दुर्बलबलम्' में हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक पर एक अभिनव संस्कृत मनीषि की राजनीतिक सूझ-बूझ व अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान पाते हैं।

विश्व के साम्यवादी देशों में अग्रणी और ससार की तीसरी महाशक्ति के रूप में उदित होने वाले लाल चीन ने एक अति लघु-काय किन्तु विशिष्ट भौगोलिक स्थिति वाले शान्त व सात्विक राष्ट्र तिब्बत को अपनी साम्राज्यवादी विस्तार नीति का प्रथम ग्रास बनाया। भगवान् बुद्ध के महिमा धर्म का महान् समर्थक 'तिब्बत' चीन की महती विकराल सैन्य शक्ति का कुछ भी प्रतिकार नहीं कर पाया और पराधीन हो जाता है। वहां के राष्ट्र नेता लामा आदि शरणार्थी बनकर भारत सहायता प्राप्त करने इस

देश में आते हैं और यहां के महान् नेताओं से सम्पर्क कर "विश्व मंच" पर अपने साथ हुए अन्याय की वाणी देने में समर्थ होते हैं। इसी वृत्त को नाटक की कथावस्तु का आधार बना कर श्री शास्त्रीजी ने इस रूपक की रचना की है। संस्कृत साहित्य में इस दृष्टि से यह सर्वथा नवीन प्रयोग व कृति है जिसमें एक साथ समस्त एशिया और सम्पूर्ण जगत् के प्रधान संगठन संयुक्त राष्ट्र संघ, तथा चीन और जापान एवं इण्डोनेशिया आदि अनेक राष्ट्रों का संगम पाते है। इस प्रकार विश्व राजनीति पर अभिनव संस्कृत साहित्य में विरचित यह प्रथम रचना है। चार अंकों में ही परिसमाप्य यह कृति अपने स्वरुप विस्तार की दृष्टि से भी पूर्व दोनों नाटकों से अधिक बृहद्काय है।

'दुर्बल बलम्' का वस्तु विधान

प्रथम अंक

नाटक सूत्रधार और पारिपार्श्विकता की भूमिका से प्रारंभ होता है जिसमें सबसे पहले तिब्बत से भारत में प्रवेश करते हुए दलाई लामा के दल का गाते हुए प्रवेश दिखाया है।

> दुःशक्तिर्भवबाधनाय, नियतं निम्नं तलं गाहते।
> दुर्नितिश्च परापकारनिरता दोषाग्निजान्नेक्षते॥
> तीरत्रोटनतत्परा यदि सरित् तीरे न संरुध्यते।
> नूनम्भाश्र्वगताऽखिला वसुमति पूरैः परिप्लाव्यते॥
> (वि० ग्र० २८६-५)

इस नाटक का प्रधान पात्र आनन्द भिक्षु अपने कुछ साथियो के साथ आगे जाकर "दलाई लामा" का स्वागत करता है। दलाई लामा कृतज्ञ होकर कहते हैं कि आपका स्वागत शिरोधार्य है:—

> साधु भो भिक्षुवर, साधु ! अधुनाहि
> इडोऽसौ विश्वासो हृद्तम इदानीं हि जनितः।
> स्वभावात् सर्वेषामुपकृतिरता भारतजनाः
> दुराचारं केषांचिदपि नहि सहन्ते वसुतिषम्।
> स्वतन्त्राः स्वातन्त्र्यं भुवि सततमीप्सन्ति फलितम्।
> (वि० ग्र० २८८-६)

इसके बाद वे कहते हैं कि सर्व-प्रथम आप इस देश के किसी उच्च अधिकारी को हमारे आगमन की सूचना दे। इस पर आनन्द, दलाई लामा के दल के शक्ति रक्षक नामक एक व्यक्ति के साथ उस प्रदेश के प्रशासक से मिलता है। आनन्द के मिलने पर वह प्रशासक बताता है कि लामा के आगमन और उनके आवास व्यवस्था आदि करने की सूचना व निर्देश मुझे केन्द्र से मिल चुका है तथा वे शीघ्र ही तिब्बत के उस धर्मगुरु की गरिमा के अनुरूप ही आवास व अन्य व्यवस्था करवाता है। तत्पश्चात् दलाई लामा से परामर्श कर अपने लक्ष्य कार्य को सम्पादन करने हेतु आनन्द दिल्ली में आकर भारतीय संसद के अनेक सांसदों से इस विषय में परामर्श करता है। तिब्बत भारत का अति-निकट का राष्ट्र है तथा उससे उसका चिर और निकट का सांस्कृतिक संबन्ध है अत. भारत के संसद में इस प्रश्न पर विचार करने हेतु उनसे निवेदन करता है।

द्वितीय अंक

इसमें प्रारम्भ में तिब्बत के दो चरवाहे अपने प्रदेश में चीनी सेना द्वारा पशुओं के हरण के कारण व्याकुल होकर वार्ता करते हुए दिखाई देते हैं। चीनी सैनिक उनके खेतों में से लद्दाख के लिए सड़क भी बनाते है तथा उनसे बेगार लेते हैं। वे सैनिकों के अशिष्ट व्यवहार से त्रस्त है, तथा वे अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार चीनी सैनिकों का प्रतिकार करने का भी यथा शक्य प्रयत्न करते हैं और गुरिल्ला सैनिक संगठनों की रचना कर चीनियों को तंग करते हैं। इससे उस प्रदेश का चीनी सेनापति भी तिब्बती गुरिल्लों के इन छिपे आक्रमणों से तंग होकर अपने अधिकारियों को फटकारता है और उसी समय उसे जब पीकिंग से कोई विशेष सूचना मिलती है तो वह दूर बैठे चीन के उच्च सेनाधिकारियों की आलोचना करता है:—

> निर्देशः सुकरो लोके पालनं दुष्करं महत्
> स्पष्टेति यद्यथा यस्मिन् तत्तेनैवानुभूयते।
> (वि० प्र० ३०५–७)

तिब्बत के इन दृश्यों के साथ स्यालकोट के कैम्प में पाक–राष्ट्रपति 'अयूब' भी भुट्टो के साथ परामर्श करता हुआ दिखाया गया है। वे दोनों चीन के साथ मिलकर भारत को सताने की योजना बनाते है.—

आयूब:—दलपतेर्भारत प्रवेशानन्तरं स्वाभाविकोऽयं चैनानामसन्तोष.

समा चेत् स्वार्थ संसिद्धिः समं चेद् वैरकारणम्
स्वयं सम्वर्धते मैत्री नयज्ञानां ध्रुवं वचः ॥९॥

भुट्टो:—एवं चेन्मार्य्यं रादिश्यते तर्हि रसीयामरीकयो

रन्यया संभावनामविगणय्यापि प्रयते चैनान् प्रस्थातुम् ।

आयूब:—भवानेवात्र प्रमाणम् ।

भुट्टो:—अनुगृहीतोऽस्मि !

आयूब:—नचाद्यावधि रसीयैरामरिकैर्वा काश्मीर-समस्या समाधानाय प्रदत्तो ऽस्मभ्यं कश्चन वास्तविक· सक्रियः सहयोग· ।

भुट्टो·—महानुभाव, यथार्थन्त्वेतत उभेऽपीमे राष्ट्रे ऽस्मदर्थं साधनापेक्षया स्वार्थ साधनार्थैव वर्ततेऽस्माकं कृत्रिमे मित्र ।

आयूब·—अत एव च किञ्चिदित· किञ्चिच्च ततो निक्षिपद्भिः-रेभि र्यथा-स्माकं तथैव हिन्दुस्थानीयानां समक्षेऽपि नाट्यते द्विरंग नाट्यम् ।

भुट्टो.—तर्हि प्रेक्ष्यतां चैनायास्माकमपि किमधुनेवं त्रिरंगं नाटकम् ।

(वि० ग्र॰ पृ० ३०७-३०८)

इस प्रकार दोनो ही राजनयज्ञो की कूट-मन्त्रणा नाटककार ने दिखाई है। इधर आनन्द भिक्षु दिल्ली मे अपने उद्देश्य मे विशेष सफल न होने पर सारनाथ मे एक विशेष "बौद्ध सम्मेलन" का आयोजन करता है। उसमें विभिन्न देशो के बौद्ध एकत्र होकर तिब्बत की रक्षा का उपाय विचारते है।

चीन मे "माओ" और "चाऊ एन लाई" भारत पर आक्रमण की मन्त्रणा करते है। इधर दलाई लामा के कैम्प मे भारत की चुप्पी और अपनी स्थिति पर असन्तोष फैलता है। आनन्द भिक्षु उन्हें आकर शान्त करता है और कहता है कि शीघ्र ही समस्त एशियाई देशों का सम्मेलन तिब्बत कीस्वतन्त्रता पर विचार करने के लिए बुलाया जायेगा।

तृतीय अंक

इस अंक का समारंभ नेहरू के विश्राम कक्ष के स्वागत मे होता

है । तिब्बत पर चीन के अधिकार से क्षुब्ध भारत का यह नेता अति खिन्न मना चीन की विश्वास-घाती नीति पर दुखित है। चूंकि चीन के साथ भारत का मैत्री सम्बन्ध है और विरोधी सासद जन भावनाओं को विक्षुब्ध करने वाले वातावरण का निर्माण कर रहे हैं आज विरोधी पक्ष के उच्च नेताओं के प्रश्नों के उत्तर देना है इस पर वे सोच रहे हैं और इसी समय संसद के समय का उन्हें ध्यान आता है —

नेहरू:—अहो प्रश्नोत्तर काल एव समपेक्ष्यते संसदि मदीया समुपस्थिति·

आनु नयामि समय एव समस्यातं सत्वरं मुसज्ज: ।
सह्यंवाद्य मौनं मया सर्वतोऽपि निरुत्तरस्त: सावधानां
सदस्यानां ते ते वाग वज्र बाणा· ।

(वि० प्र० ३२१)

लोक सभा के सदस्य उस दिन इसलिए कुपित थे कि चीनी सैनिकों ने पीछे से घात लगाकर भारत के सीमा प्रहरियों को मार दिया था। लोकसभा के सदस्य भारतीय शासकों की नीति से क्षुब्ध होकर उनकी भयंकर रीति से आलोचना कर रहे थे। लोकसभा के अधिवेशन के पश्चात् दलाई लामा के कैम्प मे निराशा कुछ विशेष रूप से बढ़ी हुई दिखाई देती है।

कश्यप·—अरे अलमधुना व्यर्थं दुराशावर्धकैरेभिरते काल्पनिकैः स्वप्नैः। न मया केद्युचन मंगल सन्देशधारिता मदीया कावन निष्ठा । निरन्तरं ● शान्तिः ॐ शान्तिरिति प्रजपद्भ्यो भारतीयेभ्यस्त्व शान्ति पाठमतिरिच्य किमधिकमास्मतां केनापि देशकालज्ञेन विज्ञेन। प्रयत्नसमासादिता चास्माभिरेवा शान्तिः ।

(वि० प्र० ३२६)

उधर चीन में माओ भारत पर आक्रमण की तैयारी करता है तथा हिमालय प्रदेश में छुट-पुट हमले भी प्रारम्भ कर दिये जाते हैं। हिमालय पर इन आक्रमणों से क्षुब्ध होकर सिद्धेश्वर और शिवानन्द नाम के दो हिमालयवासी हिमवासियों को संगठित करते हैं और उधर लोकसभा के विभिन्न दलों के सदस्यमनिवार्य रूप से सैनिक शिक्षा के लिए प्रस्ताव उपस्थित करते हैं ।

आनन्द भिक्षु के प्रयत्नों से आयोजित समस्त 'जम्बू द्वीप सम्मेलन' में एशिया के राष्ट्रों के प्रतिनिधि तिब्बत की मुक्ति के लिए अपने अपने विचारों को प्रकट करते हैं और अन्त में निर्णय करते हैं कि ये देश चीन का हर प्रकार से विरोध व बहिष्कार करेंगे तथा हिन्द चीन के प्रमुख 'च्याग काई शेक के साथ मिलकर चीन में भी आतंरिक विप्लव के लिए कोई गुप्त योजना प्रारम्भ करेंगे। वे सब चीन की दुःशक्ति को नियन्त्रित करने के लिए कहते हैं।

चतुर्थ अंक

इस अंक में विभिन्न देशों के द्वारा चीन के इस कृत्य की भर्त्सना किये जाने और उसका बहिष्कार करने पर चीनी छात्र और प्रबुद्ध जनों में क्षुब्ध भावना फैलती है। चीनी सरकार के विरुद्ध कानाफुंसी का आन्तरिक वातावरण बनता है। माओ के विरुद्ध चीनी जनता में विरोधीभाव तीव्रता को प्राप्त हो जाते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ में तिब्बत के प्रश्न को विभिन्न देश उठाते हैं तथा तिब्बत की सदस्यता के लिए राष्ट्र संघ में प्रस्ताव लाते हैं। तिब्बत संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बना लिया जाता है तथा उस पर गम्भीरता पूर्वक विचार प्रारम्भ होता है। उधर चीन में माओ विरोधी युग को छात्रों का प्रबल समर्थन मिलता है। माओ देश की इस आन्तरिक स्थिति को नियन्त्रण में नहीं कर पाता और अत्यन्त क्षुब्ध हो जाता है तथा चीन की इस आन्तरिक अशांति और सरकार विरोधी स्थिति का पता लगता है तो वे चीनी सैनिकों को अधिक तेजी के साथ तंग करने लगते हैं। अन्ततः चीन का आंतरिक विद्रोह इतना तीव्र व उग्र रूप धारण कर लेता है कि माओ और चाऊ एन लाई उसे शांत नहीं कर पाते और दोनों ही प्रशासक विमान द्वारा हनोई भाग जाते हैं। चीन में सत्ता परिवर्तन होता है और वे माओ विरोधी नये शासक सर्वप्रथम मैत्री सम्बन्ध स्थापित करते हैं तथा तिब्बत को पुनः स्वतंत्रता प्रदान कर दलाई लामा को वहां का प्रधान बनाकर उनकी सर्वसत्ता व प्रभुता को स्वीकार करते हैं और समस्त चीन दलाई लामा का उपासक बन जाता है। भगवान् बुद्ध की कृपा से चीन के भीतर का विद्रोह और प्राकृतिक प्रकोप शांत होते हैं। भगवान् बुद्ध पुनः तिब्बत में प्रकट होकर विश्व शांति का उपदेश देते हैं और एशिया के समस्त राष्ट्रों में शांति और पारस्परिक प्रेम का अभ्युदय होता है। नाटक की सुखांत समाप्ति पर भरत नाट्य इस प्रकार है —

रामः—नूनं भवतोऽनुग्रहं बिना नान्य किंचन् सुलभम् सर्वैरेवास्मा-भिरतः सम्भूय सान्त्वनेनैव सम्प्रार्थ्यते:-

राष्ट्रे राष्ट्रे भवतु नियता मातृभावाभिवृद्धिः
सर्वे देशा निज निज पदे शान्तिपूर्णा वसन्तु ।
स्पर्धानीतिर्नु वि विदधतां कूटनीतिः परास्ता
चित्ते चित्ते विकसतु तथा सन्मतिः साम्यसिद्धयं ॥

(वि० ब० ३४६–५४)

वस्तु विधान की समीक्षा

'दुर्बल बलम्' के कथानक से परिचय प्राप्त करने पर पाया कि इसका कथावृत्त ऐतिहासिक स्रोत एवं तथ्य समानुकूल होते हुए भी नाटककार की कल्पनात्मक प्रतिभाशक्ति के फलस्वरूप अपने विस्तार में व्यापक व सुन्दर विकास कर पाया है। प्राचीन नाट्य शास्त्रीय नियमानुसार कथानक प्रायः प्रख्यात होते हैं। ऐतिहासिक और पौराणिक आख्यानों के अतिरिक्त 'साहित्य दर्पण' के अनुसार वे उत्पाद्य भी होते हैं प्रस्तुत 'कथा' जैसा कि हमने पूर्व निवेदित किया कि ऐतिहासिक होते हुए भी अधिकांश में नाटककार की स्वकीय कल्पना प्रसूत है। इस प्रकार कुछ आधार पौराणिक अथवा ऐतिहासिक लेकर अपनी नवीन कल्पना के अनुरूप कथा-वृत्त का सर्जन करना प्राचीन संस्कृत कवियों की एक प्रकार से स्थायी रीति रही है। अत. श्री शास्त्री ने भी उसी परम्परा का निर्वहन करते हुए अपनी कल्पना को जो रूप प्रदान किया है वह इस प्रकार है।

राम (दलाई लामा)

(क) न चिरं दुर्दिना कान्त स्याता माम्य नमो हि नः

(वि० प्र० २६३-१५)

(ख) किं न साधयितुं शक्यं मेकै नापि दृढात्मना

(वि० प्र० २६१-१२)

(ग) वय हि दूरे निज राष्ट्र वार्ता-प्रतिस्वनेनापि न संगताः । स्मः
स्यालस्य कैलास हलास्य पूर्य दंष्ट्रागतास्तेन मुदैव स्त्रः

(वि० प्र० ३०३-४)

इस प्रकार 'दुर्वल बलम्" का वस्तु विन्यास ऐतिहासिक वृत्त समन्वित होते हुए भी श्री शास्त्री की स्वकीय कल्पना का ही अधिक आधार रखता है, जो कि नाटककार के राजनैतिक ज्ञान का परिचायक है।

चरित्र विधान

किसी भी कथा प्रधान साहित्य विधा में चरित्र की प्रमुखता उसके प्राण तत्व हुआ करती है। धीरोदात्त और धीरोदत्त आदि अनेक भेदों से हमारे प्राचीन नाट्याचार्यों ने इसके भेदों का वर्गीकरण किया है। जो अपने आप में परम व्यापकता लिए हुए है। प्रस्तुत नाटक में प्रमुखतः दलाईलामा (राम), आनन्द ब्रह्मचारी, पण्डित नेहरु, माओ त्सुग और सुंग आदि मुख्य पात्र हैं। इनमें भी प्रमुख पात्र केवल दो ही है दलाई लामा (राम) और आनन्द भिक्षु। ये सम्पूर्ण नाटक में पूर्ण रूप से समाए हुए हैं। आदि से अन्त तक इनके कार्यव्यापारों से ही सम्पूर्ण नाटक समन्वित व प्रभावित है।

(१) दलाई लामा (राम)

इस नाटक का प्रमुख पात्र दलाई लामा है। जिसे दलपति व राम के नाम से भी अभिहित किया गया है। वह एक धीर, वीर और शान्त नायक है जो आत्मचिंतन के साथ-साथ अपने अनुयायियों में समय-समय पर विश्वास के संचार में भी सक्षम और समर्थ है। वह इतना दृढ संकल्पवाला है कि अपने आप में अकेला ही सर्वशक्ति सम्पन्नता की दृढ अनुभूति रखता है:—

किं न साधयितुं शक्यमेकेनापि दृढात्मना

वह भारत में रहकर सदा इस बात के लिए प्रयत्नशील रहता है कि

यही वह नायक है जिसके बुद्धि बल की महानता को सिद्ध करते हुए नाटककार ने नाटक का नाम 'दुर्बल बलम्' रखा। अर्थात् जो दुर्बल है उसका यदि एक मात्र कोई बल हो सकता है तो वह उसकी बुद्धि ही हो सकती है। अपने बुद्धि बल के द्वारा ही चतुर व्यक्ति महान् से महान् कार्य की सम्पूर्ति कर सकता है। आनन्द के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर दलपति कहता है कि जैसे समुद्र मे डूबी हुई पृथ्वी का वाराह ने उद्धार किया था वैसे ही आनन्द ने अपने बुद्धि बल से दुष्टदल से पंकिल समुद्र से आप्लावित जम्बू द्वीप की इस भूमि का रक्षण व समुद्धार किया –

> वाराहेण समुद्धृता भगवती धात्री यथाऽम्भोनिधेः
> आनन्देन तथैव कुत्सितधियां बौद्धयादिपविप्लाविता
> जम्बूद्वीपमही स्वबुद्धिबलतो भूयोऽद्य संरक्षिता
> नूनं भिक्षुशिरोमणि–र्विजयते कोऽप्येष योगी महान्।
>
> (वि० ग्र० ३४६-२२)

प्रतीत होता है कि आनन्द एक महान योगी था और नाटक के 'दुर्बल बलम्' नाम को समर्पित करते हुए यही कहता है कि यहां सन्मार्ग को दिखाने वाली सद्मति प्रतिपल स्फुरित होती रहे तथा लोग सतत उद्यम शील एवं स्थिर बुद्धि वाले बने रहें। दोनों के परिपालक की स्वभावतः सभी पर अनुकम्पा बनी रहे वहां मैं भी 'दुर्बल बल' को सम्बल पा लेता हूं।–

> सद्यो यत्र मतिः स्फुरेत् प्रतिपदं—सन्मार्ग विद्योतिनी
> यत्र स्यादथ सोद्यमो दृढतमो नैत्रः स्थिरो निश्चयः
> दीनानाम्परिपालकस्य नियतात् सार्वभिकानुग्रहात्
> तत्राहो स्वयमेव दुर्बलबलं–रप्याप्यते सम्बलम्
>
> (वि० ग्रं० ३४६–२३)

अन्य पात्र

उपर्युक्त दोनो पात्रों के अतिरिक्त अन्य अनेक पात्र भी हैं किन्तु उनका इस नाटक में उतना कर्त्तृत्व नही है कि उन सभी का व्यक्तित्व चरित्र का रेखांकन किया जावे। अन्य प्रमुख पात्रों में भारत के प्रधान मंत्री 'श्री नेहरू' का व्यक्तित्व भी इसमें नाटककार ने उभारा है। चीन और भारत की मैत्री के फलस्वरूप पं० नेहरू यह कभी नहीं सोच सकते

थे कि चीन ऐसा घृणित कार्य कर सकता है क्या ? फिर एक बड़े राष्ट्र के प्रधान मंत्री के लिए एकाएक अन्यथा कथन व कदम उठाना भी समीचीन नहीं होता अतः नेहरू वस्तु स्थिति को जानते हुए भी परमखिन्न है। तिब्बत के प्रश्न पर वे भारतीय संसद के विरोधीदल तथा जन-भावनाओं के विरोध पक्ष का अनुभव भी करते हैं और इसीलिए वे ससद में अपने विरोधी सांसदों को इस विषय में शीघ्र ही उचित कार्यवाही का आश्वासन देते हैं, किन्तु एक भावुक नेता तथा जिम्मेदार पद पर होने के कारण तथा अपनी परराष्ट्र नीति की विवशता के कारण प्रत्यक्ष और शीघ्र ही तिब्बत के लिए वे कुछ भी नहीं कर सके, जो कि राजनीतिक कुशलता की दृष्टि से उचित भी रहा। हां उन्होंने दलाई लामा को भारत में पूर्ण सम्मान के साथ आश्रय देकर अपनी परम्परित शरणागत सम्मान परम्परा का पूर्ण निर्वाह किया है। इस प्रकार पं० नेहरू का चरित्र विकास चीन और भारत के सम्बन्धों को देखते हुए समीचीन स्थिति में हुआ है।

इस नाटक मे सबसे अधिक द्रष्टव्य चरित्र 'माओत्सेतुंग' का है। वह एक प्रकार से प्रस्तुत नाटक का खल नायक है। तिब्बत मुक्ति का हन्ता है। उसी की साम्राज्यवादी नीति का परिणाम तिब्बत के सीधे-सादे शान्तिप्रिय लामाओं को भोगना पड़ा। अतःनाटककार ने आनन्द भिक्षु के प्रयत्नों से विश्व-व्यापी स्तर पर उसके चरित्र की भत्सर्ना कराकर अन्त में आन्तरिक विद्रोह की आग इतनी भड़कायी जाती है कि माओ को अपने मंत्री 'चाऊ एन लाई' और अपनी पत्नी के साथ चीन से पलायन करना पड़ता है। इस प्रकार माओ के कुकृत्यों का फल अन्त में उसे देश से निष्कासन के रूप में भोगना पड़ता है। सुखान्त दृष्टि वाले नाटककार ने अन्त मे उसमें भी सद्-बुद्धि की प्रभावना की है और वह अपने साथियों से कहता है कि सब लोगों और सब राष्ट्रों के साथ विरोध कर लेना उचित नहीं क्योंकि पता नहीं कौन किस काल मे प्रबल और निर्बल हो जाए ?

> शृणाम सर्वैर्न कुतो विरोधः नचेह सुक्षुद्रोऽप्यवमाननीयः।
> विद्मो न केषां कतमो नु कालः लोके बलीयानवशास्त्यशक्तः ॥
> (वि० ग्रं० ३४२-१४)

इस प्रकार श्री शास्त्री ने अपने इस नाटक के अशिव पात्रों को भी जीवन के उत्तर काल में शिव भावना से भावित बना दिया है। इसके अतिरिक्त अयूब और भुट्टो को भी मंच पर दिखा कर उनकी परम्परागत

भारत विद्वेषी भावनाओं को व्यक्त कराया है। तथा श्री लालबहादुर शास्त्री के चरित्र को भी भारतीयता की गरिमा के अनुरूप विकसित करने के लिए उनसे रचनाकार कहलाता है कि व्यर्थ में प्रशान्त भारतीयों की क्रोधाग्नि को मत भड़काओ अन्यथा हमारी क्रोधाग्नि से सारा जगत् भस्म हो जायेगा।

रक्षामोऽन्तर्हितं तेजः प्रच्छन्नं हृदि तत्त्ववित्।
क्षणं प्रोद्दीप्यमानं यत्कुलात् भस्म सादरीत्॥
(वि० प्रं० ३२५-६)

इस प्रकार प्रस्तुत नाटक की पात्र-योजना अपने आप में पूर्ण सफल है।

सम्वाद योजना

अपने वस्तु विन्यास और पात्र योजना की सुघुता के अनुरूप ही इस रूपक की सम्वाद-योजना भी सुन्दर है। प्रसगानुकूल पात्रों के कथन और उपकथन भी रचना श्री शास्त्री का विशिष्ट शिल्प-कौशल है। सम्वाद में कहीं छोटे-छोटे वाक्यों की प्रयुक्ति है तो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के अवसरों पर व्याख्यान शैली के लम्बे वाक्य रचना के दर्शन होते हैं। रसों का विधान भी अंक के वर्ण्य प्रतिपाद्य के अनुरूप है। पात्रों की भाषा उनके व्यक्तित्व के स्तरानुकूल है। जहाँ अच्छे राजनयज्ञ कोई बात कहते हैं तो उसमें समस्त पदावली का प्रयोग है जबकि गड़रियों के द्वारा सरल संस्कृत का प्रयोग कराया गया है:—

शुङ्:—(सर्वेक्षणं तानुपगम्य) कीदृशीयं रेखा किंचास्याः प्रयोजनम्।
सैनिका:—सैनिके अस्मिन्नक्षेत्रेऽप्यमङ्कुयते लद्दाखमार्गः।

शुङ्—सैनिके कीदृशे सैनिके, क्षेत्रमिदं मदीयम्। अंगुष्ठमात्रेऽप्यस्य भूखण्डे निर्मिते लद्दाखमार्गे क्वा भविष्यत कुल्यियोग्यः कश्चन क्षेत्रांशः।

इसी प्रकार चतुर्थ अंक में राष्ट्रसंघ में तिब्बत को स्वायत्त शासन देने का प्रस्ताव रखते हुए सुमति प्रज्ञ का वक्तव्य व्यास शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है।

श्रीमन्तः! सुविदितमिदमत्र भवतां सर्वेषां सदस्यानां यत् मायु सैनिकः शासनात् प्राक् सिवते भंवता एवासन् तत्रत्याः स्वायत्ताः सुशासकाः ....यादि।

विस्तार भय से अधिक उदाहरण न देकर हम उपर्युक्त उदाहरणों के द्वारा ही नाटककार के सम्वाद कौशल का अनुमान लगाकर निष्कर्ष रूप में निश्चित रूप से कह सकते हैं कि 'दुर्वल बलम्' की सम्वाद शैली उत्कृष्ट व उत्तम है।

देशकाल

आधुनिक नाट्य समीक्षा के चतुर्थ तत्त्व देशकाल के अनुसार 'दुर्वल बलम्' का आलोचन करने पर हम पाते हैं कि इसमें अपने देश और एशिया की अति-निकट भूत मे घटी घटना को आधार बना कर लेखक ने तदनुरूप परिस्थितियों का सर्जन किया है। इसमें उन सभी अन्तर्राष्ट्रीय दाव-पेचों को इसमें अंकित करने का पूर्ण प्रयत्न किया है जिनका चीन और तिब्बत से अपने स्वार्थों की सीमा मे विभिन्न दृष्टिकोण रहा। साथ ही इस युग की सर्वाधिक मांग जनतन्त्र की रक्षा को भी प्रमुखता दी है:—

जनतन्त्रंऽस्य सा शक्तिः समुद्भूता जने-जने।
शक्तिरेषा प्रबुद्धाहि किं न कर्तुं प्रकल्पते ॥
जन तन्त्र जना; पूर्व सेव्याः शासक शासकाः।
समर्पनभृते येषां शासका पद्मयोऽपिस्मा: ॥
(वि० पं० २६०,२६१-१०,११)

इसके अतिरिक्त अभिनव अनेक राजनयज्ञों की कुमंत्रणा एवं कूट-नीतियों व मिथ्या-आश्वासनों का आज की विश्व राजनीति की वस्तु स्थिति के अनुरूप ही नाटककार ने चित्रित किया है। अतः अपने युग की प्रतिच्छाया का पूर्ण छविकरण इस नाटक की अपनी विशेषता है।

उद्देश्य

वैसे घटनावृत्त के आधार पर स्थूल रूप मे यह कहा जा सकता है कि नाटककार का रचना लक्ष्य तिब्बत मुक्ति का रहा है और यह सोचना असमीचीन भी नहीं क्योंकि भारत और तिब्बत का जो पवित्र सांस्कृतिक सम्बन्ध है। उसका अपना अनादिकालीन महत्त्व है और इसी उद्देश्य की उद्घोषणा भी अपने एक विरोधी दल के नेता के द्वारा नाटककार करता है:-कि भारत और तिब्बत में किसी प्रकार का भेद नहीं है हमारे पूर्वजों ने अपनी शक्ति से इसका विकास किया था और यदि इसका [illegible]

है तो वह एक प्रकार से भारत का ही गौरव क्षीण होता है हिमालय के सब देश हमारे बान्धव हैं:—

> भारते च तिब्बते च न भेदः कोऽपिभूतले।
> अस्माकम्पूर्वजैरेव स्वशक्त्येते विकासिते॥
> गौरवेऽग्य सति क्षीणे क्षीणं भारतगौरवम्।
> हिमालयस्य ये देशा सहजास्ते स्वबान्धवाः॥
> (वि० प्र० २६५-२१,२२)

किन्तु इसके अतिरिक्त वस्तुतः नाटक का उद्देश्य जैसा कि इसके नाम से अभिहित है कि नाटककार "बुद्धि बल" की महत्ता प्रदर्शित कराना चाहता है। व्यक्ति अथवा राष्ट्र चाहे छोटा ही क्यों न हो यदि उसके पास बुद्धिबल है, नीति निपुणता है तो उसे कोई भी पराजित नहीं कर सकता। आनन्द भिक्षु की नीतिमत्ता के फलस्वरूप तिब्बत जैसा नगण्य राष्ट्र भी चीन जैसे बड़े सशक्त राष्ट्र के विपरीत जन मानस को बनाने तथा उसमें अन्तर्विद्रोह कराने में पूर्ण सफल हो जाता है। इसप्रकार इस नाटक में बुद्धि बल और अविचल आत्म विश्वास की उच्च गरिमा का प्रतिपादन करना ही नाटक का मुख्य उद्देश्य है। क्लान्त और अशान्त व्यक्ति कभी भी अपने साध्य में सफल नहीं हो सकते:—

> समुत्साहे साफल्यं स्वतः सिद्धी स्वभावतः

भाषा और शैली

'दुर्बल बलम्' की भाषा भावानुगामिनी तो है ही किन्तु इसमें कवि ने जिन उदात्त भावों को भावित किया है वे अपने आप में विशेष महत्त्व-पूर्ण हैं। चूंकि सम्पूर्ण नाटक देशभक्ति पूर्ण भावों से ओत-प्रोत है। अतः भाषा का प्रवाह जिस त्वरित्-प्रवाह से प्रवाहित हुआ है वह दर्शनीय है। विरोधी नेता अपने अकाट्य तर्कों को जब भारतीय संसद में प्रस्तुत करते हैं तो ऐसा लगता है कि देशभक्ति की प्रबल भाव धारा इनकी वाणी का रूप लेकर संसद की वीथीयों में बह रही है। आनन्द भिक्षु और दलाई लामा अपनी करुण वेदना को विश्व मानस के समक्ष बौद्ध सम्मेलन और एशियाई देशों के सम्मेलन एवं संयुक्त राष्ट्र संघ में जिस प्रकार प्रस्तुत करते हैं उससे किसका मन उनकी पराधीनता के दुःख से द्रवित नहीं होता? यह सब श्री शास्त्री की भाषा और शैली का चमत्कार ही है। रचनाकार ने

संस्कृत वाणी में अभिनव भावों को उद्दीप्त करने की अपूर्व क्षमता उत्पन्न की है। थोड़ा सा हिन्दी का प्रबुद्ध ज्ञाता भी बड़ी सहजता से 'दुर्बल बलम्' के इस भाषा-प्रवाह के आनन्द को सुगमता से प्राप्त कर सकता है। छन्दों और अलकारों का विकास इस कृति में स्वाभाविक रूप में ही हुआ है। "अनुष्टुप" "इन्द्रवज्रा" "उपेन्द्र वज्रा" आदि का प्रयोग सुन्दर है। इसी प्रकार उपमा, रुपक, अनुप्रास व रुपक आदि अपने सहज रूप में दृष्टिगत होते हैं। नीति और सुभाषित इस नाटक की अपनी विशेषता है। पचतत्र के समान अनेक स्थानों पर नीतिवचन व सुभाषित वचन बहुलता से उपलब्ध होते हैं, यथा.—

१. सशक्त स्थावरो लोके स्वयं सिद्धः सनातनः
२. किं न शासितुं शक्यं लोकेनापि हृतात्मना
३. वरवीरा न भवन्ति एव मघोराः

नीतिः— न चिरं दुर्विनाक्रान्तं स्यात्तय भाग्यनमोहि नः
भाग्यत्येव पुनर्मानु — नैर्मल्यम्पुनराप्स्यते ॥
नहि क्लान्तंरशान्तंश्च साध्ये सिद्धिरवाप्यते
समुत्साहे च साफल्यं स्वयं सिद्धं स्वभावतः ॥
(वि० प्र० २६३-१५,१६)

रस योजना

रसान्विति की दृष्टि से प्रस्तुत रचना का अभिप्रेत रस वीर ही है किन्तु किसी प्रकार का युद्धाभिनय कवि को अभिप्रेत नहीं। वैसे देखा जाय तो वीर-भावों की उद्दीपना ही कवि उद्देश्य रहा है। देशभक्ति की प्रबल भावना के साथ विश्व में कोई सशक्त राष्ट्र अपने स्वार्थ के लिए अल्पकाय देश को स्वाधीन न करे, उसका शोषण न करे इसी प्रकार के उदात्तभावों की सर्जना नाटककार ने अभिव्यंजित की है। श्रीयुत शास्त्री पौरुष के उपासक व शक्ति के साधक है इनकी रचनाओं में आत्म शिल्पन की भावना पदे-पदे परिलक्षित है। आत्म-विश्वास और दृढ़ इच्छा शक्ति के द्वारा व्यक्ति और राष्ट्र सब कुछ प्राप्त कर सकता है ऐसे उत्कृष्ट और सशक्त विचार इस रचना मे कवि ने प्रस्तुत किये है। ये सब वीरता के ही सूचक है। किन्तु शास्त्री केवल शारीरिक बल-वर्द्धन को ही महत्व नहीं देते अपितु प्रज्ञाबल उससे भी अधिक सशक्त व प्रभावी होता है इसे इन्होंने

इस नाटक मे अच्छी प्रकार से प्रतिपादित किया है।

आत्म शक्ति सम्पन्न व्यक्ति का भावांश भी ब्रह्मघोष के समान सर्वशक्तिमान और सर्व व्यापक होता है:—

मावस्यांशो दृढ गति मितो जायते ब्रह्म घोषः

ऐसा व्यक्ति जिस निश्चय को कर लेता है वह निश्चित रूप से अपने लक्ष्य में सफल काम होता है:-

यत्र स्यादथ सोद्यमा दृढतमो नैजः स्थिरो निश्चयः
तत्राहो स्वयमेव दुर्बलबलं — रुत्थाप्यते सम्बलम्

अन्त में नाटक की परिपूर्ति विश्व हित भावनाओं के साथ सम्पन्न होती है:-

इस प्रकार प्रस्तुत नाटक मे श्रृंगार, करुणा आदि रसो की अपेक्षा वीर तथा भारतीय संस्कृति के प्रसारक विश्व हितकारी शांत रस की भाव सरिता का कलकल नाद ही यत्र तत्र सर्वत्र थावित होता है।

'दुर्बल बलम्' की अभिनेयता

कथावृत, पात्रयोजना और सम्वाद योजना सभी की दृष्टि से सफल कृति होने पर भी प्रस्तुत कृति के प्रथम वाचन मे परम्परित संस्कृत नाटकों के पठन का अभ्यस्त सस्कृत पाठक यह सोचता है कि सब कुछ ठीक होने पर भी इस कृति का मंचीकरण कदापि सम्भव नही, क्योकि जिन दृश्यों का सर्जन नाटककार ने किया है वे मचीय सीमा के बाहर के हैं किन्तु ये प्रबुद्ध पाठक यदि कुछ शान्तचित्त से इस प्रश्न पर विचार करे तो उनको इन प्रश्नों का उत्तर व समाधान स्वतः ही मिल जाता है। प्रथमतः उनको यह सोचना चाहिए कि इस कृतिका कृतिकार कोई नव लेखन में प्रयत्न-वान लेखक नही है अपितु यह एक प्रौढ़ मनीषी की अनुभूत लेखनी से निसृत यह रचना है जिसका सम्पूर्ण जीवन प्राध्यापकीय कार्य-व्यापार में नाट्य शास्त्र को पढने व पढाने में यापित हुआ है। अतः क्या इन आव-श्यकताओं की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई ? क्या श्री शास्त्री इस नाटक को कुछ ऐसी सीमा मे आबद्ध नही कर सकते थे जो मंचीकरण के अनुकूल है। मेरा ऐसा मन्तव्य है कि श्रीयुत् शास्त्री ने यह सब जानते हुए भी

पूर्ण स्वतन्त्रता व खुलकर इसके शिल्प को संवारा क्योंकि आज के फिल्मीकरण के युग में ऐसी कोई घटना व वृत्त नहीं जिसका मंचीकरण व दृश्यीकरण संभव नहीं। पुरातन नाट्य साहित्य में देश काल की परिमिति का विशेष ध्यान रखा जाता था। इसका कारण उस समय अभिनयेता सहज उपेक्षित थी। आज विज्ञान के चमत्कार ने अनेक सुविधाजनक कार्यों को सर्वथा सहज बना दिया है। ध्वनि तरंगों, प्रकाश वर्णों व सम्वेदनाओं और प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया के रहस्यों को जानकर आज मानव पुरातन मंच का ही विशिष्ट रूप है। आज नाटक की सम्पूर्ण वर्जनाओं को निःसंकोच होकर दिखाया जा सकता है। विभिन्न चूर्णों को मंच पर विकीर्णकर बादल बनाये जा सकते हैं। चूंकि हमारा नाटककार आज की इस स्थिति से पूर्णतः परिचित है अतः उनके द्वारा कल्पित मच पर वायुयान, युद्ध शिविर, संसद सत्र इत्यादि का प्रदर्शन असंभव कैसे हो सकता है?

अतः नवीन परिस्थिति में नित्य नवीन उपकरणों की सहायता से कोई भी ऐसा दृश्य नहीं जिसे दिखा या नहीं जा सके। राजस्थान विश्व विद्यालय, जयपुर के श्री वर्णेकर के 'विवेकानन्द विजय' का अभिनय करके हमारे नाटककार की मान्यता व नाटक सर्जन कल्पना का समर्थन करके मंचीकरण विषयक प्राचीन मान्यताओं का निराकरण कर यह सिद्ध कर दिया कि आज के अभिनय मंच की शक्ति सीमित नहीं अपितु असीमित है। इस प्रकार 'दुर्बल बलम्' का अभिनय पक्ष भी अपने आप में पूर्ण व सफल है।

श्रीयुत् शास्त्री के नाटकों का वैशिष्ट्य:—

श्रीयुत् शास्त्री के नाटकों का प्रारम्भ बहुत कुछ संस्कृत की प्रस्तावना आदि की रीति से ही किया गया है। किन्तु प्रत्येक क्षेत्र में नाट्य-परम्परा का पालन उनको अभिप्रेत व प्रिय नहीं। इनके नाटकों में परिवर्तित लोक रुचि का परिष्कृत रूप पदे-पदे मिलता है। प्राचीन नाटकों के समान नायक और नायिकाओं की प्रेम लीलाएं इनमें ढूंढने पर भी नहीं मिलती अपितु इन्होंने प्रत्येक नाटक में मनुष्य जीवन की समाजिक, राजनीतिक तथा अन्यान्य राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को ही सुलझाने का प्रयत्न किया है। इनके नाटकों का दृश्य विधान अपने पात्रों को राजप्रासादों के वातावरण में ले जाने की अपेक्षा शिक्षण व समाजिक संस्थाओं आदि में ही ले जाने का रहा है।

वस्तु, नेता, रस और रंगमंचीय स्थिति आदि नाटक के प्रधान तत्वों के विषय में इनके नाटकों में शास्त्रीय पक्ष पर अधिक ध्यान न देकर युगानुकूल अपनी मौलिक नाट्य कला प्रस्तुति पर ही अधिक ध्यान दिया गया है।

नेता के चयन की दृष्टि से इन्होंने ऐसे नेताओं को चुना है जो जन-जीवन की प्रत्येक अवस्था के अनुरूप अपने आप को एक आदर्श नेता के रूप में उद्भावित करने की क्षमता रखते हैं। इनके तीनों नाटकों का उद्देश्य अपने पात्रों के माध्यम से भारत की सामाजिक व राजनैतिक स्थितियों का चित्रण कर यहां के समाज में एक नई क्रांति की भावना जगाना है।

व्याख्यान शैली के कुछ सम्वादों को छोड़कर इनके सम्वाद सर्वत्र लघु और कथानक को आगे बढ़ाने वाले हैं तथा उनके मध्यवर्ती श्लोक भावाभिव्यक्ति के समर्थक होने के साथ-साथ सर्वत्र प्रसंग के अनुकूल होते हैं। अन्त में निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि श्रीयुत् शास्त्री के नाटकों का रचना विधान रंगमंचीयता के सर्वथा अनुकूल है। भारत की प्राचीन भव्य झांकियों को प्रस्तुत करने के साथ-साथ आधुनिक युग की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास इनमें है। इनके नाटकों में प्राचीनता और अर्वाचीनता का सुन्दर समन्वय है। प्राचीन मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक समस्याओं का समाधान खोजना ही इनके नाटकों का लक्ष्य एवं वैशिष्ट्य है।

श्री शास्त्री का चम्पूकाव्यः—

चम्पूकाव्य परिचय के परिप्रेक्ष्य में:—

जिस काव्य में गद्य और पद्य का मिश्रण रहता है उसे चम्पू कहते हैं- 'गद्य पद्य मयं काव्यं चम्पूरीत्य भिधीयते' इस प्रकार, चम्पू काव्य की गणना "मिश्र काव्य" के अन्तर्गत की जाती है। किन्तु यह निर्णय रचयिता ही करता है किस वर्ण्य में गद्य की और किसमें पद्य की प्रयुक्ति हो। किन्तु सामान्यतः देखा जाता है कि भावात्मक विषयों की प्रतिपादना पद्य और वर्णनात्मक अथवा विवरणात्मक कथन व प्रसंग के लिए गद्य का प्रयोग होता है। किन्तु इसका अपवाद भी मिलता है।

विकास परम्परा व वर्ण्यः—

डॉ० बलदेव उपाध्याय के अनुसार "चम्पूकाव्य का उदय गद्य काव्य

के स्वर्ण युग के पश्चात्वर्ती है" क्योंकि दशम शती से पूर्व रचित किसी चम्पू काव्य की उपलब्धि अभी तक नहीं हुई। 'नल चम्पू' ही चम्पू काव्य की प्रथम रचना मानी गई है। इसके बाद बहुत से चम्पू काव्य उपलब्ध होते हैं जिनमें 'यशस्तिलक', 'रामायण चम्पू', 'भारत चम्पू' तथा 'विष्णु गुणादर्श' आदि प्रमुख हैं।

अभिनव काल में शताधिक चम्पू रचे गये हैं। इनकी कथा तथा शिल्प दोनों में ही प्राचीन चम्पुओं की अपेक्षा परिवर्तन मिलता है। इस युग में चम्पुओं के वर्ण्य, प्राचीन वर्ण्य-देवता तथा पौराणिक विषयों के अतिरिक्त अन्यान्य सम-सामयिक विषय भी हैं। यथा यात्रा तथा कोई सामाजिक विषय अथवा ऐतिहासिक घटना विशेषादि। शैली तथा शिल्प में प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों पद्धतियों का प्रयोग दृष्टिगत होता है। अभिनव चम्पू काव्यों में अनन्ताचार्य का 'चम्पू राघव' वेंकट मणि का 'रामायण चम्पू' तथा नारायण शास्त्री खिस्ते का 'विद्वन् चरित पंचकम्' प्रमुख हैं। श्रीयुत् शास्त्री राजस्थान के प्रथम चम्पू काव्यकार हैं। इनका 'विक्रमाभ्युदयम्' अर्वाचीन चम्पू काव्यों में अपने नवीन कथानक और नवीन शिल्प व शैली के लिए विशिष्ट स्थान रखता है।

सामान्य परिचय व रचना दृष्टि

यह राजस्थान प्रान्त की एक श्रेष्ठ चम्पू कृति है। नव उच्छ्वासों में रचित इस चम्पू को प्रान्त की प्रथम चम्पू होने का सौभाग्य प्राप्त है। 'विक्रमाभ्युदयम्' उस समय लिखा गया जब अंग्रेज इस देश से जा रहे थे। देश का वातावरण पारम्परिक साम्प्रदायिक कटुता से ग्रस्त व त्रस्त था। एक नये स्वतन्त्र राज्य का निर्माण व उसके विधान की तैयारियें हो रही थी। देश में व्याप्त पारस्परिक जातीय कलह के निवारणार्थ, तथा जातीय संघर्ष को सदा सर्वदा के लिए समाप्त कर देने हेतु एवं नवोदित राष्ट्र पर कोई शत्रु राष्ट्र एकाएक आक्रमण न करदे इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए किसी ऐसे भूतपूर्व भारतीय राज्य संस्थापक के चरित्र का अन्वेषण रचनाकार ने किया जिसको अपने नव राज्य स्थापन में उपर्युक्त विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा हो और जिसने कुशलता पूर्वक इन समस्याओं का समाधान किया हो। चम्पूकार की दृष्टि में शीघ्र ही भारतीय इतिहास के एक ऐसे तेजस्वी नरेश का व्यक्तित्व आया जो 'स्वयमेव मृगेन्द्रता'

है जिससे प्रेरित होकर राव बीकाजी नव राज्य की प्रतिज्ञा करते हैं। राव बीका जोधपुर के प्रशासक राव जोधा के ज्येष्ठ पुत्र थे। यह वीर और अति तेजोमय कान्तिवाला राजकुमार था। अपने युद्ध कौशल और नीति मत्ता के लिए अपने पिता की दृष्टि में ही नहीं अपितु सभी की दृष्टि में सम्मान व स्नेह का पात्र था। एक दिन राज्य दरबार लगा हुआ था। सभी सरदार बड़ी शान शौकत से अपने अपने पीठों पर आसीन थे। राव जोधा किसी राजकीय विषय पर चर्चा कर रहे थे उस समय बीका अपने चाचा कांधल के साथ कुछ गुप्त वार्ता करते हुए दरबार में आये, इन्हें राव जोधा ने देखा कि दोनो वीर कुछ धीमें-धीमें कानाफूंसी कर रहे हैं, उन्हें इस प्रकार गुप-चुप करते हुए देखकर जोधा ने बीका से हास्य में कहा कि काका और भतीजा काफी समय से कोई गुप्त मन्त्रणा कर रहे हैं लगता है कि आपको कोई नव राज्य प्राप्त हो गया है जिस पर चर्चा कर रहे है। पिता का व्यंग कथन बीका को तीर की तरह चुभ गया और उसी समय उसने खड़े होकर कहा कि यदि आपका यह अनुमान व अप्रत्यक्ष आज्ञा है तो नव राज्य की स्थापना करके ही रहेंगे और दोनों वीर उसी समय राज्य दरबार से चले गये।

द्वितीय उच्छ्वास (विजय यात्रा)

राजकुमार बीका और प्रसिद्ध शूरवीर कांधल द्वारा नव राज्य स्थापना की प्रतिज्ञा से प्रभावित हो कर योद्धागण भी उनके साथ इस विजय यात्रा के लिए सन्नद्ध हो गये। जब राव जोधा ने इस सद्य गठित अपूर्व सैन्य-संगठन का समाचार सुना तो बड़े प्रभावित हुए और उन्होने अपने अनेक अनुभवी काम दरबारो और राज दरबारियों को उनके साथ कर दिया तथा जोधपुर के अनेक प्रसिद्ध वैद्य, ज्योतिषी और कर्मकाण्डी विद्वान् भी उनके साथ हो गये। जोधपुर स आकर वे सबसे पहले मण्डोर ठहरे। मण्डोर जोधपुर की प्राचीन राजधानी थी और इसमें वहा के अनेक वीरों के स्मारक बने हुए हैं। बीका ने वहां आकर उन सब के स्मृति-स्मारको को नमन किया और उनसे आशीर्वाद मागा। इसी उल्लास प्रसग मे मण्डोर के बाग और बावड़ियों का भी सरल व सुन्दर वर्णन है। वहाँ दो तीन दिन ठहरे तथा जोधपुर से अन्य आवश्यक सामग्री मगवाकर आगामी यात्राकी पूर्ण तैयारी की तथा आगे की सम्पूर्ण योजना बनाई कि कहाँ-कहाँ ठहर कर किस दिशा की ओर प्रयाण करना है? इसी समय राव

बीकाजी के छोटे भाई राव बीदा भी उनके साथ आकर मिल जाते हैं। वहां से उनका यह सैन्य-समूह नागौर तक तो पूर्ण शान्ति के साथ आ जाता है उन्हें किसी प्रकार से किसी आक्रमण का सामना नही करना पड़ा क्योंकि नागौर तक जोधपुर राज्य की सीमा थी अपितु यहां तक मध्यवर्ती पड़ने वाले अनेक सामन्त उनके सैन्य संगठन में सम्मिलित होते रहे। नागौर के पश्चात् उनका सैन्य समूह देशनोक की ओर अग्रसर हुआ।

तृतीय उच्छ्वास:-(देशनोक के करणी माता के दर्शन तथा शेखा का संरक्षण)

नागौर से प्रस्थान करने के बाद वह सैन्य दल सर्व प्रथम "जांगलू" पहुँचा जो कभी चौहान नरेशो की राजधानी रही। उसके पश्चात् देशनोक पहुँचे जहा देवी की परम उपासिका करणी माता वास करती थी। यह ममतामयी माँ इस क्षेत्र में अपनी तान्त्रिक सिद्धियों तथा वरदानों के लिए प्रसिद्ध थी। इस मातृ-शक्ति के दर्शन कर बीका का हृदय आनन्द और उत्साह से भर गया। उसे देखते ही माँ करणी ने कहा कि वीरवर! मैं बहुत दिनो से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूं। माता भगवती ने मुझे प्रेरणा दी है कि तेरे द्वारा इस क्षेत्र का अपूर्व व अद्भुत विकास होगा, इस क्षेत्र का जो गोधन धीरे धीरे नष्ट हो रहा है उसका रक्षण और संवर्द्धन होगा। यह प्रदेश मुलतान की ओर से आने वाले परकीयो के द्वारा अनेक बार आक्रान्त होता रहता है। इसलिए अब तुम एक स्थान पर स्थिर होकर उन सब का सामना करो तथा यह भूमि जो वर्षों से जलहीन और अव्यवस्थित है उसे व्यवस्थित एवं सरसब्ज बनाओ। पास ही कोडमदेसर नामक स्थान है वहा जाओ और अपना प्रथम शिविर स्थापित करो। वहा से यदा कदा इन आने वाले शत्रुओ का सहार करो। मैं और मेरे अनुगामी भक्त तुम्हारे इस पुनीत कार्य में पूरी सहायता करेंगे। माता करणी के आदेशानुसार बीका ने कोडमदेसर में जाकर अपना डेरा डाला। यहाँ आने पर इस प्रदेश के प्रसिद्ध भाटी सरदार राव शेखा जो बड़ा खूंखार था, अपनी किसी मुठ-भेड़ में मुलतान के सूबेदार द्वारा पकड़ लिया गया था, उसे बीकाजी ने छुड़ाया इससे प्रभावित होकर उसकी पत्नी ने अपनी लड़की का विवाह बीकाजी से कर दिया और इस प्रकार शेखा का सरक्षण भी बीका को मिल गया। "कोडमदेसर" के पास ही पूगल का क्षेत्र था जब पूगल के भाटियो ने यह देखा कि उनका एक नव प्रतिपक्षी आ गया है कही

उनके प्रदेश पर अधिकार न करले, अतः उन्होंने बीका को तंग करना शुरु किया। निरन्तर छुट-पुट आक्रमणों के कारण बीकाजी ने यह उचित समझा कि इस स्थान की अपेक्षा कोई अन्य उपयुक्त स्थान देखा जाय जहां गढ़ बनाकर अपनी सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था कर विरोधियों पर आक्रमण किया जा सके।

चतुर्थ उच्छ्‌वास (बीकानेर नगर की स्थापना व निर्माण)

नव राज्य की राजधानी की स्थापना के लिए स्थान को खोजने के लिए बीका ने अपने सरदारों को भेजा और वे सरदार घूमते हुए वर्तमान बीकानेर नगर में जब लक्ष्मीनाथजी मंदिर की टेकड़ी के पास आये तो उन्होंने देखा कि एक भेड़(मादा) अनेक भेड़ियों से अपने बच्चों की रक्षा कर रही है। इस अकल्पनीय दृश्य व घटना को देखकर सरदारों ने सोचा कि निश्चय ही यह भू-भाग किसी दैवी शक्ति की सत्ता से सम्पन्न है तभी एक ऊनी मादा भेड़ इस प्रकार जंगली खूंखार भेड़ियों से मुकाबला कर रही है और उन्होंने इस स्थान पर राव बीकाजी को किला बनाने को कहा और प्राचीन किले की नीव यहीं पर पड़ी जिसके खण्डहर और बीकाजी की स्मृति छत्री वहां पर अब भी विद्यमान है।

पंचम उच्छ्‌वासः—(द्रोणा व हिसार आदि के यवन शासकों को क्षमा करना)

पंचम उच्छ्‌वास में बीका ने नव किले का निर्माण कार्य शीघ्रता से सम्पन्न कराकर अपनी विजय यात्रा प्रारंभ करते हैं। आस पास के सभी क्षेत्रों को जिनपर जाटों और भाटी राजपूतों का अधिकार था उन सब को विजय कर उन प्रदेशों को अपने नव राज्य में मिला लेते हैं फिर बीका मुसलमानों के बड़े-बड़े ठिकाने सीधाणे तथा हिसार आदि पर भी आक्रमण करते हैं और उन्हें भी जीत कर अपने राज्य में मिला लेते है किन्तु उन्होंने जब बीका की शर्तें चोथ आदि देने की मान ली तो वे उन्हें क्षमा कर देते है।

षष्ठ उच्छ्‌वासः— (मोहिलों की पराजय)

इस उच्छ्‌वास मे बीका की विजय यात्रा का क्रम यथावत् चलता रहता है तथा वे छापर, द्रोणपुर जो इस समय चूरू जिले मे सुजानगढ़ तहसील मे है) पर अधिकार कर लेते हैं जिस पर उस समय मोहिलो

का अधिकार था।

सप्तम उच्छ्वास:—(कांधल की मृत्यु—सारंगखां की पराजय और जोधाजी से राज्य चिन्हों की प्राप्ति)

द्रोणपुर और छापर को जीत कर उस प्रदेश को अपने छोटे भाई बीदा को सौंपकर बीका ने आगे की विजय यात्रा प्रारंभ की इसी बीच बीका के काका कांधल सारंगा से मारे जाते हैं इस पर बीका को बड़ा सदमा लगता है किन्तु शीघ्र कांधल के पुत्र बाघा को जो सारग खाँ का समर्थक था उसे कूटनीति से अपनी ओर मिलाकर सारंग खां को पराजित कर दिया। उधर राव जोधा के स्वर्गवास होने पर बीका का सौतेला भाई सातल जोधपुर की राज गद्दी पर बैठा, किन्तु कुछ समय के पश्चात् ही उसकी मृत्यु हो जाती है। चूंकि उसके कोई संतान न थी अतः उसका छोटा भाई सूजा राजगद्दी पर बैठा, यह सूचना पाकर बीका ने जोधपुर के नव राजा से राज्य चिन्ह मांगे किन्तु उसने देने से इन्कार कर दिया इस पर बीका ने जोधपुर पर आक्रमण किया और अन्ततः सूजा की माता की मध्यस्थता से राज्य चिन्ह प्राप्त कर लिये।

अष्टम उच्छ्वास:—
(वीर सिंह की अजमेर कारागार से मुक्ति)

उन दिनों मेड़ते पर बीका के भाई दूदा व वीरसिंह का अधिकार था। वीर सिंह इधर-उधर लूटमार किया करता था। अतः वह अजमेर की भूमि पर उत्पात मचाने पर अजमेर के सूबेदार मल्ल खां द्वारा छल से गिरफ्तार कर लिया गया। दूदा बीकानेर आया और बीका से सब वृतान्त कहा उस पर बीका ने अजमेर पर विशाल सेना से आक्रमण किया। आक्रमण की बात सुनते ही अजमेर का सूबेदार घबरा गया और वीरसिंह को छोड़ दिया और बीका से समझौता कर लिया।

नवम् उच्छ्वास:—(नव राज्य के विकास के लिए प्रयत्न और शान्ति पूर्ण जीवन)

इस अन्तिम उच्छ्वास में चम्पूकार ने नव राज्य की स्थापना के लिए बीकाजी द्वारा प्रवर्तित अनेक राज्य-हितकारी योजनाओं की क्रियान्वितियों का सुन्दर परिचय पाठकों को कराया है। तथा बीकाजी के वार्धक्य-वय

के कारण एक आदर्श भारतीय नरेश के जीवन के समान सात्विक व धर्म-निष्ठ जीवन बीताने की घटना का सुन्दर व सात्विक वर्णन करते हुए अपने इस चम्पूकाव्य का समापन भव्य भावनाओं के साथ किया है।

'विक्रमाभ्युदयम्' की पात्र योजना:—

प्रस्तुत चम्पू में अनेक पात्रों का विकास हम देखते हैं। बीकाजी, काधल, जोधा, नापा साखला, भाता करणी तथा अन्य वीर योद्धा आदि। किन्तु प्रमुख रूप से राव बीका का चरित्र ही चम्पू में आरम्भ से अन्त तक छाया हुआ है और इसी चरित्र का अभ्युदय लेखक को अभिप्रेत भी है। बीका जोधपुर के अधिपति राव जोधा जी का ज्येष्ठ राजकुमार है। इसमें क्षत्रियोचित पौरुष संग्राम-प्रियता तथा विजयष्णुता की प्रबल भावना स्पष्ट है। नव राज्य की स्थापना के लिए एक युवा शासक में जो दूर-दर्शिता एवं नीतिमत्ता होनी चाहिये, वह बीका में है। वह बात का धनी है तथा उसे हास्य में भी अपनी मर्यादा के विपरीत कथन सह्य नहीं। पिता के राज दरबार में चाचा काधल के साथ पहुंच कर धीरे-धीरे कुछ परामर्श कर रहे होते हैं तो राव जोधा जी उनसे कहते हैं:—

"अविशतोरेव ययोः सममवन् सर्वेषामपि चक्षूंषि तद्धिदेव समाकृष्टानि विहित महाराजाभिवदनौ च तौ यावत् समुपाविश्य स्व स्थाने ध्यमृशता किंचन शनैः शनैः तावदेव तिलोक्य तौ तथा सलाप-निमग्नौ नयागन्तुकौ साकूतमाह महाराजाधिराजः

> कोऽसौ गभीरः क्रियते—विमर्शो लब्धं नवं किं ववचनाद्य राज्यम्
> यस्य प्रबन्धाय नितान्त गुर्वी चिन्ता नयन्तौ विकलौ करोति
> (विक्रमा० प्र० उ० श्लो० ११)

राजकुमार बीका इसमें विक्रम के नाम से अभिहित है। अतः विक्रम को अपने चाचा से धीमी वार्ता को लक्ष्य करके पिता का यह कथन कि दोनों को कोई नव-राज्य मिल गया है जिसके प्रबन्ध की चिन्ता दोनों को विकल कर रही है।

इस पर वीर वर काधल अपने अग्रज को तत्काल उठकर पूर्ण स्वाभिमान के साथ ओजमयी वाणी में कहता है:—

समाकर्ण्य सानिप्रायमिदं महाराज धिराज वचः।
नतोऽपि भूपाय निसर्ग गामी व्यावृद्ध वक्षाः स्फूर देशमूलः॥
श्री कान्हलो योधहरेयंबीयान् सद्यः समुत्थाय वचो बभाषे।
राज्यं नवीनं ननु किं नवीनं नित्यं नवीनं सृजते जनाय॥
सृष्टो जगत्यां मनुजो विधात्रा सनातनार्थंव जर्यार्जनाय।
आज्ञा च राजन् यदि लभ्यतेऽद्यया अद्यैव सद्यो विजयाय भायः॥
नृपात्यजं दिग् विजयाय येयम् पुरातनी भारत जा प्रथेयम्।
(विक्र० प्र० उ० १२-१५)

विक्रम के अवतार बीका भी अपने चाचा के बाद उन्ही के कथन का समर्थन करते हुए कहते हैं:—

यवनाम न क्षत्रिय जाति रत्नं विशेष्तो राष्ट्र वरं वरेण्यैः।
युद्धाध्वरे दीक्षित दिव्य देहे रारकोरिता नो निज वंजयन्ती॥
(विक्र० प्र० उ० १२-१६)

राजकुमार के उक्त कथन पर समस्त सरदार उसकी भूरि-भूरि प्रशसा करते हैं और तत्काल ही दोनों वीर नव राज्य स्थापना के लिए सैन्य सगठन का कार्य प्रारम्भ करने वहा से उठकर चले जाते हैं। उसके पश्चात् जैसा कि हमने कथावृत्त प्रकरण मे पढा विक्रम अपने पराक्रम कौशल से नव राज्य की स्थापना में पूर्ण सफल होते हैं।

विक्रम के समान ही वीर कांधल भी अति तेजस्वी क्षत्रिय है। बड़े भाई के हास्य वचन को भी उन्होंने जिस गम्भीरता से लिया वह उनके क्षत्रियोचित वीर स्वभाव के अनुकूल है ऊपर हम उनके गंभीर प्रत्युत्तर में उनके चरित्र के पौरुष को प्रकट करने वाले भावों के दर्शन कर चुके हैं। यह वीर अपने जीवन के अन्तिम समय तक अपने भतीजे के राज्य वर्द्धन के लिए सतत सग्राम करता रहा। वैसे देखा जाय तो बीका के नव राज्य स्थापना का मूल प्रेरक व बल कांधल ही रहा। जीवन का अन्त भी इस वीर ने अपने भतीजे के शत्रुओं से युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त करके ही किया। यह केवल मात्र वीर योद्धा ही नहीं था अपितु एक राजनीतिक सलाहकार भी रहा। बीका के बल को बढ़ाने के लिए भाटी सरदार शेखा को बन्धन मुक्त कराकर उसकी कन्या के साथ विवाह कराने में कान्धल का अप्रत्यक्ष हाथ रहा ताकि उस क्षेत्र मे उसे एक अच्छा सहायक मिल जावे। एक आदर्श

निष्ठावान सरदार के समान कान्धल अपने नव राज्य के अधिपति बीका की सेवा मे सतत तत्पर रहा।

तीसरी प्रमुख पात्रा है देशनोक की करणी माता। करणीमाता अपने समय की सिद्धि सम्पन्न एक देवी की उपासिका रही तथा उनके भक्तो की संख्या विपुल थी। उसके पास अधिक संख्या मे गोधन रहा। बीकानेर राज्य की स्थापना मे प्रथम आशीर्वाद बीका को करणी माता ही देती है। प्रथम दर्शन में ही वह बीका से कहती है कि हे वीरवर मैं काफी समय से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही थी। इस अव्यवस्थित भू-क्षेत्र में एक कुशल प्रशासक की नितान्त आवश्यकता है तुम इस क्षेत्र में नवराज्य की स्थापना करो मेरा सब प्रकार का सहयोग और आशीर्वाद तुम्हारे साथ है। करणीमाता के कहने पर ही विक्रम ने सर्व प्रथम कोडमदेसर स्थान पर अपना शिविर लगाया। माता करणी केवल तान्त्रिक सिद्धियों से सम्पन्न एक साधिका ही नही थी अपितु एक अति दूरदर्शिनी राजनीतिज्ञा भी थी। उन्हें इस क्षेत्र की राजनैतिक तथा भौगोलिक स्थिति का पूर्ण ज्ञान रहा तथा सशक्त प्रशासन के अभाव मे इस प्रदेश में पूर्ण अव्यवस्था है, इन सब स्थितियों को देखते हुए माता यह चाहती थी कि किसी बड़े राष्ट्र-कुल से सम्बन्धित कोई व्यक्ति इस पर शासन करे तो इस भू-भाग का सुन्दर विकास हो सकता है। करणी माता का कार्य-काल बीकाजी के बाद तक रहा और उन्होंने जीवन पर्यन्त इस राज्य के संवर्द्धन व सरक्षण का प्रयत्न किया। आज भी देशनोक मे स्थित करणीमाता के साधना स्थल पर एक अति रम्य मन्दिर बना हुआ है तथा बीकानेर का राजघराना उसके प्रति श्रद्धावान है।

इस प्रकार विक्रमाभ्युदयम् की पात्र योजना उनके पात्रों के ऐतिहासिक सत्य-वृत्त के आधार लिए हुए अपने आप में सर्वथा उपयुक्त व सफल है।

भाव और कला सौन्दर्य की दृष्टि से विक्रमाभ्युदयम्

'विक्रमाभ्युदयम्' का इति वृत्त ऐतिहासिक है किन्तु इतिहास के पूरा की प्रस्तुति मे कवि अपनी कल्पना कौशल के माध्यम से जन-जागरण और लोक संग्रह आदि पक्षो को निखारने मे पूर्ण सफल हुआ है। इसका शिल्प विधान प्राचीन चम्पू काव्यों के समान केवल मात्र अलंकार प्रधान [illegible]

न होकर अपनी पद सगठना मे प्रासादिकता लिए हुए है। भावानुकूल भाषा का प्रवाह कवि के रचना कौशल को बताता है। इसमें उन पदो का प्रयोग किया गया है जो वर्ण्य वस्तु के विकास में प्रेरक और सहायक हैं। प्रत्येक अभिव्यजना किसी न किसी राजनीतिक अथवा दार्शनिक आधार को लिए हुए है। समस्त वाक्य शैली (लम्बी वाक्य योजना तथा छोटे छोटे पदो की योजना) तथा नाटकों की सुन्दर सम्वाद शैली दोनों का ही सुन्दर व सुगठित रूप इसमें देखने को मिलता है। कला पक्ष की अपेक्षा इसका भाव पक्ष अधिक समृद्ध है। कवि के हृदय में भारत के प्रति असीम श्रद्धा भावना है। उसकी दृष्टि में अखिल लोक-लावण्य की सीमा भूत सर्वार्थ साधिका भारत भू की यह विशेषता है कि इस पर सृष्टि का अव्यक्त तत्व व्यक्त रूप में प्रकट होता है। इसका प्रत्येक पुत्र अपनी प्रबल पुरुषार्थ शक्ति से विश्व का विधाता बन सकता है:—

अस्ति ऽव्यक्त व्यक्त रूपाया अखिल लोक लावण्य सीमायाः सर्वार्थ साधिका मातुर्मङ्गलरूप्याः पृथिव्यापरम पावने स्तेह् सद्मनि शुभांके विराजमानम् त्रिभुवने विभ्राजमानम्, जडोच्या सततमभिदिव्यमातुम् साक्षात् शंकर सन्निवेशेन गुर सरित सूर्यं ललमादि शुचि सरित् .. भारतं वर्षम्।

(विक्र० प्र० उ०)

आर्यों की ओज, गरिमा-स्वरूप राजस्थान की जौहर व्रती वीर महिलाओं की वीर परम्परा तथा गौओं की रक्षा में अपने प्राणों की आहुति देने वाले जो वीर पुरुष हुए हैं उनके चरित्र चित्रण अनुपम है:—

"प्रातः स्मरणीय पद्मावती प्रभृति महनीय नारी रत्न सम्मानिताऽद्भुत संस्कृतिः। परम पावनो नाना सुकवि गीयमान सद्धर्म भावनो, आकरं सर्वगुणानाम् आयतनं सर्वं वैभवानाम्, प्रियः तीर्थराजस्य पुष्करहृदय सरसको भवाम्, नाशको दुराचारिणाम्, आयास स्वत्व च स्वदेश सम्मान गरक्षण तुच्छीकृत सर्वं कृच्छ्राणाम्, धर्माय समर्पित सर्वस्वानाम् श्री प्रताप कर्ण दुर्ग प्रनीतानां महा मानवानां विश्व विख्यातो राजस्थान मिति महान् देश विशेषः।"

(विक्र० प्र० उ०)

यहां के महापुरुष रामदेव जी, गोगाजी, तेजाजी आदि जो इस समय राजस्थान में लोक देवता के रूप में अर्चित होते हैं उनकी परम्परा भी अद्वितीय रही है:—

"साधारणस्य साधारण साहसैः रिपुसंहति हिंसकैरपि सर्वतोऽधिकर्महिंसा मत पालकैः शैत्यतपादि प्रकृति परम विक्षोभ दर्पैरपि महादयालुभिः धर्म मौर्मिः, सर्व भूत हिते रतैः कठोर साधना निरतैः, गो रक्षणाय सुयं समर्पित निज जीवनैः श्री गोगान (गोगाजी) पाबू, रामदेव प्रभृति क्षत्रिय मानव देवैः समर्वतो महामान्यो वदान्यो महान् मरुदेशः"

(विक्र० प्र० उ०)

वीर बीकाजी (विक्रम) के जन्म वर्णन, उनके शैशव व उसके बाल्य वर्णन की सुन्दर चित्रणा के पश्चात् राव जोधाजी के राज दरबार का वर्णन भी बड़ी चामत्कारिक व अलंकृत शैली में किया गया है। इस शैली में प्राचीन परम्परा का पूर्ण परिपालन मिलता है। जोधाजी के भरे दरबार में अपने चाचा काधल जी के साथ वीर विक्रम के प्रवेश वर्णन से प्राचीन राज दरबारो की स्मृति ताजी हो जाती है:—

"अत्रान्तरे एव महौजसा, महाकायेन, संगरार्थं य सुगृहीत नाम्ना युद्ध व्यसनिना, क्षत्रिय कुलमणिना निज पितृव्येन श्री काण्हलेन सह देदीप्यमान मुख कान्ति कान्तो दुर्धर्षः, युवापि गम्भीरा प्रकृतिः, साहसैकमूर्ति, विनतोऽपि स्वभाव, समुन्नतः सौम्योऽप्यरिगणैर्सह्य दर्शनः, सर्वजनमनोहरः कुमारोऽवदात पराक्रमो विक्रमोऽपि तत्र चक्रे निजं शुभागमनम्।

(विक्र० प्र० उ०)

वीर विक्रम अपने चाचा कान्धल जी के साथ नव राज्य स्थापनार्थं प्रस्थान कर जागल देश मे पहुँचते हैं। जहा एकात साधना में लीन माँ करणी उन्हें इस प्रदेश पर शासन करने की प्रेरणा देती है जिसका श्री शास्त्री ने भापण शैली मे अति सजीव वर्णन किया है। इस वर्णन मे बीकानेर राज्य के उन समस्त ऐतिहासिक स्थानों का ऐतिहासिक व सास्कृतिक स्वरूप हमारे सामने उपस्थित हो जाता है।

इसके अतिरिक्त इस चम्पू में मरु प्रदेश की इस दिव्य-धरा पर घटित होने वाली प्राकृतिक अवस्थाओ यथा:—आधी, वर्षा तथा शीतकाल में चलने वाली ठण्डी वायु के झौंके आदि के आकर्षक वर्णन के साथ अनेक युद्ध प्रसंगों का सजीव वर्णन है।

चम्पू में गद्य के साथ पद्य का प्रयोग भी अनिवार्य होता है। गभीर भावों अथवा किसी विशेष कल्पना सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना के लिए इसका आश्रय लिया जाता है। इस दृष्टि से कवि का प्रथमोच्छ्वास में १८ श्लोकों में वर्णित भारत गीत द्रष्टव्य है। जिसमें भारत-भू की प्रकृति का अति मनोहारी चित्र प्रस्तुत किया गया है:—

कठिनतमेऽपि दया प्रवाहके चकित भवे बलिदान दायके।
अनुपम काव्य कला विकासके सुरहित सन्तत सज्ज लादेक॥
हृदि हृदि भासित वेद भास्करे दिशि दिशि दीप्त यशः सुधाकरे।
त्रिभुवन तृप्ति वितानिताह्वरे नर हरि गर्जन भीम गह्वरे॥
ि--धि वाहित भक्ति निर्झरे प्रभुरपि नास्ति यस्य मन्दिरे।
भुवि सतत प्रभु भक्ति निर्झरे विभुरपि खेलति यत्र जाजिरे॥
(विक्र० ४ से ६)

वीर प्रदेश राजस्थान का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि यहां की नारी यदि शत्रुओं के सिर रूपी कन्दुक से खेलने के रसिक धीर वीर पुत्रों को जन्म न दे तो उसका वन्ध्या रहना ही अच्छा है और यदि वह वीर पत्नी न बने तथा युद्ध में जाने वाले पति का तिलक न करे तो अपने सतीत्व को धिक्कार का भाजन समझता है—

वान्ध्य श्रेष्ठं जगति मनुते सा न सूते सुतं चेत्।
धीरं वीरं रिपुदलशिरः कन्दुका सक्त चित्तम्॥
धिक् स्व स्त्रीत्वं गणयति तथा सा न चेद् वीर पत्नी।
युद्धे यान्तं प्रिय जन जन शिरः कुकर्भे नर्चियेद् या॥
(विक्र० तृ० उ० श्लो०७)

कभी कभी हास्य में कही गई बात भी व्यक्ति को चुभ जाती है और जीवन को परिवर्तित कर देती है फिर राजस्थान के क्षत्रियों की मनः स्थिति की भी एक विचित्र परम्परा है कि वे कब, क्या और किस बात से प्रेरित होकर कुछ का कुछ कर बैठें? इसके अनेक उदाहरण राजस्थान के इतिहास में मिलते हैं। अतः पिता के द्वारा की गई सामान्य मजाक से प्रेरित होकर दोनों वीर बीका और कांधल नव राज्य की स्थापना को उद्यत हो गये और अन्ततः अपने प्रयत्न में सफल ही हुए-,

आज्ञा च राजन् यदि लभ्यतेऽद्य अर्हन्त सद्यो विजयाय यामः।
नृपात्मजं दिग् विजयाय येयम् पुरातलो भारतजा प्रथेयम्॥
(विक्र० प्र० उ० श्लो०-१५)

राजकीय जीवन और मान, तथा प्रकृति के रमणीय वर्णनों के साथ यहां के निवासियों के सरल स्वभाव व कठोर कृषि जीवन तथा निरन्तर श्रम करते हुए भी अलगोजे के द्वारा आनन्द लहरी का आनन्द उठाते हुए ग्रामवासियों का चित्रण भी अति मनोहर है:—

"स्वभावतः सरल प्रकृत्यो धीराः, धर्म भीरवः, सत्यनिष्ठाः, स्वामि भक्ताः, गोभक्ताः, सर्वमित्रो बलिन स्त्यागिनो निर्दयाः, पवित्राचार निर्मल मानसा च भवन्ति"

(विक्र० उ०-५)

"परिगायतः ते स्वधान्यं प्रपूर्णेषु क्षेत्रेषु मनोहराणि जीवानि परिपूरयत चाखिले नभो मण्डल मधुर परिगुंजद्भिः स्वीयं स्तारैरलं गर्जित स्वरैः

(विक्र० उ०-३)

इस प्रकार प्रस्तुत चम्पू में चम्पू काव्य के लिए अपेक्षित सभी विशिष्टताओं का समावेश है। भाव और भाषा का चरमोत्कर्ष इसमें रचनाकार की लेखनी से हुआ है। अलकार सौन्दर्य भी प्रस्तुत रचना में दृष्टव्य है। किसी व्यक्ति या दृश्य के विशद चित्रण में अनेक उपमा, विरोधाभास, परिसंख्या आदि अलकार श्लेष का आधार लेकर आते हैं। हम राज्य दरबार के वर्णन तथा भारत भू के वर्णन में देख चुके हैं। वीर विक्रम जन्मप्रसग में अलंकारों की छटा दर्शनीय है:—

विनताय वैनतेय इव. निष्कामताया कर्म योगाइव, निर्त्तिकताया साहसइव, राष्ट्र शक्ते विजयइव, अदित्र-

यस्मादिव रोदनेनैव सह रिपु दाराः, प्रथम नयनोन्मीलित नेन सहैव चोमिम मोल मरधरा सौभाग्य लक्ष्मीः यथा यथा च विजह रहस्यावयवाः स्व सकोच तथा तथा विकसितु मारे भिरसिला अपि जांगल लावण्य कलिका।

इस प्रकार प्रस्तुत रचना राजस्थान भूमि के सरस वर्जनाओं की सुन्दर परिचायिका है तथा प्रौढ़ रचनाकार की शैली मे एक साथ बाण, दण्डी और अम्बिका दत्त व्यास की गद्य गरिमा का सुन्दरसमन्वय दृष्टिगत होता है।

(ग) आलोच्य विद्वान का गद्य साहित्य

श्रीयुत् शास्त्री ने काव्य नाटक तथा चम्पू के समान स्वतन्त्र रूप से तो इस दिशा मे उपन्यास व कथा आदि की रचनाएं नही की किन्तु इनके गद्य साहित्य की झाकी हम चम्पू तथा अनेकानेक सस्कृत सम्मेलनों में दिये गये अध्यक्षीय भाषणों मे उपलब्ध होती है। संस्कृत सम्मेलनों में जिस धारा प्रवाह शैली मे आप बोलते है उसका श्रोतृ-समुदाय पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

राजस्थान संस्कृत साहित्य सम्मेलन में जो जोधपुर में सम्पन्न हुआ था उनमे सस्कृतज्ञो और संस्कृत की महत्ता के व्यापक प्रचार पर बल देते हुए आपने कहा–'सस्कृतज्ञैः स्वयमेव सर्वथाग्रेसरैं भाव्यम्,' स्वभाव सिद्धैः त्रिभुवन-नागरिकैं संस्कृतज्ञा न केवलं भारत भुव एव अपितु विश्वस्यापि-विश्वस्य कल्याणं सम्पादनीयम् इति प्रतिक्षणं सस्मृत्य संस्मृत्य तैः सर्वथा परित्याज्या अद्यतनी स्वीया हीन भाव बिम्बी आत्म शक्तिश्च सर्वभैव सु प्रकाश्या। नहि स्वशक्ति विस्मरन्त स्वात्मान निर्बल वदन्ति न हि तेषा को प्यन्य संरक्षको विद्यते।

आगे सस्कृत के प्रचार के लिए पचवर्षीय योजना के अनेक सूत्र बिन्दू दिये है।

श्रीयुत् शास्त्री के व्यक्तित्व की यह विशेषता है कि इनकी वाणी मे पौरुष का ओज भारत की संस्कृति और सभ्यता के पुनरुत्थान के लिए उत्कट-उदात्त भावना ही सदा मिलती है। चाहे वह कवि सम्मेलन हो चाहे "दर्शन परिषद्" अथवा अन्य गोष्ठी। इनकी दृष्टि थोथी व्यर्थ, कल्पना मे न उलझ कर अपने को वास्तव में क्या करना चाहिए? हमारी वास्तविक स्थिति क्या है? इसी का सही निरूपण करना इनके सभी वक्तव्यों का उद्देश्य रहा। मनोहरपुरा मे सम्पन्न त्रयोदश संस्कृत साहित्य सम्मेलन पर हुए सस्कृत कवि सम्मेलन का अध्यक्षता के समय श्रोतृ-समुदाय ने तो शायद प्राचीन सस्कृत कवि जयदेव के गीत गोविन्द और कालिदास के समान किसी आलकारिक शृगार चित्रण की अपेक्षा इनसे की होगी किन्तु हमारे मनीषि ने उस समय जो कहा वह इनकी गरिमा के अनुरूप ही रहा—

नव भारत नव युव युगे च कि भरमानिः कमनीय मेय प्रदनोऽपि

अधुनाकांक्षतेऽस्माकं सुसमीक्षाम् " समग्रेऽपि भारतेऽखण्डत्व बुद्धि वर्धने मावेग्य संरक्षणं च पुरास्माभिरेव सुविहित मयापि च तदास्ते सुविधेयम् । निर्भयं स्वाभिमतं प्रतिपाद्य जीवनान्नैराश्य वृत्ते स्च्छेदनाय जने जने नव जीवन प्रसारणाय शत्रूणां विनाशाय च राष्ट्रे नव शक्ति प्रबोधनमर्हानि सामर्थ्याभिः सुसम्पादनीयं वैदिक काव्य सम्प्रदायश्च पुन प्रवर्तनीयः 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्,' ओजोऽसि ओजो मयि धेहि' इति ओजस्वी जीवनं समुपास्यते समुपचीयतेच"

कुछ वर्ष पूर्व गगानगर में हुए सर्ववेद शाखा सम्मेलन मे स्वागताध्यक्ष के पद से यज्ञ की उपेक्षा वृत्ति पर भारतीय जनता व शासक वर्ग की उपेक्षा भावना पर चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा था —

'परम शोचनीयं महती विडम्बना' किन्तु आधुनिकानां भारतीयानां सवनुयायिनां विचारकाणां च यत्ने समये समये विरच्यते यज्ञादी नामपि विश्व-कल्याण करो व्यापकः प्रसारः ।

उपर्युक्त सरल गद्य रचना शैली के अतिरिक्त जहा आपका वर्ण्य कुछ साहित्यिक विषय से सम्बन्धित होता है 'वाण' के समान समस्त पदों का विन्यास दर्शनीय व आकर्षण हुआ करता है ।

श्रीयुत् विद्याधर शास्त्री की भाषण शैली तथा भाव गाभीर्य कितना उच्च व उदात्त हुआ करता है इस प्रसग मे देश के दो मूर्धन्य विद्वानो तथा महान् पुरुषो की इनके भाषण सुनने व पढने की प्रतिक्रिया प्रस्तुत कर रहे है,'कोटा मे हुए राजस्थान सस्कृत सम्मेलन के इनके अध्यक्षीय भाषण को सुनकर काका गाडगिल ने कहा था.–

भाषण अतीव सुन्दर है अभिनन्दन ।

श्री सी० डी० देशमुख तत्कालीन अर्थ मत्री नई दिल्ली ने अपने दि० २०-२-१९५५ के पत्र में लिखा–

पत्र यदत्र भवता प्रहितं चिरस्य
नावेविता प्राप्ति रहो मयास्य
अपत्र के किन्तु करोमि पाश्चात्
कार्याति भार विवशो भवतः क्षमामाः

अध्यक्ष पीठाद् भवतो दितंच सावहिते पठित्वा
मन्ये नु मान्यैः सुरे भारतीज्ञाः अनु गृहीताः परमार्थ वाचः

इस प्रकार ओजस्वी भाषण शैली में उद्गरित श्री शास्त्री की वाणी वैदिक ऋषियों की वाणी के समान नवजीवन स्फुरण की क्षमता सम्पन्न हुआ करती है।

परम्परित गद्य शैली के इनके परम उत्कर्ष का प्रत्यक्षीकरण हम विक्रमाभ्युदयम् में कर चुके हैं उसी के दो एक प्रसंग पुनः प्रस्तुत कर इस सोपान का समापन करते हैं:-

भारतं वर्षम्

अस्ति अव्यक्त व्यक्तरूपाया अखिल लोकलावण्यसीमायाः निखिला-यसधिकाया मातुर्महालक्ष्म्याः पृथिव्याः परमपावने स्नेहसद्मनि शुभाङ्के विराजमानम् त्रिभुवने विभ्राजमानम्, उदीच्यामभिरक्ष्यमानम् साक्षात् शंकरसन्निवेशेन, सुरसरित्-सूर्यतनयादिशचिसरित् समुद्भावकेन, प्रकृति-विलासविलक्षणेन, शैलशिरोमणिना, सर्वदेवालयेन, हिमालयेन, मध्ये च विजृम्भमाणम् विशालशिलातलपतन्नामंवसलिलसमुच्छलच्छी करमुक्ता-निकरवर्षिणा, सघनवनसुखशयनमग्न-पञ्चाननेन, झंझावात विधूतविन-मन्दरगणविहितानवरत-नृत्येन, विद्युत्प्रपातप्रतिध्वनित-महागह्वरगर्जित महाविजयदहेन, शीतस्थलमृत्युञ्जया-मरकण्टकविहरद् व्याघ्रेण, वृहता विन्ध्याचलेन, तत्तद्देशविशेषाश्रित समुपहार समानीतसलिलपोत-समर्चितेन, सुरभित-सुफलिततरुराजिसमलङ्कृततीरेण प्राच्यां प्रतिच्यामवाच्यां च नितरां समभ्यर्च्यमान महामहिमशालिना रत्नाकरेण, निखिलभूमण्डल विभूषण परमविरञ्चगतन-जन्मसम्मानितसर्वसदरं सर्वसौख्य समन्वितं सनातनभारत भारतं वर्षम्।

विक्रमाभ्युदयात् (वि० प्र० २१३)

इस प्रकार श्रीयुत् शास्त्री के गद्य में गद्य की नैसर्गिक, आलङ्कारिक तथा भावात्मक इन तीनों के ही रूप मिलते हैं। आलङ्कारिक शैली में लेखक ने अपना चम्पू लिखा है तथा भावात्मक रूप शैली का दर्शन परि-पदों व सम्मेलनों के अध्यक्ष पदों के भाषणों में मिलता है।

□ □ □

स्मृति व सूत्र साहित्य

(क) स्मृति साहित्य

□ □ वर्ण्य व स्वरूप विकास

श्रुति व स्मृति विषयक रचनाएं हमारे धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत परिगणित की जाती है। श्रुति व स्मृति की परिभाषा व अन्तर को स्पष्ट करते हुए मनु ने कहा है:—

श्रुति स्तु वेदो विज्ञयो, धर्म शास्त्रं तु वै स्मृतिः

(मनुस्मृति अ०२, श्लो० १०)

इस प्रकार मनु ने सारे धर्मशास्त्र को ही स्मृति कहा है। किन्तु डॉ० रामजी उपाध्याय के अनुसार 'मनुस्मृति कोटि की रचनाओं का नाम ही विशिष्ट रूप से स्मृति है'।[1]

इन स्मृतियों मे अभ्युदय और नि.श्रेयस के साधक वेद-मूलक अर्थ का आचार और व्यवहार तथा मनुष्य के गर्भाधान से लेकर मरणो–तर जीवन तक के विधि विधानों की व्यवस्था का निरुपण होता है। 'इन स्मृतियो की सख्या हमारे धर्म शास्त्र के इतिहास मे सहश्राधिक मानी गई है।[2] प्राय: स्मृतियां ४०० ई० से लेकर १००० ई० तक लिखी गई है, स्मृति कोटि के प्राचीन साहित्य में "मनुस्मृति" का प्रथम स्थान है और

१. डा० रामजी उपाध्याय-'संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ३२१

२. डा० रामजी उपाध्याय–सं० सा० का आ० इ० पृ० ३२१

उसके पश्चात् याज्ञवल्क्यस्मृति, पाराशरस्मृति नारदस्मृति व बृहस्पति-स्मृति आदि स्मृतियां रची गई।

अभिनव संस्कृत साहित्य में भी इस प्रकार के धार्मिक साहित्य का सर्जन हुआ है किन्तु काव्य व नाटक आदि के समान अभी इस साहित्य का पूर्ण विवरण व सर्वेक्षण नहीं हुआ है। राजस्थान के आर्ष विद्वानों ने इस दिशा में प्राथमिकता की है। स्व० प० देवीप्रसाद शास्त्री की 'मण्डप-बोधिनी' व 'निर्णयबोधिनी', प० चतुर्थीलाल का 'अनुष्ठान प्रकाश' एवं शिवदत्त त्रिपाठी की 'आस्तिक स्मृति' में हमारे षोडस् संस्कारों से सम्बन्धित विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। जोधपुर के स्व० विश्वेश्वर नाथ रेऊ का 'आर्य विधानम्' स्मृति विषयिनी एक पूर्ण रचना है। हमारे आलोचित विद्वान् की 'नवभारत स्मृति' भी इसी परम्परा में रचित एक स्मृति रचना है।

☐ ☐ नव भारत स्मृति की रचना दृष्टि

परिवर्तित युगीय स्थिति में प्राचीन श्रुति स्मृतियों द्वारा प्रस्तावित समाज व्यवस्थाओं का स्वीकरण उसी रूप में कदापि सभव नहीं जिस रूप में अब तक रहा है। राजनैतिक सामाजिक तथा धार्मिक मान्यताओं का नई दृष्टि से मूल्यांकन मात्र के युग की अपनी विशेषता हो यह बात भी नहीं है अपितु इतिहास साक्षी है कि प्रत्येक युग परिवर्तन के साथ मान्यता व आस्थाओं में भी परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक युग की अपनी स्थिति व आवश्यकता हुआ करती है। अनेक स्मृतियो की रचना इसी वृत्त व सत्य का समर्थन व सकेत करती है कि भिन्न भिन्न युगों में समाज व संस्कृति के जीवन-क्रम में परिवर्तन हुआ है। इसी दृष्टि को लक्ष्यगत करते हुए श्रीयुत् शास्त्री ने आज के युगानुरूप अनुष्टु छन्द में रचित तथा पाच अध्यायों में विभक्त अपनी इस "नव-भारत स्मृति" का प्रणयन किया है।

मानव मन वेत्ता हमारा रचनाकार इस तथ्य से अच्छी प्रकार अवगत है कि मानव के नित्य नवीन परिवर्तनशील जीवन के लिए सभी प्रकार की आवश्यकताओं का नवीन अकन होना आवश्यक है:—

मानवः सततं लोके नवां स्मृतिमपेक्षते
सन्ति रूपभावतोऽनित्या यतस्तच्चित्त वृत्तयः
(न० भा० स्मृ० प्र० प०—१०)

अतः वह उसकी इच्छा पूर्ति हेतु नवीन व्यवस्था व कर्त्तव्यों का

निरूपण तो करने जा रहा है किन्तु उनकी दृष्टि में प्राचीन व्यवस्था सब प्रकार से अपने आप में पूर्ण है। अतः उसी को वह नवीन रूप में प्रस्तुत कर रहा है:—

> धर्मस्यास्य निरूपं तद् रक्षितुं नियतं सदा
> ऋषिभिः स्मृतयस्तास्ता काले काले प्रकल्पिताः
> टीकेयं नूतना तासां देशकालानुसारिणी
> भारतस्य स्मृतावस्यां मया काचिद् विधीयते
>
> (न० भा० स्मृ० प्र० अ०-८,९)

इस प्रकार प्रस्तुत कृति में युग-सापेक्ष्य चारों वर्णों के स्वरूप व कर्तव्यों का उचित निरूपण किया गया है।

□ □ नव भारत स्मृति में प्रतिपाद्य व्यवस्था

स्मृतिकार ने अपनी इस 'नव भारत स्मृति' के पांच अध्यायो मे आज के भारत की समाज व्यवस्था, राज्य व्यवस्था व अर्थ व्यवस्था को सुसम्पादित करने के लिए प्राचीन स्मृतियो द्वारा निर्देशित व्यवस्था विधानों को नवीन युगीय रूप में प्रस्तुत किया है। व्यवस्थाओं का मूल आधार पूर्णतः प्राचीन है किन्तु उनका स्वरूप सर्वथा युगानुरूप है यही इस स्मृति की विशिष्टता है।

□ □ □ प्रथम अध्याय

सर्वप्रथम मंगल स्तवन के पश्चात् विधि व नियमों की सार्वकालिक नित्यता निरूपित करते हुए स्मृतिकार ने कहा है प्रत्येक युग में युगानुरूप व्यवस्था विधानों की प्रवर्तना होती रही है:—

> सर्गादौ सर्ग मार्ग्य यैः काले काले युगोचिताः
> नियमा धर्म रक्षार्थं नित्य ते ते प्रवर्तिताः ।
>
> (न० भा० स्मृ० १-४)

तथा इन विधानों के युग व परिस्थिति सापेक्ष्य परिवर्तित स्वरूपों को भी विद्वज्जन बिना दुराग्रह के सहर्ष स्वीकार करते रहे हैं:—

प्राक्तने नूतने तस्माद् विदुषां न दुराग्रहः
यस्मिन् काले हि यद् योग्यं कालज्ञै स्तदुपास्यते
(न० भा० स्मृ० १-६)

अत इस परम्परित क्रमानुसार नव युग की नव परिस्थिति में प्राचीन ऋषियों द्वारा निर्देशित नैतिक विधानो को श्री शास्त्री नवीन रूप में इस स्मृति में प्रस्तुत कर रहे है।

अपनी रचना के हेतु को स्पष्ट करते हुए श्री शास्त्री ने कहा है कि श्रुति-सम्मत जीवन व्यवस्थाओ की उपेक्षा करने के कारण आज भारतीय जन अपनी श्रेष्ठ संस्कृति को भूलता जा रहा है, इस सस्कृति विस्मरण का ही यह परिणाम है कि कभी विश्व-गुरु के गौरव का अनुभव करने वाला भारत आज परपथानुगामी बन गया है-

भारतीया यतः सर्वा संस्कृतिर्विस्मृता जनैः
अभवंो गुरवो जाता विश्व शिष्याश्च हन्तते
(न० भा० स्मृ० १-१३)

इस प्रकार एक ओर नव युवा वर्ग तो परकीयानुकरण मे अन्धा हो रहा है तो दूसरी ओर पुरातन पन्थी जन अपनी दुराग्रही-वृत्ति से नवीनता व परिवर्तन का नाम भी नही सुनना चाहते:-

अनौदार्येण दुर्ग्रस्ता पक्षेऽन्यस्मिन् पुनः पुनः
नहि नव्यस्य नामापि श्रोतुं सन्ति समुद्यताः
(न० भा० स्मृ० १-१६)

स्मृतिकार भारतीय जन-मानस की इस विमूढ़ ग्रस्त स्थिति से बड़ा व्यथित है अतः वह बड़े आक्रोशपूर्ण आग्रह के साथ निवेदन करता हुआ कहता है.-

स्वतात्पर्यामतः किञ्चित् स्पष्ट-स्पष्टं निवेद्यते
ग्राह्यं यत्तद् दुर्ग्राह्यं हेयमन्यत् यथा मति
(१-२६)

इस स्थिति से मुक्त होने के लिए सर्व प्रथम सुसंस्कारो की आवश्यकता प्रतिपादित की है। सुसंस्कारित मन शान्त होता है और शान्त मन

से ही सत्य का वास्तविक दर्शन हो सकता है :-

प्रधानाऽय संस्काराः सामान्याः श्रुति सम्मताः
जनानां सद्विकासार्थं सदा सद्विप्रपेक्षिताः
(न० भा० स्मृ० १-२९)

तत्पश्चात् धर्म के तात्विक-ज्ञान की आवश्यकतानुभव करते हुए श्री शास्त्री कहते हैं कि धर्म के व्यापक ज्ञान के अभाव में अल्पांश में भी कुछ जानना सम्भव नहीं।-

न विना व्यापकं ज्ञान रूपं धर्मस्य तात्विकम्
ज्ञानाहीन न विज्ञेयं स्वल्पं चापि भवेत्क्वचित्
(न० भा० स्मृ० १-३६)

इस भारत को सदा ज्ञान का क्षेत्र बताते हुए रचनाकार ने कहा है यहा वेदमाता की कृपा से स्वतः विप्रत्व की प्राप्ति होती रही है :-

पृथिव्या भारतं धात्रा ज्ञान क्षेत्रम्प्रकल्पितम्
वेद मातृ-कृपा पायो विप्रे यत्प्राप्यते स्वतः
(न० भा० स्मृ० १-३७)

किन्तु आज दुर्भाग्य से इस भारत भूमि पर तृणवत् मनुष्यों की वृद्धि होती जा रही है और वह भी ऐसे मनुष्यो की जिनका जीवन पशुओं से भी हीनतर एवं घृणित है:-

तृणवत् वर्धमानेयं संख्या चाद्यतनी नृणाम्
गुणं संस्कारजं र्हीनानोपेता मानुषं गुणैः
(न० भा० स्मृ० १-३८)
संस्कारैः रहितो मर्त्यः पशुरेव मतो बुधैः
पशुष्वपि पशु कश्चित् स जघन्यतमो भवेत्
(१-४०)

इस प्रकार सुसंस्कारों से रहित भारतीय जन अपने आत्मगुणो को भूलकर पद-पद पर परानुगामी वनकर अपने ही पूर्व पुरुषों की निन्दा करने मे गर्व का अनुभव करते हैं:-

वर्तमाने च दौर्भाग्यात् विस्मृतात्म गुणा ग्रमम्।
जाताः पदे पदे ज्येर्षा सर्वत्रैवानुर्तितीः ॥
(न० भा० स्मृति० १-४२)

उनका यह कृत्य अति निन्दनीय है। हमारी दिव्य संस्कृति तीनों लोकों और तीनों कालों में विश्व-पोषिणी है। अतः उसका तिरस्कार करना मूर्खता है। इस मूर्खता पूर्ण कार्य को छोड़कर अपनी सुन्दर जातीय वर्ण-व्यवस्थाओं के अनुसार जीवन यापन का प्रयत्न करना चाहिये।

अन्त में अपने धर्म के वैज्ञानिक स्वरूप की ओर संकेत करते हुए रचनाकार कहता है कि मैंने अपनी इस स्मृति में इस विज्ञान-सम्मत धर्म की वैज्ञानिक शब्दों में व्याख्या व व्यवस्था मात्र ही प्रस्तुत की है, किसी प्रकार की नवीन नियमना व्यवस्था आदि नहीं:—

नेह कश्चित् नवो भावो विधि र्वा योजितो मया।
प्रोक्तं वैज्ञानिकैः शब्दैः किञ्चिद् वैज्ञानिके युगे ॥
(न० भा० स्मृति० १-५०)

□ □ □ द्वितीय अध्याय

इस अध्याय में चारों वर्णों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि की समाज में स्थिति, दायित्व व उनके विभिन्न कर्त्तव्य विधानों का विस्तृत वर्णन है। साथ ही इन कर्त्तव्यों एवं अपने स्वरूप ज्ञान से विमुख होने के कारण आज वे कितनी दयनीय स्थिति में पहुँच गये हैं इसका भी सहेतु निरूपण स्मृतिकार ने किया है। तथा इसी प्रसंग में जाति के जन्मना व कर्मणा विषयक विवादास्पद, विषय, स्पृश्यास्पृश्य, शूद्रों की समाज में स्थिति, उनका मन्दिर प्रवेश एवं वेद पाठन आदि का समाधान भी श्री शास्त्री ने दिया है किन्तु इनके समाधान का रूप समाज के परम्परित स्वरूप को विघटित करने वाला न होकर विधेयात्मक व मण्डनात्मक है। दोनों ही पक्षों को उग्रता से दूर रहकर मध्यम मार्ग की शास्त्र व विज्ञान सम्मत व्यवस्था शास्त्री की प्रत्युत्पन्न-प्रज्ञा की परिचायक है:—

सर्वप्रथम चारों वर्णों की समाज रूपी विराट-पुरुष के अंगों से समानता करते हुए कहा है:—

ब्राह्मणोऽस्य मुखं यावत् क्षत्रिया बाहुरूपिणः ।
वैश्या उदर संस्थानाः शूद्रा पद्भ्यो गति प्रदाः ॥
(न० भा० स्मृ० २-३)

वर्ण-व्यवस्था के शाश्वत स्वरूप की चर्चा प्रसग मे स्मृतिकार ने कहा है कि सृष्टि के प्रत्येक जड़-चेतन वर्ग मे विशेषज्ञ इसी प्रकार से चतुर्विध वर्गीकरण की व्यवस्था का अनुभव करते हैं उदाहरण स्वरूपः—

दृष्टं चेत् सूक्ष्मया दृष्ट्या पक्ष्यादिस्वियमास्तृता
विभज्यन्ते विशेषज्ञैः तिर्यञ्चोऽपि तथैव तत्
(न० भा० स्मृति० २-५)

प्रत्येक वर्णाश्रमी अन्य वर्णों की अपेक्षा अपने आपको श्रेष्ठ व महान् मानने का आग्रह व दुराग्रह किया करते है किन्तु हमारे स्मृतिकार की मान्यता है कि सभी वर्ण श्रेष्ठ व उत्तम है किन्तु प्रत्येक वर्ण पूर्णता या श्रेष्ठता को तभी प्राप्त कर सकता है जब कि वह अपने जाति विहित कर्मों को अच्छी प्रकार से सम्पादना करे:—

सर्वेष्वप्येषु वर्णेषु श्रेष्ठास्ते सर्वथा मताः
प्राप्तं यैः पूर्णवर्णत्वं स्व जात्याऽथ स्वकर्मणा
(न० भा० स्मृति० २-१६)

केवल वशानुगतता की दृष्टि से कोई भी वर्ण बड़ा व श्रेष्ठ नही है अपितु कर्मों का उत्कर्ष ही उनकी उत्कर्षता का हेतु हैः—

न कश्चित् केवलं जात्या वर्णं साफल्यमाप्नुते
नूनं वंशानुगा जातिः सत्कर्मोत्कर्षकारिणी
(न० भा० स्मृति० २-१७)

अतः सभी वर्णों को अपने अपने लिए विहित कर्म-कर्त्तव्यों का पालन -पोषण करना चाहिए:—

अखिलैरेव वर्णैस्तत् सुपोष्याः स्वगुणाः पुरा
गुणैरेव यवन्ते ते स्वजातीय्युं यशस्विनः
(न० भा० स्मृति० २-१८)

तत्पश्चात् प्रथम-वर्ण ब्राह्मण की आज की पतित स्थिति का चित्रण करते हुए स्मृतिकार कहता है आज वह अपने परम्परित श्रेष्ठ कर्तव्यों को भूल गया है जिसके कारण उसका पूर्व जैसा सम्मानीय स्थान समाज में नहीं रहा इसमें प्रधान कारण उसकी स्वयं की अक्षता ही है:—

ब्राह्मणे श्चेत् सुसम्मानं लभ्यते नाद्य पूर्वंवत्
प्रधानो हेतु रज्ञानं तेषामद्या विद्यातकम्
(न० भा० स्मृति० २-३२)

अतः उसे उद्बोधित करता हुआ स्मृतिकार उसे आत्म-निरीक्षण की प्रेरणा देता है:—

आदर्शो न चरित्रोऽपि तेषामद्य समुज्ज्वलः
तद् स्वदोष निवृत्यर्थं कार्यं आत्म परीक्षणम्
(न० भा० स्मृति० २-३३)

दूसरा वर्ण क्षत्रिय है, जिसका धर्म दीनों का परित्राण, राष्ट्र व समाज की सब प्रकार से रक्षा करना रहा है, किन्तु आज वह भी अपने विहित कर्तव्यो को भूलकर अनेक दुर्व्यसनों से ग्रस्त हो गया है, अतः वह भी आज तेज विहीन हो गया है:—

अद्याः क्षत्रिया जाता व्यर्थाहङ्कार गर्विताः
दोषं रग्नैश्च संयुक्ता सुप्तं तेजोऽखिलं तद्
(न० भा० स्मृति० २-४०)

अतः उसे अपने आत्म-गौरव की प्राप्ति के लिए पुनः सत्-शक्ति की पर्युपासना करनी चाहिये अन्यथा उसके अभाव में राष्ट्र तथा उनकी शक्ति सदा के लिए समाप्त हो जाएगीः—

सुयत्नैः रक्षैः पुनर्लभ्यं आत्म गौरव रक्षकैः
अन्यदा राष्ट्र सत् शक्तिस्तेषां शक्ति श्च सुप्यताद्
(न० भा० स्मृति०२-४१)

राष्ट्र को समृद्धि का वर्द्धक वैश्य वर्ण है। इस वर्ण के प्रयत्नों के द्वारा कृषि व व्यापार के द्वारा देश भौतिक सम्पन्नता को प्राप्त करता है।

अतः यह लक्ष्मी का वरद वर्ण है। किन्तु आज इसकी प्रवृत्ति भी इतनी स्वार्थमयी हो गई है कि यह पोषक के स्थान पर समाज का भक्षक बन गया है:—

> शोषका अद्य संजाताः पोषकाः ये पुरा अभवन्
> नेमे वैश्याः परं केचित् कृमयः सर्व भक्षकाः
> (न० भा० स्मृति० २-४७)

स्मृतिकार ऐसे समाज-भक्षक कीटों को सर्वथा दण्डनीय मानते हैं:—

> क्रियते विकृतं लोभात् भक्ष्यं पेयं च ये नरैः
> दण्ड्यास्ते तत्क्षण राज्ञा न हि क्षम्या कदाचन
> (न० भा० स्मृति० २-४८)

अन्त में चतुर्थ वर्ण के कार्य व्यापार का श्री शास्त्री ने बड़े [illegible] के साथ निरूपण किया है। आज समाज में इन्जिनियरों, शिल्प-विशारदों व कलाकारों का अति महत्वपूर्ण स्थान है श्री शास्त्री ने शूद्र वर्ण का निरूपण उसके आविष्कारक कार्यों के साथ ही किया है:—

> तन्त्रनिर्मित संलग्नो [illegible]
> राष्ट्र सेवा रतः शूद्रः शिल्प-शास्त्र विशारदः
> हस्तानां कौशलं मुख्य [illegible] शूद्र [illegible]
> वास्तुशास्त्र विशेषज्ञो [illegible] [illegible] [illegible]
> (न० भा० स्मृति० [illegible])

ये समाज के प्रति सम्माननीय [illegible] हैं।

> शूद्राणां न [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
> [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
> (न० भा० स्मृति० [illegible])

विजातीय शक्तियों द्वारा इस वर्ग को इसके महान् हिन्दू-समाज से विलग करने की भेद-भरी कूट-नीति को स्पष्ट करते हुए स्मृतिकार कहता है आज यह शत्रु की कूटनीति से ग्रस्त होकर भ्रमित हो रहा है अतः जैसे तैसे इनके अपने भ्रातृत्व-भाव की रक्षा करनी नितान्त आवश्यक है:—

शत्रुकूट नयग्रस्तेषु भ्रान्तिपभुं वि
जातं यत् तत् पुनर्चिन्त्यं भ्रातृभावश्च रक्ष्यताम्
(न० भा० स्मृति० २-५५)

इसी प्रकार राम और कृष्णादि के पूजक ये किसी भी प्रकार से बहिष्कार योग्य नहीं हैं ये स्वभाव से ही परम आस्तिक हमारे भाई हैं:—

नेमे क्वचिद् बहिष्कार्या राम कृष्णादि पूजकाः
स्वभावादास्तिका एते सर्वेषां भ्रातरो हि नः
(न० भा० स्मृति० २-५८)

तथा स्पृश्य एवं अस्पृश्य के प्रश्न पर अपनी व्यवस्था देते हुए स्मृतिकार ने कहा है कि अस्पृश्य और जाति आदि कोई कारण नहीं, गर्ह्य और निन्दनीय कर्म करने वाला ही अस्पृश्य है। गर्ह्य कर्मों के पश्चात् शुद्धि आवश्यक है:—

स्पृश्यास्पृश्य मते प्रश्ने जातिः काचिन्न कारणम्
गर्ह्यमापि तत्र कर्माणि शुद्धिस्तेषामपेक्षते
(न० भा० स्मृ० २-५७)

हमारे जातीय स्वरूप के विकार का कारण इसके स्वयं की व्यवस्था का दोष न होकर बाह्य-शत्रुओं के आक्रमणों के फलस्वरूप उन जातियों का सम्पर्क ही है:—

बाह्याक्रामक दस्यूनां बाहुल्ये यः पुनर्नवः
जातिक्रमोऽत्र संजातो राजनीति परायणः
तेनायं दूषितः सर्वः क्रमोजातेश्च कर्मणाम्
यतः स्मात् कर्म वैकल्यं विश्वासस्य विनाशकम्
(न० भा० स्मृति० २-६३-६४)

अन्त में स्मृतिकार कहता है कि आज सभी वर्ण अपने अपने वर्णोचित

धर्मों को भूल गये हैं अत- आज सबसे बड़ी आवश्यकता सभी वर्णों को सुसंस्कारित करने की है। आज नवीन परिस्थिति में हमें अपने सभी भेदों को भूलकर वर्णों आदि के विलगाव को छोड़कर देश की उन्नति के लिये मिलकर प्रयत्न करना चाहिए। आज हम सब एक ही वर्ण हैं वह है भारतीय और इस अपने प्रिय भारत देश की सब प्रकार की उन्नति करना ही एकमात्र हम सब का वर्ण धर्म है:—

सर्वेषामेव वर्णानां वर्णं एकोऽद्य भारते
भारतीया वयं सर्वे भारतीयम् धर्मिकाः
(न० भा० स्मृति० २-६८)

□ □ तृतीय अध्यायः—

वर्ण व्यवस्था के वैज्ञानिक स्वरूप और उसकी नवीन परिस्थिति में उपयोगिता बताकर इस तृतीय अध्याय में चारों आश्रमों के प्राचीन व अर्वाचीन रूपों का निरूपण किया है, तथा प्रत्येक आश्रम का महत्व व कर्त्तव्यों की विस्तृत व्याख्या करना रचनाकार को अभिप्रेत रहा है।

हम अपनी नित्य की प्रार्थना में सौ वर्ष जीने की कामना करते हैं। हमारी इस शत वर्षीय जिजीविषा को ऋषियों ने चार सम भागों में विभाजित किया है:—

नित्येयं प्रार्थनाऽस्माकं पश्येम शरदां शतम्
चत्वार सतत् संभागा आयुषो मुनिभिर्कृताः
(न० भा० स्मृति० ३-१)

तथा ये आश्रम अपने अपने साध्यों के साधक हैं:—

आश्रमास्ते हि संप्रोक्ता स्व-स्व साध्यस्य साधकाः
(न० भा० स्मृति० ३-२)

इनमें प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम समस्त आश्रमो का एकमात्र आधार है। इसके दृढ़तापूर्वक पालन किए बिना तन और मन सशक्त व तेजस्वी नही होते और बिना शक्ति के जीवन में किसी प्रकार की सफलता संभव नहीं:—

अन्येषामेव सर्वेषामाश्रमाणां दृढ़ाश्रयः
नैनं विभाव्यते कंश्चित् शारीरं चात्मिकं बलम्
(न० भा० स्मृति० ३-३)

इस आश्रम की परिपालना के लिए ऋषि महर्षियों ने जीवन के प्रथम पच्चीस वर्ष निश्चित किये हैं तथा इसमें पालन योग्य अनेक नियमों का निर्देशन किया है जिनके अनुसार आश्रम यापन करने पर तन व मन पूर्णतः तेजस्वी बन सकता है किन्तु आज उन सब का पालन पूर्णतया सभव नही अत उनमें से कुछेक को भी यदि दृढता के साथ स्वीकार किया जाय तो सब प्रकार की शक्तियों का विकास हो सकता है:—

शतशः नियमाः प्रोक्ताः स्मृतिषु ब्रह्मचारिणाम्
न चेमे निखिलाः शक्या कालेऽस्मिन् रक्षितुं जनैः
विद्यार्थिभिस्तु संरक्ष्याः केचिदेषु हितात्मभिः ।
स्वभावात्ते हि वर्तन्ते सर्वशक्ति विकासकाः ॥

(न० भा० स्मृति ३-६,७)

किन्तु आज का छात्र वर्ग अपने इस आश्रम की सुन्दर व्यवस्था से अपरिचित ही नही अपितु इसमें निर्देशित नियमों की पूर्ण उपेक्षा कर अपनी जीवन चर्या को इतनी विकृत बना लिया है कि यदि यही स्थिति रही तो उसका कितना पतन होगा इसकी कल्पना भी भयावह है:—

छात्राणां भारतीयानां गतिरद्य भयावहा ।
यदेषां दैनिकीचर्या साम्प्रतं विकृताऽखिला ॥

(न० भा० स्मृति० ३-८)

इस विकृत दिनचर्या का ही परिणाम है कि उनमें गुरु-द्रोह जैसी भयंकर प्रवृत्तिएं उदित हो रही है। वह किसी की भी नही सुनते, ज्ञान के समस्त द्वारों को बन्द कर अपने आपको ही सर्व श्रेष्ठ मान बैठे हैं:—

अहङ्कार विमूढात्मा धृष्टश्छात्रः स्वबोधतः ।
श्रोतव्यं शृणुते नैव समीक्ष्य प्रेक्ष्यते न च ॥
ज्ञान द्वाराणि सर्वाणि रुध्यन्तेऽस्य समन्ततः ।
स्वात्मानं मन्यते चायं सर्वश्रेष्ठ भवेऽखिले ॥

(न० भा० स्मृति० ३-१४-१५)

अन्त में छात्रों को पुष्ठु दिनचर्या के पालन का उपदेश देते हुए उन्हें समय पर शयन, व अध्ययन तथा स्वास्थ्य रक्षा के नियमों के पालन की प्रेरणा दी गई है तथा गृहस्थाश्रम के प्रवेश का वर्णन करते हुए कहा है:—

जाते शिक्षा क्रमे पूर्णे स्नातको गृह दीक्षितः।
आश्रमे प्रविशेद् गृहये विविधानुभवस्थले॥
(न० भा० स्मृति० ३-२९)

गृहस्थ आश्रम अन्य आश्रमों के प्रत्येक क्षेत्र का सहायक है:—

आश्रमोऽयं हि सर्वेषां पालको धर्म कर्मणाम्।
परेषामाश्रयमेतत् प्रतिक्षेत्रं सहायकः॥
(न० भा० स्मृति० ३-३०)

इस आश्रम का पालन स्थल गृह होता है जिसमें सुख और दुःख की एक अनुभूति होती है तथा जहां सभी प्रकार के सुखों का निर्झर सतत प्रवाहित रहता है:—

सदनं सर्व सौख्यानां रसानामथ निर्झर।
अनुभूति र्भवेदस्मिन् सहैव सुख दुःखयोः॥
(न० भा० स्मृति० ३-३३)

इस आश्रम की सम्पूर्ण सफलता पति पत्नी के दाम्पत्य सम्बन्ध की पवित्रता व घनिष्टता पर ही निर्भर होती है.—

सर्वं खल्वस्य साफल्यं तथा सर्वा समुन्नतिः।
स्थिरे दाम्पत्य सम्बन्धे स्थिता ह्यन्तर्हिता शुभे॥
(न० भा० स्मृति० ३-३४)

प्राचीन काल मे गृहस्थाश्रम का जो आदर्श स्वरूप था उसका दर्शन आज सभव नही, आज का घर, घर न होकर अरण्य के समान है व्यर्थ एपणाओं की वृद्धि तथा स्त्रियों के आडम्बर प्रिय स्वभाव के कारण आज का गृहस्थी सदा पीडित रहता है।

एपणानामसंख्यानां वृद्धिरत्र क्षणे क्षणे।
अपव्ययेन दुर्ग्रस्तान् गृहस्थान् कुरुतेऽन्वहम्॥
स्त्रियश्चेत् सन्ति संलीना व्यर्थाडम्बर दर्शने।
व्ययंव्ययेन ते गेहाः सदा तिष्ठन्ति पीडिताः॥
(न० भा० स्मृति० ३-४९,५०)

अन्त में इस स्थिति से मुक्ति के लिए स्मृतिकार कहता है:—

भारतस्य गृहस्थानां यथा च स्यान्न दुर्गतिः।
सावधानैस्तथा स्थेयं नित्यं राष्ट्र हितैषीभिः॥
(न० भा० स्मृ० ३-५४)

वानप्रस्थाश्रम की वर्तमान स्थिति के विषय में स्मृतिकार का कथन है:—

गृहस्थानन्तरं गृह्या वानप्रस्थापुराऽभयन्।
वृतं तत् किन्तु संजातं साम्प्रतं दुष्करं महत्॥
(न० भा० स्मृ० ३-५५)

सन्तति के सब प्रकार से योग्य होने पर आदर्श गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह समस्त भार अपने पुत्रादि पर सौंप कर स्वयं प्रभुभक्ति में रत हो जाये। यदि वह इस प्रकार स्वयं त्याग नहीं करता है तो प्रकृति उसे इसके लिए बाध्य कर देती है कि वह गृहभार वहन न कर सके:—

कृतदवेन्न स्वयं त्यागः प्रकृत्या कार्यं तामसौ।
वरं तस्मात् स्वयं त्यागोऽनुरागश्च प्रभोः पदे॥
(न० भा० स्मृ० ३-६१)

और फिर वे अनासक्त भाव से सफलता व विफलता में समान दृष्टि रखते हुए समाज सेवा में अपना जीवन यापित कर वन में वास करें:—

निष्काम कर्म तत्कार्य सिद्धि मंत्रोभयो भवेत्।
याप्य: समाज सेवायां स्व समयो वनेमुनि:॥
(न० भा० स्मृ० ३-६५)

अन्त में चतुर्थ आश्रम का वर्णन करते हुए स्मृतिकार कहता है कि वन में रहते हुए जब ममत्व का विच्छेद पूर्णतया न हो तब सब सम्बन्धों से मुक्त होकर चौथे आश्रम में प्रवेश करे:—

वन्ये ममत्व विच्छेदो जायते योनः पूर्णतः।
मुक्तोऽसौ सर्व सम्बन्धे श्चतुर्थंरतं विपीयते॥
(न० भा० स्मृति ३-६,७)

सच्चे संन्यासी के लक्षण बताते हुए स्मृतिकार कहता है कि जो विद्वान् स्वयं के स्वार्थ का परित्याग कर पर हितार्थ कार्य करता है वही वास्तविक संन्यासी है केवल गृह को त्यागने मात्र वाला ही संन्यासी नहीं:-

स्वार्थं त्यक्त्वापरार्थं यः साधयेत् सन्ततं सुधीः।
मतः ■ एव संन्यासी गृहत्यागी न केवलम् ॥
(न० भा० स्मृ० ३-६६)

तथा जो सांसारिक सुखों में क्षणिकता का अनुभव करता है उसी के चित्त में ज्ञान ज्योति द्योतित होती है और वही वास्तव में संन्यास और वैराग्य का सत्पात्र होता है। अन्य दम्भी तथा सन्यास के द्वारा धनार्जन करने वाले पाखण्डी होते हैं।

अन्त में सन्यस्त धर्म का आदर्श स्वरूप निरुपित करते हुए स्मृतिकार कहता है कि सन्यासी को चाहिए कि वह एकान्त कुटीर में वास कर रात दिन प्रभु के ध्यान जप और स्वाध्याय में अपने मन को लगावे तथा नियत समय पर कथादि के द्वारा श्रोताओं को अनुगृहीत करता हुआ यदृच्छा भोजन पर सन्तुष्ट होकर शान्ति का जीवन बितावे।

कुटीरे क्वचिदे कान्ते जन संराव नीरवे।
ध्याने जपे हृ्यसौ मग्नः स्वाध्यायेया रतोऽनिशम् ॥
नियते समये श्रोतृन् अनुगृह्णन् कथादिभिः।
यदृच्छा भोज्य सन्तुष्टः संन्यासी सुख माप्नुते ॥

(न० भा० स्मृ० ३-७४, ७५)

□ □ चतुर्थ अध्याय

इस अध्याय में श्री शास्त्री ने षोडश संस्कारो की वैज्ञानिक उपयोगिता स्वीकार करते हुए उन्हें कुछ नवीन स्वरूप व परिवर्तन के साथ स्वीकार करने की सलाह दी है। प्रत्येक सस्कार के आयोजन के समय यज्ञादि की व्यवस्था के साथ कुछ अभिनव आयोजन भी यथा-प्रीति सम्मेलन तथा अन्य प्रकार की गोष्ठियों को करने का सुझाव दिया जो उपादेय है। मुण्डन व नामकरण सस्कार पर परिवार व मित्रों का सामूहिक भोजन तो उचित है किन्तु उन परिजनों में कुछ सांस्कृतिक चेतना भी जागृत हो एतदर्थ गुरु जप तप तथा स्वाध्याय जैसे ज्ञान यज्ञों का सामूहिक आयोजन भी होने चाहिए।

इसी प्रकार विवाह आदि पर दहेज प्रथा तथा वृहद् भोजन पर होने वाले व्यर्थ व्यय की आलोचना कर उन्हें अशास्त्रीय बताया है किन्तु कन्या व वर के भावी जीवन के लिए कुछ सुरक्षित धन निधि की आवश्यकता बताते हुए किसी धनागार (बैंक) में उनके नाम से आपात्काल के लिए निधि आरक्षित करने की व्यवस्था दी है।

मृत्युपरान्त किये जाने वाले समस्त वैदिक कर्म–काण्डों का पूर्ण समर्थन किया है किन्तु इस अवसर पर ब्राह्मण भोज व मृतक भोज के नाम पर होने वाले व्यर्थ व्यय का निषेध कर मृतक आत्मा की शान्ति के लिए योग्य पात्रों को ही दान देने का निर्देशन किया है। इसी प्रकार श्राद्ध आदि की परम्परा का भी सांस्कृतिक व वैज्ञानिक विवेचन करते हुए कहा है कि अपने पितृ पुरुषों के श्राद्ध पर्व पर हम उनके श्रेष्ठ गुणों का चिन्तन करें तथा उनके द्वारा प्रवर्तित श्रेष्ठ परम्पराओं को पालना का संकल्प लें। चूंकि हमारा शरीर उन्हीं की अस्थि मज्जा तथा हमारे विचार उन्हीं के भावों व विचारों के विकसित रूप है अतः उनके प्रति हम सम्पूर्णमना कृतज्ञता ज्ञापित करें, यह हमारा परम कर्त्तव्य है। इस प्रकार इस अध्याय में हमारे षोडश संस्कारों को सर्वथा नवीन एवं वैज्ञानिक रूप में प्रस्तावित कर स्मृतिकार ने अपनी युगोचित स्मृति–प्रतिभा का परिचय दिया है।

☐ ☐ पंचम अध्याय

यह अध्याय इस स्मृति का अन्तिम अध्याय है और इसमें देश के राज धर्म और अर्थ व्यवस्था का शास्त्रीय विधि से सम्यक् विवेचन किया गया है।

सर्व प्रथम देश की नवीन शासन व्यवस्था जनतंत्र के स्वस्थ स्वरूप का वर्णन कर उसमें प्रविष्ट हो सकने वाले अवगुणों के प्रति सजग रहने की चेतावनी दी है। इस शासन व्यवस्था के अन्तर्गत नेताओं का चरित्र कैसा होना चाहिए जनता निर्वाचन के समय किस प्रकार के जन नायक के चयन में अपने मतों का उपयोग करे, तथा जनतान्त्रिक शासन पद्धति में सामान्य जन के अधिकार और कर्त्तव्य क्या क्या हैं ? व उनका उपयोग, वे नागरिक कैसे करें ? आदि का निरूपण किया गया है।

संसद् के दोनों सदनों–लोक सभा व राज्य सभा का स्वरूप तथा कार्य आदि का वर्णन कर उसकी सर्व प्रभु सत्ता तथा कार्यपालिका और न्यायपालिका से उसके सम्बन्धों को बताया गया है।

राष्ट्राध्यक्ष प्रधानमंत्री तथा अन्य मंत्रियो के अधिकारों एव कर्त्तव्यों के साथ उन पदों पर नियोजित व चयनित व्यक्तियों के चरित्र का अति उज्जवल होना अनिवार्य माना है । इसके लिए हमारे प्राचीन जनप्रिय नरेशों–राम, युधिष्ठर तथा विक्रमादित्य व अशोक आदि का चरित्र प्रस्तुत किया है ।

प्रशासनिक अधिकारियों में भ्रष्टाचार न पनपे, एतदर्थ नेताओं का उच्च अधिकारियों पर दृढ़ नियंत्रण आवश्यक माना है । धनपति अपनी स्वार्थवृत्ति के कारण धन का एकत्रीकरण न करे एतदर्थ अर्थ नियंत्रण समिति का गठन किया जावे जो सम्पूर्ण देश की अर्थव्यवस्था का सतत अंकन व वीक्षण करती रहे ।

अन्त में इस स्मृति की अपनी सर्वथा मौलिक कल्पना है राजदूत नियुक्ति । चूंकि राजदूत किसी देश के सच्चे प्रतिनिधि होते हैं अतः इनकी नियुक्ति मे विशेष सावधानी बर्तनी आवश्यक मानी है । किसी भी देश में भारत को अपना राजदूत भेजते समय उसमें अन्य अपेक्षित योग्यताओं के साथ उसका संस्कृत भाषाविद् तथा भारतीय संस्कृति और सभ्यता का पूर्ण ज्ञाता होने के साथ उसके प्रति पूर्ण श्रद्धालु होना भी आवश्यक माना जाये । उसकी दिनचर्या प्राचीन देश की गरिमा लिए हुए होनी चाहिए, उसके समस्त व्यवहार और आचरण मे भारतीयता की स्पष्ट छाया प्रतिभासित होनी आवश्यक है ।

इस प्रकार श्री शास्त्री ने अपने इस पंच अध्यायों मे परि समाप्य नव भारत स्मृति को देश की नवीन युगीय आवश्यताओं के अनुरूप व्यवस्थाएँ प्रदान करने में एक युगोपयोगी आवश्यकता की सम्पूर्ति की है ।

□ □ निष्कर्ष

पूर्व पृष्ठों में हमने देखा कि 'नवभारत स्मृति इस युग की एक महती आवश्यकता को पूर्ति करती है । प्रत्येक युग की अपनी कुछ विशिष्ट नवीन मान्यताएं हुआ करती हैं और उनके अनुसार ही समाज की व्यवस्थाओं मे सदा परिवर्तन होता रहता है । यदि कोई समाज अथवा जाति अपने सगठन के स्वरूप में समयानुकूल परिवर्तन व परिवर्धन करती है तो उसकी जीवनी शक्ति समाप्त हो जाती है, विपरीत

जिस जाति अथवा धर्म में युग सत्य को स्वीकार करने की क्षमता होती है वह सदा प्रभविष्णु एवं अजेय रहता है । युगानुरूप स्वरूप परिवर्तन भारतीय समाज का सहज धर्म है और इसीलिए यह आज भी अपने तेजस्वी रूप मे विद्यमान है । अतः ऐसे समाज की शाश्वत परम्परा के अनुसार ही उपर्युक्त स्मृति की रचना को हम युग की आवश्यकता स्वीकार करते हुए इसमें प्रतिपादित समाज व्यवस्था का स्वागत करते है ।

(ख) सूत्र साहित्य

☐ ☐ विकास परम्परा

श्रुति काल के पश्चात् और स्मृतियों के पूर्व संस्कृत में सूत्र-साहित्य सर्वाधिक रूप मे सर्जित हुआ । उस समय मानवधर्म-सूत्र, आपस्तव धर्म-सूत्र तथा गृह्य सूत्र प्रभृति अनेक सूत्र-ग्रन्थो का प्रणयण हुआ, जिनको अन्त मे स्मृतियो में परिणित किया गया । धर्म-सूत्रो के अतिरिक्त जैमिनी तथा बादरायण ने पूर्व-मीमांसा तथा उत्तर मीमासा के रूप में वेदान्त के सूत्रों का निर्माण किया । इसी परम्परा में सांख्य और न्याय सूत्र भी आते है । व्याकरण तो प्रथम ही पाणिनीय सूत्रादि में विकसित हो चुका था । वामनादि आलकारिको ने भी सूत्रों की रचना की । इस रीति से अर्थात सूत्र-पद्धति से संक्षेप मे ही शास्त्रों के समस्त रहस्यों को प्रकाशित करने का प्रयत्न हुआ था । सूत्र-साहित्य संस्कृत भाषा की सर्वोपरि निधि है । आगे चल कर इन सूत्रों पर अनेक भाष्य लिखे गये । भारतीय दर्शनो की प्रत्येक शाखा मे अपने-अपने सिद्धान्त प्रतिपादनार्थ अनेकानेक सूत्र-ग्रन्थो का प्रणयन हुआ । सांख्य, न्याय, योग और वेदान्त आदि सभी चिन्तन-धाराओं के सूत्र-ग्रन्थ उपलब्ध हैं । प्राकृत भाषा में भी सूत्र साहित्य पर्याप्त मात्रा में रचा गया है किन्तु सिद्धान्त प्रतिपादन की सक्षिप्त और महत्वपूर्ण इस प्रणाली मे गत सात सौ वर्षों मे कोई विशेष प्रगति परिलक्षित नहीं होती ।

☐ ☐ वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सूत्र साहित्य की उपयोगिता

आज के युग मे ज्ञान विज्ञान का क्षेत्र इतना व्यापक हो गया है कि

बड़े-बड़े ग्रन्थों मे उनके प्रकाशित होने पर भी प्रत्येक के लिये उनका पारायण यथाशः मे भी सम्भव नही। ऐसी स्थिति में संकेत रूप में इस विपुल ज्ञान-राशि का प्रकाशन सूत्र रूप में सम्पादित करना एक प्रकार से युग की माग है। श्रीयुत् विद्याधर शास्त्री ने इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये तथा प्राचीन शास्त्रीय सिद्धान्तों को वैज्ञानिक रूप मे नवीन रीति से प्रतिपादित करने के लिये संस्कृति, धर्म, अर्थ, काम और मोक्षादि के अतिरिक्त साहित्य, दर्शन, राजनीति एवं स्वास्थ्य आदि विषयो पर भी विपुल सूत्र साहित्य का निर्माण किया है। इनके द्वारा रचित लगभग एक सहस्र सूत्र है, जो अभिनव संस्कृत साहित्य के गौरव को विभासित करते हैं। अग्रांकित पंक्तियों मे कुछेक शीर्षकों में इनके सूत्र-साहित्य का परिचय प्रस्तुत है—

□ □ साहित्य विषयक सूत्र

साहित्य विषयक सूत्रो मे आपने साहित्यिक प्रवृत्तियो के विकास के हेतुओ के साथ-साथ प्राचीन और अर्वाचीन साहित्यिक मान्यताओ को जिस समन्वित रूप मे निबद्ध कर प्रकाशित किया है, वह तो अपने आप मे अद्वितीय है ही, किन्तु इसके साथ ही विषय प्रस्तुति की क्रमबद्धता एवं साहित्यिक तत्वों का सुन्दर स्पष्टीकरण भी कम दर्शनीय नही है। प्राचीन साहित्य-समीक्षकों ने व्यक्त शब्द और उसके अर्थ को लेकर ही काव्य लक्षणो का निरूपण किया है किन्तु श्री शास्त्री जी शब्द की व्यक्त सत्ता के पूर्व उनकी अव्यक्त अवस्था को भी प्रतिपादित करते हैं :—

सनातनी वाक् संकृति अव्यक्ता—

[विद्याधर सूत्राणि ९]

वाणी में अपनी एक अव्यक्त संकृति होती है, वह सदा चलती रहती है। यही सनातनी व शाश्वत-रूपा है तथा यही दिव्य संकृति साहित्य में मधुररूपा है।

दिव्यस्वरभावमधुरा सा साहित्ये।

[वि. सू. ११

इतर विद्वानो के मतानुसार जहां शब्द और अर्थ एक, सम्पादन करते रहते हैं, उनको साहित्य कहते हैं। [illegible]

स्मृति व सूत्र साहित्य . .

ने साहित्य शब्द को परिभाषित करते हुए कहा है कि 'श्रोता और वक्ता दोनों के भावों का जब पारस्परिक एकीभाव हो जाता है, उस समय साहित्य की उद्भूति होती है।

श्रोतृ-वक्तृभाव साहितो साहित्यम्।

[वि. सू. १५]

इस साहित्य की उद्भूति उस समय होती है, जब चेतन और अचेतन का संसर्ग होकर एक नई भावमयी सौन्दर्य-चेतना की उद्भूति होती है।

चेतनाचेतनयोर्वाऽकस्मिकः संसर्गः समुद्भावयति नवां भावमयीं साहित्यजननीं सौन्दर्यचेतनाम्॥

[वि. सू. २१]

कुछ स्थलों पर भावों को उत्तेजित कर देने वाली स्थितियों के उद्भव में दो वस्तुओं के संगम को ही साहित्य की संज्ञा दे दी गई है—

यथा—'चेतनाचेतन-संसर्ग-भाव जागृतिरपि साहित्यम्'

[वि. सू. ३५]

इस सूत्र के अनुसार साहित्योद्भूति चेतन और अचेतन के आकस्मिक सम्पर्क से होती है। इसमें स्रष्टा किसी चेतन-अचेतन यथा— विशाल पर्वत, रम्यवनस्थली अथवा किसी नदी को देखते ही प्रभावित हो कर गुनगुनाने लग जाता है, तब साहित्योद्भूति का अवसर आता है।

यह परिस्थिति केवल चेतन और अचेतन के सम्पर्क में ही नहीं, अपितु कभी-कभी दो चेतन भी आमने-सामने आते हैं तो चेतन द्रष्टा दृश्य रूप में सम्मुखागत परम सुन्दर आकृति को देख कर उससे प्रभावित हो जाता है अथवा उसकी बात पर मोहित हो जाता है तो साहित्योद्भूति के क्षण स्फुरित हो जाते हैं। अतः श्री शास्त्री जी उपर्युक्त सूत्र के पूरक रूप में कहते हैं—

'तथैव चेतनयोः'

[वि. सू. ४०]

□ □ काव्यविषयक सूत्र

वैदिक काव्य दृष्टि के अनुसार यह विश्व एक ऐसा प्राचीनतम काव्य

है, जो नित्य नवीन है एवं जिसमें प्रतिक्षण नवनव भावों का अभ्युदय होता रहता है—

काव्यंपुरातनमिदं नवमेव नित्यं
स्पन्दो नवोऽभिनवैव च यत्र बोधः

[वि सू. ५५]

किन्तु पाश्चात्य सहित्य-शास्त्रियों के भावों से भावित श्री शास्त्रीजी का काव्य विषयक सूत्र भी द्रष्टव्य है :—

'सदनुभुति प्रकाशकः सद्य सद्भाव-प्रेरकः,
वचनान्तर्गत संगति सम्पन्नो भावः काव्यम्

[वि. सू. ७०]

जब कोई व्यक्ति किसी प्रबल अनुभूति से प्रेरित होकर उसको व्यक्त करने के लिए विवश हो जाता है अथवा जब किसी सद्भाव को प्रकाशित करने के लिए विशेष रूप से उसके आन्तरिक भाव किसी गति के रूप में अपने आप संगीतमयी गति मे आ जाते हैं, उस समय के भाव ही काव्य के जनक होते हैं।

अलंकार-ग्रन्थो में सौन्दर्य-तत्त्व का विवेचन नही मिलता किन्तु हमारे सूत्रकार ने उस तत्त्व पर गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत किया है । उनकी दृष्टि मे सौन्दर्य प्राकृतिक, बौद्धिक व हार्दिक होता है । वह सम्पूर्ण वस्तुओं तथा भावों मे अनुप्रोत रहता है और उन वस्तुओं में एक नया प्रकाश प्रदीप्त होता है—
प्राकृतिकं बौद्धिकं हार्दिकं च सर्व वस्तुगतं सर्वभावानुप्रोतं नव प्रकाश भासकं सौन्दर्यम्'

[वि. सू. ८०]

अथवा जिसके द्वारा आनन्द की अनुभूति का स्फुरण होता हो, वहाँ भी सौन्दर्य की अनुभूति हो जाती है । अपनी आत्मा के विकास को भी सौन्दर्य कह सकते हैं—

स्वात्मविकास एव वा सौन्दर्यम्

[वि. सू. ९५]

यह सौन्दर्य सात्विकों का सात्विक और तामस जनों का तामस होता है—

"सात्विकानां तत् सात्विकं, तामसं च तामसानाम्"

[वि. सू. १०५]

सत्कवि सौन्दर्य को और भी चमका देता है—

"विद्योदयति सौन्दर्यं सत्कविः" —

[वि. सू. ११५ [

शैली का स्वरूप-चित्रण संस्कृत साहित्य में सर्वथा नया है। प्राचीन समीक्षक इस ओर उदासीन रहे हैं। अतः शैली को परिभाषित करते हुए श्री शास्त्री जी कहते हैं—यह सरस, सगुण वाक्य योजना जो मनोनुग्राह्य तथा विविध भाव बोधिका लक्षणा शक्ति से युक्त हो, ऐसी वाक्य योजना शैली है—

तत्तद् भावोद्बोध लक्षणा मनोनुग्राह्या
सगुणा सरसा च वाक्य योजना शैली।

[वि. सू. १३५]

इसी प्रकार स्वरों के आरोह-अवरोह आघात, प्रत्याघात विषयक सूत्र भी अभिनव संस्कृति के लिए ही नहीं अपितु प्राचीन वाङ्मय को भी श्री शास्त्री जी की अनुपम देन है—

भावानुगतः स्वराघातः

[वि. सू. १५०]

अर्थात् जैसा जिसका भाव होगा, उसी के अनुसार अक्षरों पर भी जोर पड़ता है। औदार्य तत्त्व की विवेचना भी प्राचीन लक्षण ग्रन्थों में नहीं मिलती, अतः औदार्य अनुभूति के लिए यह परम आवश्यक है कि अभिव्यंजनक्रम में कहीं पर भी भावों की स्खलिति न हो, भाव कहीं पर भी गिरते हुए व कमजोर प्रतीत न हो—

सर्वेषामपि यत्रैषां यथास्थानं स्थिति स्थिराः।
स्वतन्त्रं समुद्भाति तत्त्वमौदार्यमुत्तमम्

[वि. सू. १७६]

□ भारतीय संस्कृति विषयक सूत्र □

साहित्यिक सूत्रों से कहीं अधिक भारतीय संस्कृति विषयक सूत्र हैं :—

आपकी दृष्टि में भिन्न-भिन्न देशों और कालों के प्रभाव से उद्भावित सी किन्तु स्थिर सी प्रतीत होती हुई कोई एक सामाजिक स्थिति ही संस्कृति है—

तत्तद्देशः कालादि प्रभावोद्भाविता शाश्वतीह काचित्
सामाजिकी स्थितिः संस्कृति ।

[वि. सू. २०२]

भारतीय संस्कृति स्वरूप चित्रण को सूत्रांकित करते हुए श्री शास्त्रीजी कहते हैं—भारतीय संस्कृति स्वभाव से सत्य, सनातन और सौम्य के वैभव से सम्पन्न है—

"स्वभावेन सत्यं, सनातनं, सौम्यं, शिवं भारतीयं, सांस्कृतिकमैश्वम्"

[वि. सू. २१५]

अपने इस सनातन शिव-स्वरूप वैभव के कारण ही यह तीनों कालों में स्थिर रहती हुई सम्पूर्ण विश्व की हित कामना करती हुई केवल पार्थिव आवश्यकताओं की पूर्ति में अपने चिन्तन को समाप्त न कर समस्त लोकों में व्याप्त आत्मविकासादि पर भी ध्यान देती है—

'त्रिकालवर्तिनी, त्रिभुवनव्यापिनी निखिलविश्वहितैषिणीयं संस्कृति भारतीया'

[वि. सू. २५]

यह संस्कृति चतुर्वर्ग - पोषिणी है और उनमें धर्म प्रथम है—

"यतः ऐहिकामुष्मिक सर्वार्थसिद्धिः स धर्मः"

[वि. सू. २५०]

धर्म के व्यापक स्वरूप को समझना भी आवश्यक है । इसे समझने के लिए भारतीय जीवन के व्यापक स्वरूप को समझना होगा । भारतीय

जीवन की तीन स्थितियों में विभु का ही व्यापक स्वरूप अवस्थित है—

"विभुस्वरूपं बिभर्ति त्रिविधम्–आधिदैविकं अधिभौतिकं आध्यात्मिकं च जीवनम्"

[वि. सू. २९५]

□ □ अर्थ-परक सूत्र

भारतीय संस्कृति के सम्यक् विवेचन के लिए उसका आर्थिक दृष्टि से पर्यवेक्षण भी आवश्यक है। इस दृष्टि का निरूपण श्री शास्त्रीजी ने वैदिक-औपनिषादिक एवं अधुनातन वैज्ञानिक रीति से विभासित किया है। अर्थ की परिभाषा करते हुए वे कहते हैं कि अपनी और दूसरे की प्रत्येक इच्छा की जिस वस्तु विशेष से पूर्ति होती है, वह वस्तु अर्थ ही है—

"स्वेच्छा परेच्छा परिपूरकं द्रव्यं अर्थः"

[वि. सू. २७०]

अर्थ को उत्पन्न करने वाली तीन प्रकार की शक्तियां अभिनव सूत्रकार ने मानी हैं—

त्रिविधेयं अर्थ जननी योग शक्तिः वैयक्तिकी, सामाजिकी, पारमेश्वरी चः

[वि. सू. २८०]

इन शक्तियों का विकास उस समय अवरुद्ध हो जाता है, जब इनके प्रवाह में स्वार्थ प्रवृत्ति आजाती है—

एकत्रावरुद्धोऽर्थप्रथा द्रुतमर्थायतिलता–अर्थप्रणालोहः'

[वि. सू. २९०]

इस अर्थ-प्रक्रिया के सूत्रकार ने सात प्रकार माने हैं—

अपेक्ष्यते, समुत्पाद्यते, सम्पुज्यते, भुज्यते, विकीर्यते, संयोह्यते पुनरपि भुज्यते च सप्तविधि निरितार्थ प्रक्रिया।

[वि. सू. ३००]

धर्म और राजनीति का गहरा सम्बन्ध है। प्राचीन काल में तो धर्मनीति और राजनीति का एक ही पर्याय था किन्तु अब इसका अलग अस्तित्व है और वह भी बड़ा महत्वपूर्ण। श्री शास्त्रीजी ने अभ्युदयोन्मुखी प्रवाह व प्रवृत्ति को ही राजनीति माना है।

"अभ्युदयोन्मुखी गति प्रवृत्ति राजनीतिः"

[वि. सू. ३२९]

यह राजनीति तीन प्रकार की है—

आत्मोदय—राष्ट्रोदय सर्वोदयानिलाविषो च सा त्रिविधा"

[वि. सू. ३३०]

□ □ दर्शन विषयक सूत्र

श्री शास्त्रीजी दर्शन के गम्भीर अध्येता के रूप में विख्यात हैं। अतः इनकी दर्शन विषयक मान्यताएं तथा उनकी अभिव्यंजनाएं द्रष्टव्य हैं-इस सम्पूर्ण विश्व में एक ही तत्त्व है, जिससे यह सम्पूर्ण विश्व विनिर्मित है:-

"तत्तत्त्वमेकमनेकधाः"

[वि. सू. ४००]

विश्व के इस मुख्य तत्त्व के विषय में भारतीय दर्शन में बहुत अधिक मत-भेद हैं। इस तत्त्व के अस्तित्व की मान्यता को लेकर भारतीय दार्शनिक आस्तिक और नास्तिक इन दो श्रेणियों में विभक्त हो गया है किन्तु श्री शास्त्री जी ने ब्रह्म का जो लक्षण किया है, उसमें ब्रह्म विषयक मान्यताओं का अद्वितीय समन्वय है:-

आप की दृष्टि में ब्रह्म वह सनातन तत्त्व है, जो चेतन और अचेतन हर प्रकार के विकास का आश्रय है तथा हर प्रकार की व्यष्टि और समष्टि में विद्यमान है। वह व्यक्त भी है और अव्यक्त भी। वह सत्य [illegible] और आनन्दघन है—

चेतनाचेतनात्मक सर्वविकासावलम्बं [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] तत्त्वं ब्रह्म"

[वि. सू. [illegible]]

इस प्रकार इस लक्षण में जो [illegible] [illegible] हैं [illegible] ब्रह्म [illegible] के अन्तर्गत आ जाता है।

माया—[illegible] माया"

[वि. सू. [illegible]]

माया को परिभाषित करते हुए श्री शास्त्रीजी की मान्यता है कि जिस शक्ति के कारण यह जगत् मिथ्या प्रतीत होता है, वह भी माया ही है–

"जगन्मिथ्या प्रतीति र्माया"

[वि. सू. ४४५]

ईश्वर—ब्रह्म की वह चेतन अवस्था जो केवल शुद्ध सत्व से युक्त होती है, ईश्वर है—

केवलं शुद्धसत्त्वानुवृत्तं सक्रियं च चेतनं ब्रह्म ईश्वरः'

[वि. सू. ४६०]

अहंकार—इसी प्रकार अहंकार को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं कि व्यापक दृष्टिकोण का अभाव ही अहंकार है –

विभुदृ'ष्टिवंकल्यं अहंकारः"

[वि. सू. ४८०]

अहंभाव का यदि हम विश्लेषण करें तो यही पाते है कि रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि की जो संश्लेषण अनुभूति है, वही अहं है और इसी अहं का विश्लेषण करें तो यह पाचों तन्मात्राओं से विश्लिष्ट हो जाता है—

विभवतो अहं भावरेवाभिव्यक्ति तान् तान् तन्मात्रान्'

[वि. सू. ५००]

किन्तु इन सब के साथ ही श्री शास्त्रीजी केवल कल्पनालोक में विहार करने वाले दार्शनिक नहीं हैं। उनके पैर धरती पर है, अतः प्रथम वे इस जीवन के अभ्युदय की कामना करते हैं। उनका मत है कि बिना ऐहिक अभ्युदय के निःश्रेयस का अभ्युदय नहीं हो सकता। जब तक मनुष्य अपने दैनिक जीवन की आवश्यकताओं से मुक्त नहीं होता, तब तक न तो उसको मोक्ष की ही कामना है और न ही किसी प्रकार के अभ्युदय की—

ऐहिकाभ्युदयापेक्षी निःश्रेयसाभ्युदयः'

[वि. सू. ५६१]

इसीलिए श्री शास्त्री जी ने ऐहिक जीवन के विकासार्थ भी जीवन के विविध पक्षों व आयामों के सुष्टु सम्पादनार्थ स्वास्थ्य, नीति एवं इसी प्रकार के अन्यान्य विषयों पर भी अनेकानेक सूत्रों की रचना की है।

□ □ □

समीक्षात्मक परिचय प्रस्तुत किया गया है उससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि श्री शास्त्री की प्रणयन क्षमता साहित्य की किसी एक विधा विशेष तक ही सीमित नहीं है अपितु इनकी प्रज्ञा साहित्य की प्रायः सभी विधाओं मे समान रूप से प्रस्फुटित हुई है। दो महाकाव्य, सात लघु खण्ड काव्य, तीन वृहद नाटक, तीन स्तवन काव्य कृतियां, एक चम्पू काव्य तथा एक एक स्मृति तथा नीति रचना तथा बहु सख्या मे विविध विषयक सूत्रों की रचना के साथ प्रकीर्ण मुक्तकों की सख्या भी विपुल हैं। साथ ही हिन्दी और राजस्थानी मे लघु निबन्ध एव सामयिक संक्षिप्त सम्पादकीय तथा दार्शनिक लेखादि भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। चन्द्रमा विषयक आपके शोधपूर्ण निबन्ध एव रेडियो वार्ताओं का महत्व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विज्ञान जगत मे स्वीकार किया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस प्राज्ञ पुरुष के पास प्राचीन एवं अर्वाचीन का सुपरिक्षित व सुनियोजित अगाध ज्ञान अपूर्व भाव राशि तथा अनुभव का अनुपम एव अक्षर भण्डार था जिस पर हमारे सम्कृत जगत् को पूर्ण गर्व है।

काव्य शैली मे आपके काव्यों को किसी सामान्य कोटि में रखने पर यह निःसंकोच मानस से कहा जा सकता है कि इन काव्यों का कवियता कवि अपने काव्य से पाठकों के हृदयों में भारतीय संस्कृति, राष्ट्र प्रेम तथा अन्य मानवोचित भावो को पूर्ण उत्प्रेरण-क्षमता रखता है। इनके साथ ही अपने आदर्श स्वरूप की रक्षा करते हुए जहां जिस किसी घटना व परिस्थिति विशेष का यथा तथ्य चित्रण की आवश्यकता अनुभव हुई, हमारे रचनाकार ने पूर्ण स्पष्टता व निःसकोच भाव से यथार्थ चित्रण किया है। इस प्रकार यथार्थ समन्वित आदर्शोन्मुखी रचना शिल्प कौशल इनकी अपनी विशेषता रही।

भाव व कला इन दोनों ही साहित्यिक अंकन के उपादानों का सुन्दर निर्वहन आपकी रचनाओं में पाते हैं। यदि कवि के भाव सशक्त हों किन्तु अभिव्यक्ति शिथिल तो भावों की भव्यता समाप्त हो जाती है एव दूसरी ओर यदि व्यञ्जना मे तो ओज व प्रवाह हो किन्तु भावों की गांभीर्यता अभाव है तो वह रचना भी अपना कोई स्थाई मूल्य नहीं रखती। हम देखते हैं कि हमारे आलोच्य कवि की रचनाओं में भाव और व्यञ्जना दोनों ही पूर्ण उत्कर्ष स्थिति में है इनमें किंचित् मात्र भी अनिरजना नहीं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि श्री शास्त्री के काव्य की आत्मा

बलवान तथा शरीर यष्टि सशक्त, सुन्दर तथा रमनीय है। जिस प्रकार शान्त रस जैसे विशिष्ठ रस की निष्पति समस्त कृतियों में पूर्ण सफलता के साथ हुई है उसी प्रकार वीर और करुण का निष्पादन भी समस्त कृतियों में मिलता है। इसके साथ ही मर्यादित शृंगार व्यंजना भी कम दृष्टव्य नही है। अनेक अवसर होने पर भी कही पर उच्छृंखल एवं उद्दाम यौन वृत्ति ढूढ़ने पर भी नही मिलती। प्रत्येक कृति की वस्तु सम्वाद योजना का विकास अपने आप मे पूर्ण है।

इसके साथ ही कवि की प्रकृति पर्यवेक्षण शक्ति भी अपूर्व व अति सूक्ष्म है। प्रकृति के बाह्य और आभ्यान्तर दोनों ही स्वरूपों के परिशाकन में श्री शास्त्री को पूर्ण सफलता मिली है। विशद अध्ययन के फलस्वरूप जीवन का अथाह अनुभव इस कवि के पास रहा। शब्दो की विशाल राशि इनके भावों की सहचरी व अनुचरी है तथा छन्द व अलंकार कविता में स्वतः ही अपने लिए उपयुक्त स्थान का चयन कर आसीन है। यह सब कवि पर वीणा पुस्तक धारिणी मा वरदा की असीम अनुकम्पा का फल था जिसकी सतत साधना मे इस मनस्वी मनीषि का सम्पूर्ण जीवन सर्वात्म भावेन समर्पित रहा।

पद्य के समान ही आपका गद्य भी उत्कृष्ट कोटि का है। गद्य में भाषण और सम्वाद आदि में भाषा का रूप पूर्णतया प्रसादात्मक है। भावों की स्पष्ट एवं सहज अभिव्यक्ति शास्त्रीजी का अभिव्यंजन कौशल अपूर्व छटा लिए है। अनेक स्थलो पर आपकी व्याख्यान शैली विशेष रूप से प्रभावोत्पादक है। आवश्यक दृश्यों एवं प्रसगों के वर्णन में समस्त पदो का भी सुन्दर संयोग दृष्टव्य है।

नाटकों के पात्र किसी विषय के वर्णन मे व्यर्थ विस्तार न कर छोटे-छोटे वाक्यों मे अपने भावों को अभिव्यक्त करते हैं और अनेक स्थलों मे आपके नाटकों के अनेक दृश्यों की योजना साधारण रंगमचों की अपेक्षा वैज्ञानिक उपकरणों से सुसज्जित है तथा चित्रपट के रंगमंच की अपेक्षा रखती है। पूर्णानन्दम् मे अनेक स्त्री पात्रो का भी सुन्दर विकास हुआ है। "कलिदैन्यम्" के स्त्री पात्र केवल कलि के सहायक सुरा तथा कुटिल नीति के रूप में ही आते हैं। "दुर्बल बलम्" मे भी माधो की पत्नी पार्वती के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री पात्र का प्रयोग नही किया गया है। कलि दैन्यम् मे राजा परिक्षित के जीवन को एक आदर्श भारतीय

शासक के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

प्रकीर्ण काव्य कृतियों में अनेक अवसरों पर अनेक प्रकार के पद्यों का उद्भाव है तथा इनमें ऋतुओं तथा चन्द्रोदय आदि प्राकृतिक वर्णनों एवं महापुरुषों के जीवन आदि का उद्घाटन है। तर्क विश्वास और शाश्वती काव्य धारा आदि में साहित्यिक भावों का उद्रेक हुआ है। शास्त्रीजी के समग्र वाङ्मय में काव्य विकास की उत्तम रूपरेखा विद्यमान है।

भाव और कला पक्ष के साथ ही आपका चिन्तन पक्ष भी कम उदात्त नहीं है। वस्तुतः प्राचीन चिन्तन की व्याख्या नवीन परिप्रेक्ष्य में श्री शास्त्री जी ने जिस वैदुष्य के साथ प्रस्तुत की है वह प्रशंसनीय है। आपकी प्रत्येक कृति में भावों व विचारों का विकास तथा गांभीर्य एवं अनुभवों का प्राचुर्य है। भिन्न भिन्न कृतियों की रचना पृष्ठभूमि व विषय भिन्न होते हुए भी सब के मूल में वही एक प्रमुख प्रेरक तत्व है जिसकी अखण्ड सत्ता इस सम्पूर्ण जगत में सर्वत्र परिव्याप्त है। सभी कृतियों में इसी एक अखण्ड सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापनार्थ भारतीय संस्कृति की प्रेरणा से प्रेरित दिव्य व पवित्र जीवन की कामना व आदर्शोन्मुख जीवन दर्शन की उपलब्धि का प्रयास है। 'कविरेव प्रजापति' के अनुसार हमारा कवि नूतन सर्जन व नूतन चिन्तन का स्रष्टा तो है किन्तु वंशानुगत श्रेष्ठ संस्कार एवं जीवन पर्यन्त शिक्षक रहने के कारण कवि जन सुलभ स्वच्छन्द वृत्ति कहीं पर भी इन पर हावी नहीं हुई, सभी कृतियों में अपने गंभीर व उदात्त स्वभाव तथा दार्शनिक मन की गरिमा तो बनाए हुए हैं। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि हमारा कवि, कवि तो है किन्तु पुरुषार्थ, प्रदर्शन की प्रेरणा देने वाला, एक आचार्य, एक दार्शनिक तथा युग का दिशाबोधक स्रष्टा है।

श्री शास्त्री भारत और भारतीयता के प्रबल पक्षधर एवं सशक्त समर्थक थे। भारतीय वाङ्मय की समस्त मान्यताओं का सम्यक् ज्ञान इनके साहित्य में प्रतिभासित होता है आपका साहित्य किसी एक वर्ग विशेष के लिए नहीं अपितु सार्वजनिक उपयोगिता रखता है। सर्वोदय की भावना ही इनके सर्जन के सत्व का पाथेय है महान् जीवन के महान् सत्यों की उदात्तता तथा उनके आदर्श आचरण की विभावना ही उनकी रचना का शृंगार है। इस प्रकार शाश्वत सत्यों से अनुप्राणित होने के कारण श्री शास्त्री का वाङ्मय युगों तक की जीवनी शक्ति प्राणों में

साहित्यस्रष्टा श्री विद्याधर शास्त्री

समाहित किए हुए हैं। चाहे शताब्दियां बीतें, काल की निरवधि गति चलती रहे परन्तु श्री विद्याधर शास्त्री के चिन्तन प्रवाह की उपादेयता सदा बनी रहेगी इसमें किंचित मात्र भी सन्देह नहीं।

पूज्य शास्त्री जी के व्यापक सर्जन, सृष्टि व मूल्यांकन के विषय में मेरा गंभीर निवेदन है कि इस विद्वान ने जीवन के विविध पक्षों को जिस गंभीर परिष्कृत दृष्टि विशेष से देखा है उस रीति से ही यदि जीवन दर्शन विवेचन करने वाला साहित्य संस्कृत के अन्य विद्वानों द्वारा भी रचा जावे तो संस्कृत साहित्य एवं संस्कृत राष्ट्र का अभ्युदय अवश्य भावी है। यद्यपि मैंने अपने इस प्रबन्ध में इनकी समस्त रचनाओं के आलोचन का यथा शक्य प्रयत्न किया है किन्तु मुझे यह स्वीकार करने में किसी भी प्रकार का संकोच नहीं कि मैं अपनी स्वल्प विवेचन क्षमता, प्रबन्ध तथा समय की सीमा बन्धन के कारण सम्यक् रूप से समस्त पक्षों की समीक्षा नहीं कर पाया हूं, विशेष कर इनका दार्शनिक पक्ष इतना गहरा व उदात्त है कि इस दिशा की ओर यदि शोध अध्येता अभिमुख हो तो उन्हें चिन्तन के लिए पर्याप्त नवीन सामग्री उपलब्ध हो सकती है।

अन्त में श्रद्धेय शास्त्री जी के सद्भावों के साथ :—

लोके सदा भवतु संस्कृत जीवनं नः
श्रद्धामयं श्रुतिपरञ्च तपोऽभिपूतम् ।
निष्कामकर्मरतिभिः सकलार्थसिद्धिः
विश्वात्मतुष्टिरपि यत्र पदे पदे स्यात् ॥
[वि.प्र. ७६—७०]

—: शुभं भूयात् :—

संदर्भ तथा उत्प्रेरक ग्रन्थ

१.	आनन्दवर्द्धन	—	ध्वन्यालोकम्
२.	धनञ्जय	—	दश रूपकम्
३.	भरत	—	नाट्य शास्त्रम्
४.	भामह	—	काव्यालंकार
५.	मम्मट	—	काव्य प्रकाश
६	कालिदास	—	रघुवंश/अभिज्ञान शाकुन्तलम्
७.	के० राघवन्	—	आज का भारतीय साहित्य (संस्कृत)
८.	डा० बलदेव उपाध्याय	—	संस्कृत साहित्य का इतिहास
९.	डा० रामजी उपाध्याय	—	संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
१०.	वरदाचार्य	—	ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर
११.	एस० के० डे०	—	संस्कृत पोइटस्
१२	डा० बलदेव उपाध्याय	—	संस्कृत सुकवि समीक्षा
१३.	डा० ब्रह्मानन्द शर्मा	—	अभिनव रस मीमांसा/वस्त्वलंकार दर्शनम्
१४.	डा० ब्रह्मानन्द शर्मा	—	संस्कृत साहित्य में सादृश्य मूलक अलंकारों का विकास
१५.	डा० छविनाथ	—	चम्पूकाव्य का ऐतिहासिक अध्ययन
१६.	भर्तृहरि	—	नीति शतकम्
१७.	डा० परमानन्द शास्त्री	—	संस्कृत नीति काव्य का विकास
१८.	डा० परमानन्द सारस्वत	—	विद्याधर शास्त्री व्यक्ति-अभिव्यक्ति
१९.	श्री कांतिकिशोर भरतिया	–	संस्कृत नाटककार
२०.	डा० केशव मुसलगांवकर	—	संस्कृत महाकाव्य की परम्परा
२१	डा० गंगाधर भट्ट	—	संस्कृत काव्य में नीति तत्व
२२.	श्री तुलसीराम	—	चाणक्य नीति
२३.	डा० दशरथ ओझा	–	नाट्य समीक्षा
२४	डा० देवराज	—	आधुनिक समीक्षा
२५.	रमाकान्त त्रिपाठी	—	संस्कृत नाटक सिद्धान्त
२६	रामकृष्ण भारद्वाज	—	राजस्थान में संस्कृत साहित्य की खोज
२७.	डा० श्यामलाल	—	संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक
२८	पं० सूर्यनारायण व्यास	—	विश्वकवि कालिदास एक अध्ययन
	शोध पत्रिकाएं	—	विश्वम्भरा, भारती, संचारिणी, शारदा, राजस्थान भारती, सागरिका

——— • • • ———



डॉ० परमानन्द सारस्वत

- जन्म : 28 दिसम्बर, 1933 ई. चूरू (राजस्थान)
- शिक्षा : एम.ए., बी.एड, साहित्यरत्न, पी एच.डी.
- सर्जन :

प्रकाशित : 1. पदरश्मि
2. संस्कृत निर्देशिका
3. अभिनव संस्कृत साहित्य की विभिन्न विधाओं पर समीक्षात्मक अनेक निबन्ध कई शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित।

प्रकाश्य : 1. अमरवाणी के अभिनव नाटककार
2. राजस्थान के संस्कृत सर्जक
3. आधुनिक संस्कृत साहित्य की पूर्ववर्ती परम्परा
4. परिव्राजक (नाटक)

- संप्रति : राजस्थान शिक्षा विभाग में अध्यापक/शोध-अध्येता तथा प्रसिद्ध जैनागम 'भगवती सूत्र' के सांस्कृतिक अध्ययन की प्रायोजना में प्रवृत्त।